सनत्सुजातीयदर्शनम्

श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत 'शाङ्करभाष्य' एवं
'भाष्यार्थप्रभा' हिन्दीव्याख्यायुतम्

व्याख्याकारः
आचार्य पं. चित्तनारायणपाठकः
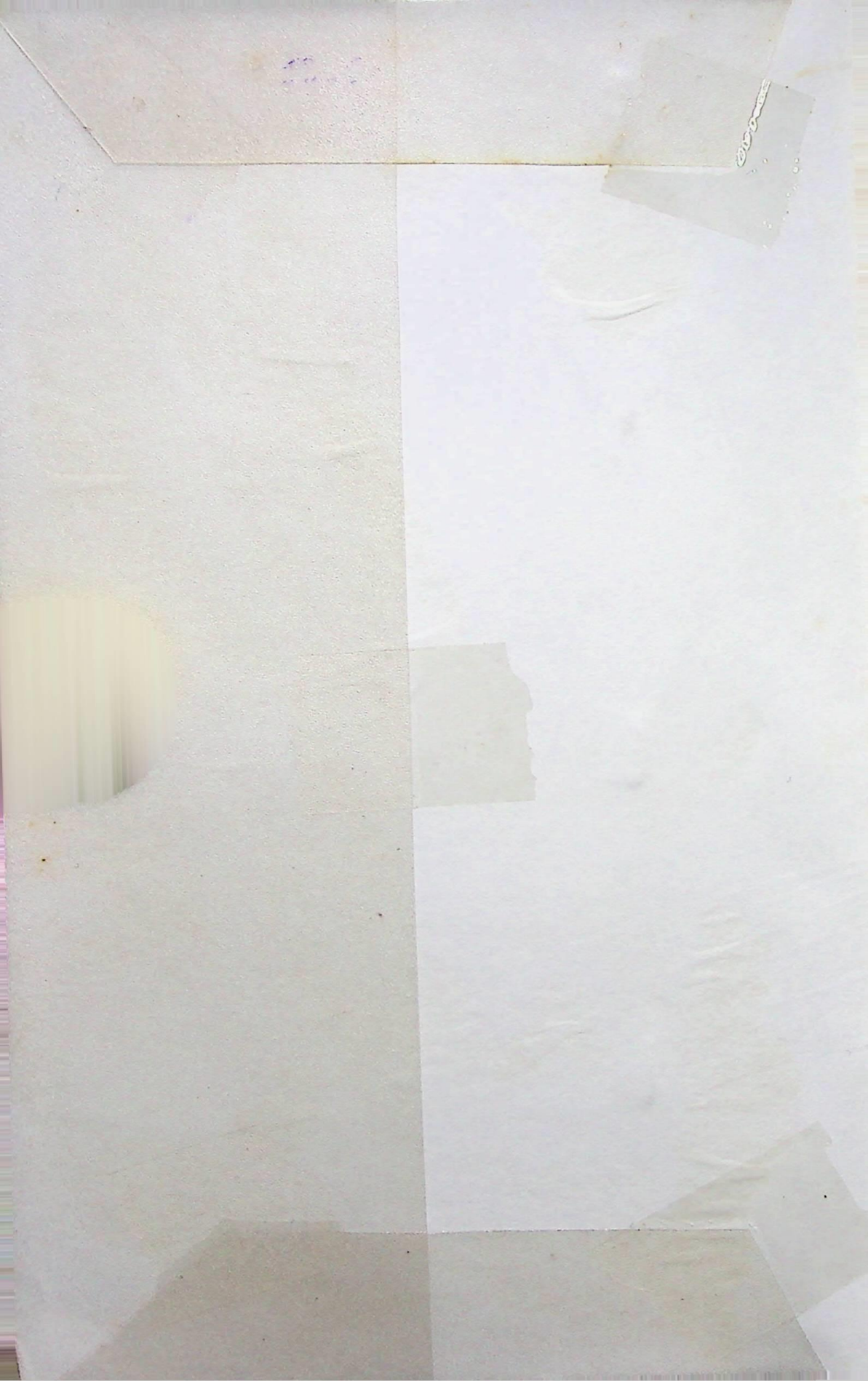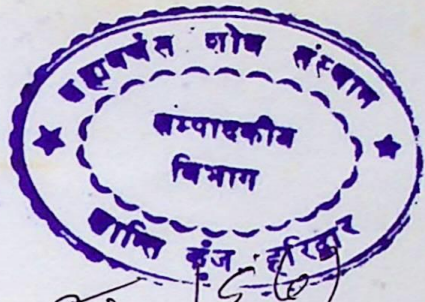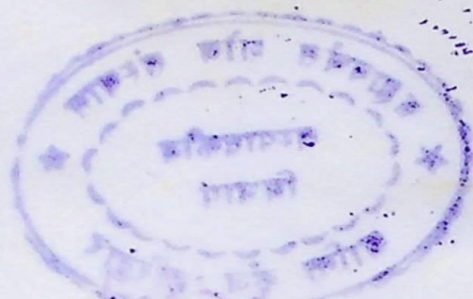
विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
२६४

सनत्सुजातीयदर्शनम्

श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत 'शाङ्करभाष्य' एवं
'भाष्यार्थप्रभा' हिन्दीव्याख्यायुतम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
आचार्य पं० चित्तनारायणपाठकः
प्राचार्यचरः
श्रीनिर्मलसंस्कृतमहाविद्यालयः
संगतलाहोरीटोला, वाराणसीस्थः

प्रकाशक :
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी-२२१००१

सनत्सुजातीयदर्शनम्

प्रकाशक :

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. १०६९, वाराणसी - २२१ ००१
दूरभाष : ०५४२-२४२०४०४
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

संस्करण 2015 ई०
मूल्य : ₹ २५०.०० (अजिल्द)

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

४६९७/२, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. २१-ए, ए. अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : ०११-२३२८६५३७

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. २११३, दिल्ली-११०००७
दूरभाष—०११-२३८५६३९१

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी-२२१००१
दूरभाष-०५४२-२३३५२६३

भाग १
दर्शनों का उद्देश्य

इस संसार में पारमेश्वरी मायाशक्ति की विलासस्वरूपा जगत्सृष्टि में विविधप्रकार के संसारसागर के आवर्तों से घिरे हुए, तथा निरन्तरकारागृह के समान अज्ञानाऽऽत्मक अपरिमितअगाधदु:खसमुद्र के भीतर मग्न हुए मनुष्याऽऽदिप्राणियों के लिए उससे निकलने के लिए परमेश्वर ने (दु:खमग्नव्याकुल जीवों के ऊपर अनुग्रह करने के उद्देश्य से परमेश्वर) साक्षात् रूप से, एवम् आवेशाऽऽदिस्वरूप अपने अंशरूप में अवतार धारण करके संसारसन्तरणोपायभूतदर्शनों का उपदेश परम्परया (संसारोद्विग्न जिज्ञासुमनुष्यों के सन्तरणाऽर्थ) किया करते हैं। ये सभी दर्शन विद्यास्थान के नाम से कहे जाते हैं। विद्या पुन: "सा विद्या या विमुक्तये" इत्यादिवचनों के अनुसार इस संसार से सम्बन्धमुक्त कराने वाली हुआ करती है। यद्यपि संसाराऽन्तर्गत प्रत्येक मायिक-अमायिकवस्तु का विद्याऽऽख्य तात्त्विकज्ञान उन-उन वस्तुओं के तदनुरूप उपयोगद्वारा दु:खनिवृत्ति, एवं सुखोपलब्धि के साधन न्याय-वैशेषिकाऽऽदिदर्शनों के अनुसार माने गये हैं, व्यावहारिक क्लेशों से मुक्ति के क्रम से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम अनात्मपदार्थों से भी विचारणा प्रस्तुत की गयी है, किन्तु वेदान्तदर्शन जो कि दर्शनों के मूर्धास्थान में अभिषिक्त होने से चरमनिश्चय का कारण है, उसके अनुसार सांसारिक वस्तुओं में दु:खनिवर्त्तनसाधनत्व, एवं सुखोत्पत्ति की हेतुता होने पर भी, वे दु:खनिवृत्ति, एवं उपलब्धसुख सोपाधिक होने के कारण, अर्थात् देश, काल, वस्तु से परिच्छिन्न होने से मनुष्यों के लिए वास्तविक पुरुषाऽर्थ नहीं हो सकते हैं, किन्तु पुरुषाऽर्थाऽऽभास की कोटी में ही उसकी गणना तत्त्वाऽन्वेषी जन किया करते हैं। अतएव गीताशास्त्र में कहा गया है—"आद्यन्तवन्त: कौन्तेय ! न तेषु रमते बुध:"। सांसारिक साधनों को उत्पत्तिमत्ता एवं विनाशवत्ता स्वरूप महान् दोष ग्रसित कर रखा है, जिससे वे परम अपावन कहे जाते हैं। इन साध्यों और साधनों को विषय करने के कारण ही उन-उन सांसारिक पुरुषाऽर्थसाधनों का यथाऽर्थ ज्ञान वेदान्त शास्त्र की दृष्टि से वास्तविक विद्या की कोटी में परिगणित होने के योग्य नहीं हुआ करता। इसी अभिप्राय से भगवान् श्री कृष्ण जी ने गीता में कहा है कि—"आब्रह्मभुवनाल्ँलोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन !" (हे अर्जुन स्थूलजगत् से चतुर्मुख ब्रह्माजी के धाम तक, समस्त वस्तुएँ चक्र के समान पुन: पुन: आवर्त्तनशील हैं। किन्तु जो मनुष्य जगद् दु:खाऽऽत्मक अनात्मलोक को पार करना चाहता है, इसके पार के लिए एक मात्र मार्ग (साधन) ब्रह्माऽऽत्मविषयक साक्षात्कार ही सर्वसम्मतरूप से मान्य है। जिसको लेकर श्रुति अपना मत इस प्रकार व्यक्त करती है। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनाऽन्य:पन्था विद्यतेऽयनाय" अर्थात् उसी ब्रह्म को अपने आत्मा के रूप में साक्षात्कार करके मनुष्य अपने शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों

के साथ अनादिकालिक भ्रमप्रयुक्त जो अनात्मतादात्म्य में बंधा प्राणी है, उससे ब्रह्मज्ञानी मुक्त हो जाता है, अन्य प्रकार से नहीं, अर्थात् कर्म उपासना आदि अन्य उपाय मनुष्यों के निःश्रेयस कारक नहीं हैं, किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि मात्र के हेतु हैं, मुक्ति की साधनता आत्मसाक्षात्कारमात्रनिष्ठहोने के कारण ही ''ब्रह्मविद् (वेद) ब्रह्मैव भवति'' इस श्रुति की संगति सिद्ध होती है।

यद्यपि मनुष्याऽऽदि जीवों के द्वारा सामान्यरूप से जो अनुभव किया जाता है उसे भी दर्शन नाम से कहा जाता है। तथाऽपि व्यावहारिक पदार्थों एवं पारमाऽर्थिक सूक्ष्मतत्त्वों का प्रमाणों एवं लक्षणों के आधार पर जो निश्चय करते हैं उन्हीं निश्चयों और उनके साधनों को दर्शन कहना प्रामाणिकों को मान्य है, अर्थात् जब बुद्धिमान् मनुष्य, पदार्थों को देखकर, उन पदार्थों का बाह्य एवम् आन्तरिक रूप से सहेतुक चिन्तन करके, जो उनके मूलस्वरूप में विद्यमान तात्त्विक स्वरूपों का अनुभव किया करता है, वही दर्शनशब्द के वाच्य रूप से कहे जाते हैं। उसको हम इस रूप में कह सकते हैं कि- हम कौन हैं ? हमारे जैसे दीखने वाले हमसे भिन्न लोग कौन हैं ? मेरे वास्तविक स्वरूप का अधिष्ठान कौन हैं ? चारों ओर फैला हुआ यह संसार कहाँ से आया है ? किस पर आश्रित है और कहाँ लीन हुआ करता है। क्या इस दृश्यमान संसार की उत्पत्ति अपने आप होती है ? या पुनः इस का उत्पादक कारण भी है?, इस प्रकार के विविध प्रश्नों का समाधान दार्शनिक विचारों में हमें मिलते है। चिन्तनपरायण मनुष्यों के समक्ष यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि उनके जीवन का लक्ष्य क्या है ? तथा सुख दुःखाऽऽदिद्वन्दों से छूटने के क्या उपाय हैं?, मानव शाश्वतिकशान्ति किस प्रकार प्राप्त कर सकता है?, इन सब प्रश्नों का समाधान हमें दार्शनिक धरातल पर ही प्राप्त होते हैं। अर्थात जीव, जगत् और परमेश्वर विषयिणी जिज्ञासा का साङ्गोपाङ्गसमाधान यदि कहीं पर हुआ है, तो वह एकमात्र दर्शनशास्त्र ही है, अन्य नहीं। दर्शनों के अनेक भेद हैं, क्योंकि उनके प्रतिपाद्यतत्त्व और फल आदि में अन्तर है, किन्तु जिस प्रकार भारत में एक ग्राम पंचायत की व्यवस्था से सम्बन्धित वस्तुविषयक निश्चय से लेकर उच्चतमन्यायालय तक के विचारों और विचार विषयों, तथा उन उन विषयों से सम्बन्धित विचारजनित सिद्धान्तों में, पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर न्यायालयों में विचार की परिपक्वता, एवं उससे उत्पन्न होने वाले निर्णयों की बलवत्ता विलक्षण विलक्षण रूप में अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार हमारे भारतीय दार्शनिक विचार और तज्जन्य निश्चय भी अपने-अपने उत्तरवर्त्ती विचारों और निर्णयों से तो दुर्बल, किन्तु अपने पूर्ववर्त्ती विचारों और विचार पर आधारित निश्चयों से सबल स्थिति में हुआ करते हैं। अतएव प्रामाणिकों की दृष्टि में भारतीयविचारधारा के पोषक दर्शनों में पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर दर्शनों के साथ वैचारिक विरोध न होकर, समन्वय सिद्ध होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शनों में प्रथम दर्शन

चार्वाक दर्शन होगा और दार्शनिक विचारों का पर्यवसान वेदान्त दर्शन है। अतः दार्शनिक स्वरूपों के अन्तर्गत वेदान्तदर्शनों के दार्शनिक स्वरूप का निर्धारण करने से पूर्व भारतीय दर्शनों के अन्य प्राचीन दार्शनिक विचारों का दिग्दर्शन करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उन-उन दार्शनिक विचारों के धरातल पर ही औपनिषदिक सिद्धान्तों के महल प्रकट होते हैं, अर्थात् वेदान्तेतरदर्शनों को समझ लेने के उपरान्त ही औपनिषदिक सिद्धान्तों के तात्पर्य एवं उसकी महत्ता को हृदयङ्गमकिया जा सकता है। सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन का विचारउपस्थित होता है तदनुसार शरीर एवं इन्द्रियों की प्रधानता स्थापित होती हैं। शरीर के तत्त्व स्थान में होने से ही उसके संरक्षण एवं सम्बर्द्धनाऽर्थ आयुर्वेदाऽऽदिशास्त्रों का तथा कृषि गोरक्षण व्यापाराऽऽदिकों का देश में विकास होता है, उन-उन कार्यों के द्वारा अर्थों की उपलब्धि, एवं शारीरिक सुख के निमित्त उसका विनियोग होता है। इस दार्शनिक विचार पर ही चिकित्साशास्त्र के समान अर्थशास्त्र और उसके अङ्गभूत समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, पाकशास्त्र, कोकशास्त्र, व्यापार से सम्बन्ध रखने वाला वाणिज्यशास्त्र या वार्ताविषयकशास्त्र आदि प्रतिष्ठा को प्राप्त किये हुए हैं। राष्ट्र की उन्नति के मार्ग में इस शास्त्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। बिजली का अविष्कार दूरदर्शन, दूरसंचार, आदि अविष्कारों से जो देश या संसार उन्नति कर रहा है उसका श्रोत चार्वाक दर्शन ही है। इतना सम्वृद्ध होने पर भी यह दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण से आगे अपना पैर नहीं रख सका, जिसके परिणाम स्वरूप अर्थ काम स्वरूपपुरूषाऽर्थद्वय तक ही सीमित होकर रह गया, अर्थात् धर्म एवं मोक्ष सम्बन्धी पुरूषाऽर्थ के साधक सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम वस्तुओं पर वह अपने विचार को फैलाने में असमर्थ सिद्ध हो गया। सूक्ष्मवस्तु में विचार का प्रवेश न होने के कारण ही यह शरीराऽऽत्मवादी शरीराऽऽदिकों से पृथक् रूप में आत्मवस्तु को ग्रहण करने में अयोग्य सिद्ध हुआ करता है।

यद्यपि इस कलियुग में ही चार्वाक दर्शन के कारण इस संसार की, एवं तदन्तर्गत आने वाले देश की सार्वभौमिक स्थूल उन्नति नहीं हुई है, किन्तु युगाऽऽरम्भ में भी याताऽऽयात के दिव्यसाधन अतिउन्नतकोटि के अस्त्र-शस्त्र, दूर संचार ज्ञान-विज्ञान, शिल्पाऽऽदि शास्त्रों के ज्ञान, तथा राजनीति, व्यापारनीति आदि पूर्णरूप से विकसित थे, जो कि आज के मुकाबले में बहुत अच्छे थे। इस विषय की जानकारी वेद-पुराण एवं महाभारताऽऽदि इतिहासग्रन्थों से हमें समग्रता के साथ प्राप्त होती है, किन्तु वे सारे के सारे विकास अध्यात्मवाद, ईश्वरवाद जीववाद, धर्माऽर्थकाम-मोक्षवाद के सिद्धान्तरूपीभूमि पर पल्लवित पुष्पित थे, आज के नाऽस्तिकतावाद पर आधारित नहीं। आज के संसार विकासविधाता वैज्ञानिक आत्मशक्ति पर आश्रित इस संसार को नहीं मानते हैं। अपने-आप अर्थात् निराधार इस जगत् की स्थिति है और उसके विकास में भी ईश्वराऽऽदिकों

की कोई भूमिका नहीं। अतएव आदिकालिकविकास आत्मतत्त्वदर्शन के अनुसार हुआ था, किन्तु आधुनिक उन्नति जडजगत् पर आश्रित होने से निरीश्वरवाद एवं नैरात्म्यवादी होने से इस विकास को वास्तविक रूप से विकास नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसका पर्यवसान विनाश में होता है। अत: आत्मा और ईश्वर को केन्द्रस्थान में लिए बिना एवं भोक्ता के रूप में शरीर-इन्द्रियाऽऽदि स्वरूप अहन्ताऽऽश्रय को केन्द्र में रखकर किये जाने वाले जितने भी विचारदर्शन हैं, वे सबके सब आध्यात्मिक धरातल को प्राप्त किये बिना प्रवृत्त होने से अनीश्वरवादी आसुरमत कहलाते हैं, जिस मत का गीता जी में आसुरमत के रूप में विस्तार के साथ अ० १६/श्लोक सं० ७ से आरम्भ करके श्लो० २० तक में वर्णन किया गया है। आसुर प्रकृति वाले जीव को परमेश्वर पुन: पुन: उसी स्वभाव से सम्बन्धित शूकर-कूकराऽऽदिस्वरूप क्लेशमय योनियों में ही जन्म देते रहते हैं। इस प्रकार आसुर भावाऽऽपन्न जीव उत्तरोत्तर निम्न-निम्न क्लेशमय योनियों के झञ्झावात में ही स्वभावपरवश हुए पतित होते रहते हैं। इस निष्कर्ष को गीता जी में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

तानहंद्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराऽध्ममान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु ।।१६/१९।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढाजन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।१६/२०।।

इस प्रकार आत्मसत्ता की स्वीकृति से विहीन मनुष्यों की दुर्गति को दर्शाते हुए स्पष्ट शब्दों में श्री भगवान ने कहा है कि—माम् अप्राप्यैवकौन्तेय ततोयान्त्यधमां गतिम्'' अर्थात् संसाराऽऽसक्त अज्ञानी जीव मुझ आत्मस्वरूप को ज्ञानयज्ञद्वारा प्राप्त न कर पाने के कारण ही अधमयोनियों को परवश होकर प्राप्त किया करता है। चार्वाकविचार में काम, क्रोध, लोभ आदि दोषों का साम्राज्य मानवीय हृदय में प्रचार हुआ रहता है, इस पर यदि अङ्कुश नहीं लगाया गया, तो पुन: स्थूलविचारवान् पुरुष में दोष अपना स्वरूप स्थिर करके व्यक्ति को अध:पतन के गर्त में गिराकर जलप्रेत के समान दु:ख सागर में चिरकाल के लिए मग्न कर देता है। अत: उस विचार से आगे उठकर आत्मप्रकाशकविचार के सान्निध्य को प्राप्त किया जाना परमकल्याण के इच्छुक मनुष्यों के लिए अत्यावश्यक है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन—स्थूलपदार्थविषयक जागतिक विचार को पार करके जब हम आगे बढ़ते हैं तो उस विचार के प्रर्वतक के रूप में हम न्याय वैशेषिक दर्शन को प्राप्त करते हैं जहाँ आत्मा के रूप में जीवस्वरूप एवम् ईश्वर इन दोनों को केन्द्र में

रखकर, जागतिक यावत् पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि संसार की सृष्टि स्थिति एवं संहार आदि जागतिक निखिल कार्य जीवों के सुख-दुःखाऽऽत्मक भोग सम्पादनाऽर्थ ही परमेश्वर के द्वारा रचे जाते हैं। इस दार्शनिक विचार की ये विशेषताएँ हैं कि आत्म-अनात्मभेद से द्विविध पदार्थों को स्वीकार करके एवं परमेश्वर को नित्य सर्वनियन्ता और संसारसर्जक के रूप में मानते हुए भी, इन जागतिक पदार्थों को सर्वथा अनित्य, विकारशील रूप में ही स्वीकार न करके, आत्मभिन्न पृथिवी जल-तेज-वायु की कार्यस्वरूप से, एवं कारणीभूत परमाणुरूप से द्विविध सत्ता स्वीकार करते हैं। आकाश-काल-दिशा एवं मन को स्वरूप से नित्यस्वीकार करके भी इन सभी नित्यद्रव्यों को कार्यद्रव्य के समान भोक्ता जीव के भोगसम्पादन में सहयोगी माना गया है। इसी प्रकार गुण-क्रिया-जाति-विशेष-समवायसम्बन्ध एवं द्रव्याऽऽदिछ:पदार्थों के अभाव को भी जीव भोगसम्पादन का निमित्त माना गया है। जीवाऽऽत्मा अपने स्वरूप के अज्ञान वश सांसारिक पदार्थों में भ्रममूलक तादात्म्यस्थिति को प्राप्त करके, अपने को शरीर-इन्द्रिय मन आदि के रूप में अपने अतात्त्विक स्वरूप का अनुभव करने लग जाता है, जिससे उसमें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, वृद्धि ह्रास आदि अनेक प्रकार के पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि अनात्म पदार्थों के धर्म आत्मा में अपने धर्म के रूप में भासित होने लगते हैं, जिससे वह जीवाऽऽत्मा अपने को उसी रूप में अपनी स्थिति को स्वीकार कर वास्तविक रूप से असंसारी होने पर भी संसारी हो जाता है।

इस प्रकार अपने स्वरूप के वास्तविक ज्ञान से एवं पारमेश्वरीय ज्ञान से च्युत हुआ जीवाऽऽत्मा, अपने अज्ञानमूलकधर्माऽधर्म द्वारा सृजित इस अनात्मभूतअगाधसंसारसमुद्र में दैवाऽधीन आशा वाला होकर मग्न हो रहा है। अर्थात् दुःखसमुद्र में डुबा हुआ भी मनुष्य इस दैवाऽधीन अवसर की प्रतीक्षा किया करता है कि एक दिन हमारे सत् कर्मों और सदुपासनाओं के साथ-साथ किया जाने वाला तत्त्वाऽभ्यास, पारमेश्वरीय ज्ञान के साथ ही स्व-स्वरूप विषयक ज्ञान को अवश्य प्रकट करेगा, जिससे हमारे संसारसम्बन्ध सदा के लिए निवृत्त हो जाएगें। न्याय दर्शन एवं वैशेषिक दर्शनों के उपदेश का प्रयोजन केवल मानवों को आत्माऽनात्मविषयक तात्त्विक ज्ञान द्वारा अनात्मविषय में आत्मविषयक तादात्म्य भ्रम की निवृत्ति कराना मात्र ही ज्ञात होता है। यह ज्ञान विषय वैराग्य के माध्यम से जब आत्मपदार्थ विषयक श्रवण-मनन-निदि्ध्यासन, अपूर्व श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक होते रहेगें, तब जाकर ईश्वराऽनुग्रह वश आत्म-अनात्मविवेक प्रकट होगा। इसी अभिप्राय से—प्रमाण-प्रमेय-संशय प्रयोजन........तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाऽधिगमः ।१/१/१॥ तथा दुःखजन्मप्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तराऽपायादपवर्गः ।१/१/२॥ इत्यादि न्यायशास्त्रीयसूत्रों के उपदेश दिये गये हैं। न्याय दर्शन में तत्त्वज्ञान की निष्पत्ति के लिए सत् प्रमाणों और सत् तर्कों के माध्यम से पदार्थों का परीक्षण किया गया है,

जिससे वस्तुविषयक अज्ञान-विपरीतज्ञान एवं सन्देह की पूर्णरूप से निवृत्ति होकर, ऐसा तात्त्विक ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है कि जिससे अनात्मपदार्थ से भिन्न आत्मवस्तु का, एवम् आत्मविषयक अपरोक्ष प्रमाज्ञान के माध्यम से परमेश्वरीय अनुभव का निर्धारण उसी प्रकार कर सकें। वैशेषिक दर्शनकारों के दार्शनिक विचारों का भी पदार्थविषयकसाधर्म्य-वैधर्म्यज्ञान द्वारा आत्मविषयक अपरोक्ष प्रमाज्ञान के सम्पादन में ही शास्त्रीय व्यापार अन्त होते देखा जाता है।

आत्माऽनात्म विवेक का लाभ सम्पादित करके आत्मतत्त्व का, निदिध्यासन की सहायता से अपरोक्षबोध उत्पन्न करते हैं, साथ ही जगत् कर्ता के रूप में परमेश्वर का ज्ञान दृश्यमान जगत् हेतु के रूप में उसी प्रकार लाभ करते हैं जिस प्रकार घटपट आदि कार्यों के कर्तारूप से कुम्भकार तन्तुवायाऽऽदिकों के विषय में निश्चितज्ञान को अनुमानाऽऽदिप्रमाण के माध्य से प्राप्त करते हैं। स्वस्वरूप में स्थिति को लाभ करना मोक्ष है, किन्तु अनात्मभूत शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों के साथ जबतक अनादिकाल से चला आ रहा भ्रमाऽऽदिज्ञान (वा अज्ञानाऽऽख्यअविद्या) मूलक तादात्म्याऽध्यास नष्ट नहीं हो जाता, तब तक दु:ख साधन इन जीवाऽऽत्मा को नहीं छोड़ता, जिसके कारण दु:ख की धारा चलती रहती है, जबकि हम उसे कभी नहीं चाहते हैं। जिस समय दैवयोग से न्याय-वैशेषिक शास्त्र के प्रतिपाद्यभूत आत्माऽनात्मज्ञान के उपायों का परोक्षाऽऽत्मक तात्त्विकबोध हम अधिगत कर लेते हैं, तथा तदनुसार हम आत्मसाक्षात्कार के साधनों का समुचित उपयोग करते हुए आनात्मवस्तु के प्रात्यक्षिक तत्त्वबोध के साथ ही साथ अपने आत्मस्वरूप का, इन अनात्मवस्तुओं से पृथक् रूप में अपरोक्षप्रभाज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तो उसी प्रमा ज्ञान से अप्रमाऽऽत्मकप्रत्यक्षभूत आत्म-अनात्म से सम्बन्धित तादात्म्य विषयक भ्रम, वा मिथ्या ज्ञान सदा के लिए निवृत्त हो जाया करता है और इस प्रकार जीव संसारबन्धनाऽऽत्मक मिथ्याज्ञानजनित उपाधि से सर्वथा रहित होकर संसार से मुक्ति लाभ प्राप्त करता है। इस कार्य में ईश्वर की भूमिका अहं मानी गयी है। साधन में जो कार्योत्पादन का सामर्थ्य है वहाँ जब ईश्वरीय इच्छा वा अनुग्रह का योग होता है तब जाकर सदुपदेशकगुरुज़ी का योग, तथा उनके द्वारा किये गये शास्त्रोंपदेश से आत्माऽनात्मविषयकयथाऽर्थज्ञान और यथाऽर्थज्ञान के प्राप्ति की परिपक्वाऽवस्था में आत्माऽनात्म का विवेक, विवेक की पूर्णाऽवस्था में निदिध्यासनाऽऽदिकों से विविक्तरूप में आत्मवस्तु का प्रमाऽऽत्मकसाक्षात्-कार, तदुपरान्त अपने स्वरूप में स्थिति लाभाऽऽत्मिका मुक्ति, जो कि एकविंशति दु:खध्वंस, या पुन: आत्मगत बुद्धि आदि समस्तविशेषगुणध्वंस न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में जीव की मुक्ति मानी गयी है।

इतने होने पर भी इस मत में पृथिवी आदि के परमाणुओं में जब ईश्वरेच्छावश

क्रिया सञ्चालित हुआ करती है, तभी जाकर जीवाऽऽत्मा के विशेषगुण की, एवं जीवाऽऽत्मस्वरूप के अभिव्यञ्जक शरीराऽऽदिकों की सृष्टि हुआ करती है। इस मत में परमेश्वर के एक होने पर भी जीवाऽऽत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न माने गये हैं। जीवाऽऽत्मा में कर्तृत्व अवास्तविक न होकर वास्तविक माने गये हैं। उनके ज्ञान को उनका व्यावहारिक धर्म माना गया है स्वाभाविक नहीं। जिससे मुक्ति बेला में वह आत्मतत्त्वपाषाणाऽऽदि जडवस्तु के तुल्य पर्यवसित है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव को इन्द्रियजन्यज्ञान ही सांसारिकदु:खों का केन्द्र बनाता है, एवं इन्द्रियजन्यज्ञान का सम्बन्ध अज्ञानाऽऽत्मकमिथ्याज्ञान से लेकर, शरीरपर्यन्त तक के साधनों तक में बना रहता है। इन मिथ्याज्ञानाऽऽदिकों की अनुपस्थितिदशा में ज्ञान का भी स्वत: अभाव हो जाता है, जिस अवस्था को न्याय-वैशेषिकशास्त्र में मोक्ष कहा जाता है। अत: नित्यज्ञानाऽभाव की जो दशा है, वही आत्मा की मोक्षकालिक स्थिति मानी गयी है जहाँ आत्मवस्तु पाषाण-सादृश्य को प्राप्त होता है। परन्तु वेदान्त आदि दार्शनिक सिद्धान्त उक्त अवस्था को मोक्ष के रूप में कदाऽपि स्वीकार नहीं किया करता है, क्योंकि—अपने को जड बनने के लिए लोक में किसी को प्रयास करते नहीं देखा जाता। इसके अतिरिक्त आत्मवस्तु में जब कर्तृत्व की वास्तविकी स्थिति होती है तो भोक्तृत्व की दशा विलुप्त कैसे हो सकती है ? और कर्तृत्व भोक्तृत्व के विद्यमान रहते संसार से तादात्म्य की निवृत्ति हो पाना कैसे सम्भव है ?

अत: दोषयुक्त इस विचार को छोड़कर सांख्ययोग मताऽनुयायी अपने मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—शरीराऽऽदितादात्म्य भ्रम बन्धन का कारण होता है और उस तादात्म्य भ्रम की निवृत्ति पुन: व्यक्त-अव्यक्त (कार्य-कारण स्वरूप व्यक्त महत्तत्त्वाऽऽदि एवम् अव्यक्त प्रधान) के साथ ही साथ पुरूषाऽऽख्य आत्मवस्तु का विवेकज्ञान ही, आधिदैविक-आधिभौतिक एवम् आध्यात्मिक भेद से भिन्न त्रिविध दु:ख की आवश्यक रूप से, आत्यन्तिक (नित्य) निवृत्ति में कारण हुआ करता है। प्रधान (प्रकृति) और उससे उत्पन्न होने वाले (अभिव्यक्त होने वाले) महदादितत्त्वों, एवं पुरूष, इन तीनों के तत्त्वों का ज्ञान ही दु:खत्रयविधातक (आत्म-अनात्मविषयक भ्रममूलकतादात्म्यसम्बन्धजन्य-त्रिविधदु:खाऽऽत्मक संसार के मोचक) के रूप में सांख्य योग दर्शन में मान्य हैं। इन पदार्थों का विवेक ग्रह साधारण बहिरियों के व्यापार से, अथवा मानसिक व्यापार से हो पाना सम्भव नहीं, अत: चित्तवृत्तियों को उन-उन पदार्थों में एकाग्र करके रखना और उसकी दृढता के लिए उस तादात्म्य भ्रम के निवर्त्तक स्वस्वरूप में स्थिति के सम्पादक जो आत्मतत्त्व, उसकी ओर अग्रसर होने में जो अज्ञान और अज्ञानसम्भूत अस्मिता-राग-द्वेष एवम् अभिनिवेशस्वरूप प्रतिबन्ध हुआ करते हैं, उन प्रतिबन्धों की निवृत्ति के लिए मुमुक्षुओं को गुरुतर विरोधी उपायों की अन्वेषणा करनी पड़ती है और उन उपायों का

चिन्तन योगशास्त्र में स्वतन्त्र रूप से किया गया है। यद्यपि उनकी जानकारी हमें सांख्यदर्शन के अध्ययन से भी प्राप्त हो जाती है, तथाऽपि सांख्यदर्शन से जिस सकार्यअविद्याविरोधी का ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसके परोक्षाऽऽत्मक होने के कारण प्रत्यक्षसिद्ध अविद्या और अविद्या कार्य शरीरेन्द्रियादिकों, एवं पुरुष के मध्य संसारोत्पादक अभेद भ्रम को नष्ट कर पाने में सांख्यशास्त्र से उत्पन्न होने वाला आत्म-अनात्मविषयक अभेदभ्रम निराशक विवेकज्ञान परोक्षाऽऽत्मक होने से सर्वथा असमर्थ हुआ करता है, किन्तु योग द्वारा सम्पादित जो प्रकृति (सकार्य माया या अज्ञान) और पुरुष का विवेकज्ञान वह प्रत्यक्षाऽऽत्मक उत्पन्न होता है, एवं संसार बन्धकारक प्रत्यक्षभ्रम का पूर्णतया निवर्त्तन कर पाने में केवल योगजन्य प्रात्यक्षिक आत्म-अनात्म स्वरूप प्रकृति-पुरूष का विवेकग्रह ही सक्षम हुआ करता है, अत: योग शास्त्र की साङ्ख्यशास्त्र के रहने पर भी आवश्यकता बनी ही रहती है। वस्तुत: सांख्यीय ज्ञान प्रत्यक्षाऽऽत्मक होता हुआ ही अविद्या और अविद्यामूलक दोषों को नष्ट करता हुआ ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के समापन द्वारा मोक्ष प्रदायक होता है, जबकि योगाऽभ्यास चित्तवृत्तिनाशद्वारा, एवं विना फल दिये हुए प्रारब्ध को भी अपने प्रभाव से नष्ट करता हुआ सद्य: विदेहाऽऽत्मक मोक्ष का कारण होता है।

किञ्च योगविद्या के अन्तर्गत आने वाले सम्प्रज्ञात योग के अभ्यास से आत्म-अनात्मतत्त्वप्रकाशक शुद्धसतोगुण का उद्रेक होता है, जिसके परिणाम स्वरूप ध्येय का निर्भ्रान्तिसाक्षात्कारसम्पन्न होता है, किन्तु उस अवस्था में संसारोत्पादक सकार्य अविद्या की स्थिति संस्कार रूप से बनी ही रहती है। किन्तु ध्येयाकार में एकाग्रता के सम्पादकीभूत सम्प्रज्ञात योग की स्थिति जब अत्यन्त दृढ़ हो जाती है, तब परवैराग्य का लाभ होता है और परवैराग्यसहकृत असम्प्रज्ञातनामकयोगाऽभ्यास के प्रबलअभ्यास से अविद्यासंस्कारविषय में स्थित चित्तवृत्ति का भी अपनी स्वरूप की ओर निरोधाऽऽत्मिका परावृत्ति होकर, कालक्रम से स्थूलविषयों से लेकर सूक्ष्मतमसंस्कारविषयिणीवृत्तियों का भी सर्वथा अपने उपादानकारणीभूत बुद्धितत्त्व में विलय हो जाता है और वैसा हो जाने पर निर्वृत्तिक चित्त या बुद्धितत्त्व का अपने उपादानभूत प्रकृतितत्त्व में विलय हो जाता है। इस प्रकार वृत्ति के आश्रयस्थान के निवृत्त हो जाने पर वृत्ति की सर्वथा अनुपपत्तिदशा में आत्मवस्तु का भ्रम, जो कि अन्त:करण की वृत्ति के द्वारा ही उत्पन्न हो रहा था सर्वथा नष्ट हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप आत्मा अपने स्वरूप स्थिति स्वरूप मोक्ष में प्रविष्ट हो जाता है। इस असम्प्रज्ञातयोग (समाधि) के फलनिरूपण में तो योगवार्तिककार का वेदान्त से अधिक इतना तक कहना है कि निरोधाऽऽत्मक असम्प्रज्ञात की परिपाकदशा में जो प्रारब्धकर्म होता है, उसका भी दाह हो जाया करता है, इसके अतिरिक्त जो सञ्चित कर्म होता है, बिना फल प्राप्त किये ही उसकी निवृत्ति तो सर्वशास्त्र में स्वीकार किये जाने

के कारण योग मत में भी होती ही है। आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न होने से क्रियामाण कर्मों, अथवा करिष्यमाण कर्मों के बन्धन से भी मुक्ति मिल जाना सामान्य बात है। इस प्रकार हम योगशास्त्र की दृष्टि से कह सकते हैं कि योगविद्या के अभ्यास से मानव अपनी स्वरूपस्थिति लाभ को जितना शीघ्रप्राप्त कर सकता है, उतना शीघ्रमोक्षलाभ वेदान्त विद्या की लब्धि से भी सम्भव नहीं। अतएव शास्त्रों में इस विषय को लेकर कहा गया है कि—

''नाऽस्ति सांख्यसमं ज्ञानम्, नाऽस्ति योगसमंबलम्।''

''योगाऽग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापजं रजः।

प्रसभं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिम्।।'' इत्यादि।

साङ्ख्ययोगशास्त्राऽनुसार मोक्षदशा में अनर्थकारणीभूत आत्मसम्बद्ध कर्तृत्व भोक्तृत्वाऽऽदिस्वरूप समस्त उपाधियों की विनिवृत्ति हो जाती है, जिसकी निवृत्ति वेदान्त के अतिरिक्त न न्याय-वैशेषिकों के मताऽनुसार मुक्तिदशा में सुलभ हुआ करती है और न ही पूर्वमीमांसा शास्त्रीय दृष्टि में ही सुलभ हो पाती है। इतने होने पर भी सांख्ययोगशास्त्र आत्मा की अनेकाऽऽत्मदशा को भ्रम घोषित करके अद्वैताऽऽत्मतत्त्व को प्रकाशित कर पाने में किसी भी प्रकार से सावधान नहीं हो पाया, जबकि उस तथ्य को वेदमुक्तकण्ठ से कहता आ रहा है कि—''नेह नानाऽस्ति किञ्चन''। वेदों में आत्मवस्तु पर ऐसा निष्कर्षपूर्णप्रामाणिक विचार प्रस्तुत किया गया है, जहाँ पुनः विचार करने का अवसर हो सदा के लिए समाप्त हो गया है। वेदान्त का स्पष्ट उद्घोष है कि आत्मतत्त्व न्याय-वैशेषिक-मीमांसाशास्त्र, तथा साङ्ख्ययोगाऽऽदिमतसिद्ध अनेक नहीं हैं, अपितु उन व्यावहारिक आत्माओं का पारमार्थिकस्वरूप एक अद्वैताऽऽत्मक ही है, इसीलिए ''सदेव सौम्येदमग्रमासीत्'' तथा ''एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'' अर्थात् हे सौम्य! वर्तमान में यह दृश्यमान जगत् सृष्टि से पूर्वकाल में सत् स्वरूप परमाऽऽत्मा ही था, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।'' ''एक ही द्वितीय रहित ब्रह्मस्वरूपआत्मतत्त्व है।'' इत्यादि प्रमाणों के आधार पर आत्मवस्तु की एकता सिद्ध होती है। जहाँ तक जीवाऽऽत्मा एवं परमाऽऽत्मा से सम्बन्धित अभेद के विषय में प्रमाण की जिज्ञासा के अनुसन्धान की ८.त है, तो वहाँ भी श्रुति मुक्त कण्ठ से उन दोनों के अभेद का प्रतिपादन करती हुई दृष्टिगोचर होती है— ''तत्त्वमसि श्वेतकेतो!'' आरूणि अपने पुत्र को ब्रह्म का उपदेश देते हुए इस प्रकार कहते हैं कि—हे श्वेतकेतो! वही अद्वैतस्वरूप ब्रह्म तुम हो, उससे भिन्न नहीं। इस संसाराऽऽत्मक अनेकता की सृष्टि उसी अद्वैताऽऽत्मा से हुआ करती है। इस विषय में श्रुति की अभिव्यक्ति इस प्रकार है—''यतो वा इमानिभूतानिजायन्ते येन जातानि जीवन्त्यभिसंविशन्ति'' जिससे इस जगत् की सृष्टि स्थिति एवं लय=संहार हुआ करता है, वह ब्रह्म है।''

इत्यादिस्वरूप शतशः प्रमाणों द्वारा वेदान्तसिद्धान्त में यह निर्धारित किया गया कि पारमार्थिकरूप से एक ही अद्वैताऽऽत्मा है, जो कि शरीरेन्द्रिय मनोबुद्धि आदि विविध प्रकार के उपाधिवश मठाऽऽकाश में स्थित अनेक घटाऽऽकाश, के समान अनेक रूप में प्रतीति विषय हुआ करता है। वहाँ इस विषय को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि—"एक एव हि भूताऽऽत्मा भूते भूते व्यवस्थितः" एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (नृ०ता०उ०) इत्यादि। इस प्रकार वेदान्तशास्त्र के तत्त्वाऽन्वेषण किये जाने पर आत्मविषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मवस्तु के स्वयं सत्, चित्, आनन्द, एवम् अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसिद्ध होने पर भी वह अपने ही आश्रित रहने वाली, तथा अपने स्वरूप को ही विषय करने वाली स्वाऽनुभववेद्य एवं चिदानन्दाऽऽभास से युक्त अविद्या द्वारा अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्दाऽद्वितीय ब्रह्मभाव से च्युत होकर, शरीरेन्द्रियमनो बुद्धि आदिस्वरूप अनात्मपदार्थों में भ्रम द्वारा आत्मभावसम्पादन करके, सर्वविध पुरुषाऽर्थ की प्राप्ति से विमुख हुआ, कर्तृत्व-भोक्तृत्वाऽऽदिस्वरूपअनर्थमूलक परम्परा से युक्त हो गया है। सकार्यअविद्या से भ्रममूलकतादात्म्य हो जाने के कारण ही वह अविद्याजनितकर्मों से सृजित साधनों द्वारा इष्ट वस्तु की प्राप्ति, एवम् अनिष्ट के परिहार की इच्छा करता हुआ, लौकिक एवं वैदिक साधनों का अनुष्ठान करके मोक्षसञ्ज्ञक परमपुरुषाऽर्थ को न पाने के कारण जलगत मगर के समान राग-द्वेषाऽऽदिस्वरूप दोषों के द्वारा, इधर-उधर खींचा जाता हुआ, देवता, मनुष्य एवं तिर्यग् आदि योनियों में निरन्तर एवं निरवधिक चक्कर लगाते हुए, आत्यन्तिक रूप से मोहपाश से आबद्ध हुआ जन्ममरणाऽऽत्मकगर्त में पतित हो दुःखित हो रहा है। इस प्रकार आत्मतत्त्व के साथ मायिकसम्बन्ध को प्रदर्शित करके, उससे छूटने के भी उपाय वेदान्त में विस्तार से बतलाए गये हैं। तदनुसार निष्काम भाव से श्रुति स्मृतिविहित कर्माऽनुष्ठान से अन्तःकरण में स्थित वासनाजनित रागद्वेषाऽऽदिकों की विनिवृत्ति हो जाती है, राग-द्वेषाऽऽदिस्वरूप दोषों से रहित होने की अवस्था में स्वस्वरूपप्राप्तिविषयिणी जिज्ञासा उत्पन्न हुआ करती है, तदनुसार आत्मतत्त्वनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता दयालु गुरूजी का सान्निध्य परमाऽऽत्मा के अनुग्रह से प्राप्त हुआ करता है, जिससे ब्रह्माऽऽत्मविषयक श्रवण-मनन-निदिध्यासन सम्पन्न मुमुक्षु पुरुष समाधि में स्थित होकर, अखण्डाऽऽकारवृत्ति द्वारा, परमब्रह्म को अपने आत्मरूप में साक्षात् करके, पुनः असम्प्रज्ञातसमाधिद्वारा मायिक शरीरेन्द्रियाऽदिस्वरूपसंसार-भ्रम को सदा के लिए मिटाकर स्वस्वरूप में स्थितिस्वरूप विदेहमुक्ति को प्राप्त करता है। जिस अवस्था में न आत्मा का अज्ञान या विस्मृति रहती है, और न शरीरेन्द्रियादिउपाधियाँ हुआ करती है, न कर्तृत्वभोक्तृत्वाऽऽदि धर्म ही होते हैं, और न उनके कारणीभूत वासनाओं का बाजार ही रहा करता है। भाव यह है कि स्वस्वरूपविस्मृतिरूप माया सम्बन्ध से संसार और तत्प्रयुक्त विविधता, एवं स्वस्वरूप स्मृति रूप विद्या दशा में

आत्मा की एकता, असङ्गता आदि श्रुति द्वारा ज्ञात होती है, जो आत्मस्वरूप वेदान्तसिद्धान्त से निर्णीत होता है, उस अद्वैताऽऽत्मस्वरूप का यद्यपि न्याय-वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा, एवं सांख्ययोगाऽऽदि शास्त्रों के माध्यम से निश्चय हो पाना सर्वथा अशक्य है, तथाऽपि उन-उन शास्त्रों के द्वारा भी मायिक पदार्थों से आत्मतत्त्व का भ्रममूलकतादात्म्यभाव का पूर्णरूप से न होने पर भी आंशिकरूप से विनिवर्तन तो होता ही है, किन्तु जो कुछ न्याय वैशेषिक निर्णय के उपरान्त शेष बचे सूक्ष्म मायिकतत्त्वों का निराकरण पूर्वमीमांसा से परिशोधित हुआ करता है, उसके बाद भी जिस अनात्मतत्त्व से पूर्वशास्त्र, आत्मतत्त्व के अभेद भ्रम को दूर नहीं कर पाता है, उसके उपरान्त अनात्मतत्त्वतादात्म्यविनिवर्त्तक विचार करने के लिए साङ्ख्ययोगशास्त्र प्रवृत्त होते हैं, ये दोनों मिलकर यद्यपि कर्तृत्वभोक्तृत्व तक के साथ-आत्मतादात्म्य के भ्रम का निराकरण करके, अनात्मतादात्म्यविनिर्मुक्त आत्मवस्तु के साक्षात्कार तक का प्रात्यक्षिक निश्चय प्रस्तुत कर पाने में सफल सिद्ध होते हैं, तथाऽपि आत्मगतभेद भ्रम के निराकरण में समर्थ नहीं हो पाते हैं, किन्तु वेदान्त दर्शन आत्मभेद के उस मायिक जवनिका को भी हटा पाने में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुए हैं, अतएव आध्यात्मविद्याओं में यह विद्या सर्वोत्तमा है।

लोकव्यवहार में जिस प्रकार वाद निर्णय के लिए सर्वप्रथम एक साधारण न्यायालय हुआ करता है, उससे ऊपर उच्चन्यायालय एवं उसके ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होते हैं। उन न्यायालयों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर में विशेष प्रामाण्य हुआ करता है, जिसमें अपने अधीनस्थ नीचे-नीचे न्यायाऽऽलयों के विरुद्ध निर्णय तो नीचे के न्याया-लयों में आवश्यकरूप से स्वीकार्य हुआ करते हैं, नीचे के प्रतिकूल निर्णय को बदलने में, अथवा निरस्त करने में ऊपर के न्यायाऽऽलय सर्वथा समर्थ हुआ करते हैं, उसी प्रकार आत्मवस्तु को लेकर सर्वोच्च न्यायालयस्थानाऽऽपन्न वेदान्त शास्त्र स्वतः प्रमाण होने से सर्वाऽतिशायी है, अतएव अन्तिम प्रमाण के रूप में सर्वत्र वेदान्तमन्त्र का ही व्यवहार सभी न्यायाऽऽदिशास्त्रों में किया गया है। आत्मलाभ ही संसार चक्र से विनिवृत्ति के लिए अहम, साधन है, इससे भिन्न अन्य साधनों का यहाँ पर अभाव ही सर्वसिद्धान्तों में प्रसिद्ध है। आत्मसिद्धि (निश्चय) के बिना आत्मस्वरूप का लाभ हो नहीं सकता और आत्मसिद्धि भी विशुद्ध होनी चाहिए, विशुद्ध प्रकार से आत्मसिद्धि वेदान्त शास्त्र द्वारा ही सम्भव है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर समस्त वेदान्तशास्त्र के सार भाग का पुत्राऽऽदिमोह से व्याकुल, किन्तु शरणाऽऽगत हुए धृतराष्ट्र के प्रति भगवान् सनत् कुमार के द्वारा उपदेश दिया गया है। यह दर्शन "सनत् सुजातदर्शन" के नाम से लोक में प्रसिद्ध है, जो कि महाभारत के अन्तर्गत उद्योगपर्व में भगवान् व्यासदेव के द्वारा उपनिबद्ध हुआ है। इसके रहस्य को प्रकट करने के लिए अद्वैत विद्याऽऽचार्य भगवान् शङ्कर ने इस पर गम्भीर भाष्यग्रन्थ की रचना की है, जिसके प्रभाव से यह ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र के उत्तमश्रेणी में

समाविष्ट हुआ सुशोभित हो रहा है। अद्वैत आत्मतत्त्व को समझने के लिए मैं भूमिका रूप से अद्वैतवेदान्त ज्ञानोपयोगी कुछ तत्त्व प्रदर्शित करने जा रहा हूँ, जिसके अनुसार प्रकृतग्रन्थ का अध्ययन किये जाने पर अध्ययनाऽर्थी को विशेष लाभ होगा और आत्मतत्त्वोपलब्धि की ओर झुकाव होने में इससे विशेष प्रकार की सहायता मिलेगी, इसके लिए नीचे विहङ्गमदृष्टि से अद्वैत तत्त्वाऽऽवेदक कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है—

अद्वैतवेदान्त से सम्बन्धित हार्दविचार

दर्शन, धर्म, विज्ञान आदि सभी हमारे अनुभव व उससे सिद्ध जगत् को ठीक ढंग से समझकर उसकी ऐसी व्याख्या करने का प्रयत्न है, जो जीवन में राह दिखा सकें। वेदान्त, उपनिषद् प्रतिपादित सिद्धान्तों पर आधारित व्याख्या है, जो जीवन को आनन्द से परिपूर्ण करने में समर्थ है। परमसत्य को समझने का प्रयत्न जीवन के लक्ष्य को निश्चित करने में आवश्यक है। असत्य को लक्ष्य बनाने से असफलता ही अन्ततः हाथ लगेगी। परम सत्य किस प्रकार द्रष्टा और दृश्यरूप विचित्र जगत् में प्रगट होता है, इसे समझना आवश्यक है, जिससे हम लौटकर पुनः परमसत्य में स्थित हो सकें। शास्त्र में अधिकार मानव का ही हुआ करता है। अतः मानव का क्या स्थान है और क्या नियति है, यह जानना भी परम आवश्यक कार्य है। वस्तुतः अनुभव का स्रोत एवं सत्य का स्वरूप, तत्त्वतः निर्णय करना, व कर्तव्य, या धर्म, नैतिकजीवन के रहस्य को खोलकर, साधना का व्यावहारिक निर्णय करना, वेदान्त का प्रधान उद्देश्य है। मानव के चरम लक्ष्य, व तात्कालिकलक्ष्य दोनों का विचार वेदान्त में किया गया है। वेदान्त केवल श्रद्धा पर आधारित नहीं है। इसकी श्रद्धा, युक्ति एवं अकाट्यप्रमाणों से संगत है। भारत के वंशजों में दृढ़बद्ध मूल है एवं अनेकों के लिए इसके सिद्धान्त निःसंदिग्ध रूप से मान्य है। परन्तु इसका कारण है कि वे प्रक्रिया न जानते हुए भी जानते हैं कि यह तर्कसंगत व अनुभव सिद्ध बातें हैं। जिसे याज्ञवल्क्य, व वशिष्ठ से लेकर आज पर्यन्त प्रत्येक पीढ़ी ने साक्षादनुभव से सिद्ध की है। विश्व के अनेक दार्शनिक इस दर्शन को श्रेष्ठ मानते हैं, तो अनेक आध्यात्मिक लोग (Mystics)इसके अनुभूतियों के कायल हैं। जीवन की तलस्पर्शी अनुभूतियाँ वेदान्त को छोड़कर अन्य कहीं भी तर्क व युक्ति से प्रकाशित नहीं है। वेदान्त में प्रायः ४ प्रकरणों के ग्रन्थ हैं। सत्य मीमांसा, जगत् मीमांसा, साधनमीमांसा और फलमीमांसा, इन प्रकरणों में प्रतिपादित होते हैं। ये ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों की तरह है। वहाँ पहला अध्याय समन्वयाध्याय है, जिसमें उपनिषदों का समन्वय एकमात्र ब्रह्म में बताकर सत्य का निर्णय किया गया है। प्रकृति आदि में उपनिषदों का समन्वय नहीं हो सकता, यह बात स्पष्ट हो जाती है। फिर अविरोधाध्याय में जगत् के अन्य विचारकों की मान्यताएँ परस्पर विरुद्ध नहीं है, यह बताया गया है। यह अध्याय ही

वादप्रस्थान का मल है। इस प्रकार प्रमाणगत संशय तथा प्रमेयगत संशय की निवृत्ति होने पर इसमें स्थिति के लिए आवश्यक विपरीत भावना की निवृत्ति के उपयोगी विचार तीसरे में है। वेदान्त चूँकि स्वानुभूति का विषय है, अत: फलाध्याय से अपने-आपको को परखने की कसौटी मिल जाती है। यह अध्याय दूसरे को परखने के काम में नहीं आ सकता। जैसा सर्वज्ञ शंकरभगवत्पाद कहते हैं कि एक साथ अपनी निर्विकारता एवं जगत् की अन्त:करणादि रूप विकारिता को स्वानुभव से जानने के कारण इस विषय में विवाद नहीं करना चाहिए। इस विषय को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्त सिद्धारंजन नामक एक वेदान्ततत्त्वसमीक्षक ने श्रवण सम्पन्न होने पर ब्रह्मविद्, मनन सम्पन्न होने पर ब्रह्मविद्वर, तथा निदिध्यासन पकने पर ब्रह्मविद्वरीयान् माना है। मनन से असंभावना आदि संशय निवृत्त होकर ज्ञान स्थिर हो जाता है। विपर्ययनिवृत्ति होने से साक्षात्कार जैसी स्थिति निदिध्यासन से सम्पन्न हो जाती है। सर्वदा विज्ञानरूप से प्रतिष्ठा ही ब्रह्मविद्वरिष्ठता है। इसे प्राप्त करने पर प्रारब्धनिवृत्ति होते ही अखण्डानन्द रूपता की प्राप्ति हो जाती है। प्रारब्ध चाहे एक देह का हो, या अनेक देह का, यह विषय दूसरा है। उपनिषद स्पष्ट कहते हैं कि 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। अत: मोक्ष में ज्ञान एवं आनन्द तो स्वरूप से रहेंगे। अत: न केवल दु:खनिवृत्ति, वरन् आनन्दरूपता की स्थिति भी भावरूप से मोक्ष में प्रकट रहेगी। वस्तुत: अज्ञानरूपी अहंकार ही आगन्तुक व्यक्तित्व है, जो ज्ञान व आनन्द का आश्रय प्रतीत होता है। इस आगन्तुक भाव की निवृत्ति होकर ज्ञानानन्द का अनावृत्त होना ही मोक्ष है। अब जगत् की सत्यता एवं हमारा इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व सर्वथा निवृत्त हो जाता है। जैसा आचार्य शंकर कहते हैं 'कस्तां परानन्द रसानुभूतिं उत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् चन्द्रे महाहलादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत्' पूर्णचन्द्र के उदय होने पर जब महान् आह्लाद का रस प्रवाहित हो रहा हो, तो कौन पटचित्र के चन्द्रमा को देखना चाहेगा ? इसी प्रकार अज्ञान का पर्दा हट जाने पर परमानन्द के रस का प्रवाह जब अनुभूति रूप हो रहा हो, तब असत् तुच्छ विषयानन्द को कौन बुद्धिमान् चखना चाहेगा? क्योंकि विषय दृष्टि तभी बनेगी, जब निर्विषय दृष्टि हटेगी। इसी दृष्टि से लघुचन्द्रिका में गौडब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है कि 'विदेहकालीनस्तस्य एव मुख्यो मोक्ष:' क्योंकि जीवन्मुक्ति में 'ज्ञातत्वोपलक्षितस्य सर्वदासंभवाद् उपलक्षितस्यैव मोहनिवृत्तित्वम्' अर्थात् विदेहकालीन अविद्या का अस्तमय स्वरूप ही मोक्ष का मुख्य अर्थ है, क्योंकि उसके पहले सब समय ज्ञातत्व से उपलक्षित चैतन्य नहीं हो सकता, एवं ज्ञातत्व से उपलक्षित की ही मोहनिवृत्तिरूपता कही जा सकती है। स्वरूप से तो ब्रह्म सर्वदा ही मुक्त है। परन्तु ज्ञातता से ही मुक्ति का प्रतिपादन सम्भव है। आचार्य शंकर इस विषय में अधिक उदार दृष्टि अपनाते हैं। अज्ञाननिवृत्त होने पर कर्तव्यनिवृत्ति हो जाती है। प्रारब्ध काल में, तथा उसके बाद भी मोक्ष काल के लिए कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है।

इस प्रकार की अवस्था को ही वे मोक्ष मान लेते हैं। कहा जाता है कि "ब्रह्मानन्द" स्वरूप व लक्षण से मोक्ष को कहना चाहते हैं, परन्तु "सर्वज्ञ शंकर" ज्ञानी की दृष्टि से उसी का प्रतिपादन करते हैं। मण्डन मिश्र ने मरणपर्यन्त कर्तव्य का ध्यान रखने को कहा है, अन्यथा यथेच्छाचरण प्राप्त होकर ज्ञान के फल का प्रतिबन्ध हो जाएगा। यह सुरेश्वर को सर्वथा असंगत लगता है। यदि ज्ञान से अज्ञान नहीं हटा तो, कालान्तर में हटेगा किससे ? एवं हट गया तो अनादि होने से पुन: उत्पन्न नहीं हो सकता। अत: अज्ञाननिवृत्ति होने पर कर्त्तव्य की सर्वथा निवृत्ति ही शांकर सम्प्रदाय में सर्वसम्मत है। इसी दृष्टि से गौड ब्रह्मानन्द का मुख्य मोक्ष भी मोक्ष है और गौण मोक्ष भी मोक्ष है। अविद्या लेश की अनुवृत्ति से गौणता है, एवं अविद्यालेश की अननुवृत्ति से मुख्यता। जैसे रस्सी के जल जाने पर भी राख के उड़ने तक रस्सी की ऐठन दिखती रहती है। इस दिखने को लेकर गौण निवृत्ति कह सकते हैं और उड़ने पर मुख्य निवृत्ति। ऐसा ही यहाँ समझना चाहिए। परन्तु रस्सी तो जलकर निवृत्त हो ही गयी होती है।

वेदान्त धर्म का प्रधान विषय ईश्वर है। वस्तुत: संसार के सभी धर्मों के प्रतिपादन का विषयस्वरूप अन्ततोगत्वा ईश्वर ही पर्यवसित हुआ करता है। जो संसार का मूल कारण हो, व संसार का अन्तिम उद्देश्य हो, वही ईश्वर है। अत: माध्यमिकों का शून्य व विज्ञानवादियों का विज्ञान भी ईश्वर ही है। मीमांसकों का कर्ता भी ईश्वर ही है। सांख्यशास्त्र का पुरुष भी ईश्वर ही फलित होता है। योगियों ने उसे विशेष पुरुष भी कहा है। ईश्वरीय विशेष रूप के विषय को लेकर दार्शनिकों में अनेक मतभेद उपलब्ध होते हैं। इसका कारण ईश्वर के अनुभवकाल में संस्कारों की झिल्ली का बने रहना है। अनभूत्यनन्तर पुन: अन्त:करण के माध्यम से ही उसे प्रकट करने को बाध्य होना पड़ता है। अत: अन्त:करण की कारणता भी प्रविष्ट हो जाती है। वाणी में प्रकट करने की स्थिति में तत्तद्भाषाओं की सीमाएँ भी प्रविष्ट हो जाती हैं। अनेक अनुभवियों का स्वत: न लिखना, एवं उनके उपदेश को सुनकर जैसा समझा वैसा लिखने का प्रयत्न, उनके शिष्यों द्वारा होना भी एक कारण है।

अत: शिष्यों की समझ व प्रकाशनसामर्थ्य की सीमाएँ भी आ ही जाती हैं। इन सब सीमाओं के पार जाने पर निर्विशेष प्रत्यगात्मा ही बचता है। औपनिषद् पुरुष भी इसे कहा जा सकता है।

आत्मा की स्वयंसिद्धता—अद्वैत वेदान्तानुसार वेदान्त तत्त्वमीमांसा, अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र है "परमार्थ सत्तारूप ब्रह्म की एकता, तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता।" इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए कतिपय मौलिक सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अद्वैत वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है, जिसे भलीभाँति समझ

लेने पर ही अन्य तत्त्वों का अनुशीलन किया जा सकता है। वह तत्त्व है—"आत्मप्रत्यय की स्वयंसिद्धता जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है।" अनुभव के आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं। इस अनुभूति के स्तर में आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्धरूपेण अवस्थित रहती है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयं सिद्ध होती है, क्योंकि आत्मा की ज्ञातारूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान नितरां दुरुपपाद है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ने बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण शब्दों में स्पष्ट रूप से इस प्रकार करते हैं—

आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदशस्य निराकरणं संभवति आगन्तुक हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। न हि अग्नेरौष्णयमग्निना निराक्रियते। (ब्र०सू०शां०भा० २/३/७)

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि आत्मा प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय है, अतः इन व्यवहारों से पहले ही आत्मा की स्वरूपसत्ता सिद्ध रहती है, अतः व्यवहार के केन्द्र में स्थित आत्मवस्तु का निराकरण नहीं हो सकता। निराकरण होता है आगन्तुक वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है? अन्यथाभाव (परिवर्तन) ज्ञातव्य में सम्भव है ज्ञाता में नहीं। 'वर्तमान को इस समय जानता है' 'अतीत वस्तु को मैंने जाना' तथा 'अनागत वस्तु को मैं जानूँगा' इन व्यवहारों के अनुभव परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप से वर्तमान रहता है। अन्यत्र आचार्य ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया है कि "सब किसी को आत्मा के अस्तित्त्व में भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो पूर्व के विपरीत ऐसा विश्वास करे कि 'मैं नहीं हूँ'। यदि आत्मा की अस्तिता प्रसिद्ध न होती, तो सब किसी को अपने अनस्तित्त्व में विश्वास होता, परन्तु ऐसा न होने से आत्मा की स्वतः सिद्धि स्पष्टतः प्रमाणित होती है—

"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्" (ब्र०सू० १/१/१ पर शां.भा.)

अतः आत्मा के अस्तित्त्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत पहले ही कहा था कि "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृह. २/४/१४) अर्थात् जो सब किसी का जानने वाला है, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं? सूर्य के प्रकाश के बिना भले ही जगत् संसार के कुछ

वस्तुओं को अन्य साधनों से प्रकाशित कर लें, किन्तु समस्त को कैसे प्रकाशित किया जा सकता है ? इसी प्रकार प्रमाणों की सिद्धि का कारणीभूत आत्मा किसी प्रमाण के बल पर कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? अत: आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध होती है । इस विषय में आचार्य सुरेश्वर भी कहते हैं कि—

यतो राद्धिः प्रमाणानां स कं तैः प्रसिध्यति । (सुरेश्वराचार्य)

आत्मा की ज्ञानरूपता—आत्मा ज्ञानरूप है, और ज्ञाता भी है । ज्ञाता वस्तुत: ज्ञान से पृथक् नहीं होता । ये दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं है । ज्ञेय पदार्थ के आविर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञातारूप से प्रकट हो जाता है, परन्तु ज्ञेय के न रहने पर ज्ञाता की कल्पना ही नहीं उठती । जगत् की ज्ञेयरूपेण जब उपस्थिति रहती है, तभी आत्मा के ज्ञातारूप का उदय होता है । परन्तु उसके अभाव में आत्मा की ज्ञानरूपेण सर्वदा स्थिति रहती है । एक ही ज्ञान कर्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होने पर भिन्न सा प्रतीत हाता है, परन्तु वह वास्तव में एक ही अभिन्न पदार्थ है । 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा, आत्मा को जानता है) इस वाक्य में कर्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही वस्तु है । रामानुज ने भी धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मान कर इसी सिद्धान्त को अपनाया है । नित्य-भूतआत्मा का ज्ञानस्वरूप होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि ज्ञान भी नित्यानित्यभेद से दो प्रकार का होता है । अनित्य ज्ञान अन्त:करणावच्छिन्न वृत्तिमात्र है, जो विषय सान्निध्य होने पर उत्पन्न होता है, परन्तु तदभाव में अविद्यमान रहता है । दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है । वह सर्वथा, तथा सर्वदा विद्यमान रहता है । आचार्य ने ऐतरेय उपनिषद (२/१) के भाष्य में इस विषय का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है । दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्र की दृष्टि अनित्य है, क्योंकि तिमिर रोग के हो जाने से वह नष्ट हो जाती है, पर रोग के अपनयन होने पर उत्पन्न हो जाती है । परन्तु आत्मा की दृष्टि नित्य हुआ करती है, लोक में भी आत्मदृष्टि की नित्यता प्रमाणगम्य है, क्योंकि जिसका नेत्र निकाल लिया गया हो, वह भी कहता है कि स्वप्न में मैंने अपने भाई को या किसी प्रिय को देखा ।

बधिर पुरुष भी स्वप्न में मन्त्र सुनने की बात कहता है । अत: आत्मा की दृष्टि, तथा ज्ञान नित्यभूत है । नित्य आत्मवस्तु के ज्ञानस्वरूप होने में संशय के उठने की गुंजाइश नहीं है ("द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चात्मन: । आत्मदृष्ट्यादीनां नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके । वदति हि उद्धृतचक्षु: स्वप्नेऽद्ययो भ्राता दृष्ट इति ।" -ऐत० भाष्य २/१)

आत्मा की अद्वैतता—प्रत्येक विषयानुभूति में दो अंश होते हैं— अनुभव करने वाला आत्मा, तथा अनुभव का विषयभूत ज्ञेयपदार्थ । वास्तववादी की दृष्टि में अर्थात् सांख्य-योगाऽऽदिशास्त्राऽनुयायीगणों की दृष्टि में जीव और जगत् दो पृथक्भूत स्वतन्त्र

सत्ताएँ हैं, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर आत्मा की ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होती है, जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिकी है- व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकृत की गई है। आचार्य जगत् की व्यावहारिकता प्रदर्शन के अवसर पर कहते हैं—"ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, तथा नित्य है। चक्षुरादि द्वारों से परिणत होने वाली बुद्धि की जो शब्द स्पर्शादि प्रतीतियाँ हैं, वे आत्म-विज्ञान के विषयभूत ही होकर उत्पन्न होती है। इस प्रकार वे आत्मज्ञान के द्वारा व्याप्त होती है।" ("विषयाकारेण परिणामिन्यो बुद्ध्यो ये शब्दाद्याकारावभासा: त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते" तैत्ति०भा०, २/११)

अत: जगत् की समस्त वस्तुएँ आत्मविज्ञान के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होती हैं। नामरूप से विकारभाव को प्राप्त होने वाले पदार्थ अन्तर्निविष्ट कारण शक्ति के साथ ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नामरूप की जिन-जिन अवस्थाओं में विकृति होती है, उन सब अवस्थाओं में यह विकृति आत्मस्वरूप का परित्याग नहीं करती, अर्थात् कार्यसत्ताओं में कारणसत्ता सर्वथा और सर्वदा अनुस्यूत रहती है। क्या कार्यरूप घट स्वकीयकारण मृत्तिका का परित्याग करके, एक क्षण के लिए भी टिक सकता है ? इस विषय में भाष्यकार की उक्तियाँ नितान्त स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थ केवल सन्मूलक ही नहीं है, अपितु स्थितिकाल में भी वे सत् ब्रह्म के अधिष्ठान पर ही आश्रित हैं ("प्रजा: न केवलं सन्मूला एव इदानीमपि। स्थितिकाले सदायतना: सदाश्रया एव"—(छा०भाष्य ६/४)। जगत् की कलायें उत्पत्ति, स्थिति और लय की दशाओं में सर्वदा चैतन्य से अव्यतिरिक्त (अपथग्भूत) ही रहती हैं। चैतन्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। अत: अपने जीवन की सब अवस्थाओं में पदार्थ ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप से स्थित रहते हैं।

"चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्य: प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते- (प्रश्न भाष्य ६/२")

इस विशाल विश्व के भीतर देश-काल से प्रविभक्त, भूत, वर्तमान या भविष्यत् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो आत्मा से पृथक् हो=भिन्न हो ("न हि आत्मनाऽन्यत् तत् प्रवभिक्तदेशकालं भूतं भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते।"—("शारी० भा० २/१/६")

नामरूपात्मक विकारों के भीतर एक ही आत्मस्वरूप चैतन्य रूप में झलक रहा है।[1] अत: प्रत्येक अनुभूति में हम आत्मा की ही विषयी या विषय रूप से, कर्ता या कर्म

१. *यदा नामरूपे दयाक्रियेते तदा नामरूप आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वासु अवस्थासु व्याक्रियेते।*

रूप से एक अखण्डाकार के रूप में उपलब्धि प्राप्त किया करते हैं। एक ही अद्वैत सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है, विषयी-विषय का पार्थक्य परमार्थत: न होकर व्यवहारमूलक ही है।

देश काल की उपाधि द्वैत सत्ता को सिद्ध करती है। यहाँ-वहाँ का भेद देशजन्य है। भूत, वर्तमान की कल्पना काल के ऊपर आश्रित है। देशकाल की कल्पना अद्वैत की कल्पना को उन्मूलित-सी करती है...... परन्तु आपातत: ही। शंकराचार्य ने "दक्षिणामूर्तिस्तोत्र" (श्लोक२) में स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि देशकाल की कल्पना मायाजनित है (माया कल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतं) थोड़ा भी विचार करने से प्रतीत होता है कि देशकाल अद्वैत सिद्धान्त के व्याघातक नहीं है। घर की दिवाल उसे बाह्य वस्तुओं से पृथक् करती सी प्रतीत होती है, परन्तु यह प्रतीति काल्पनिक है, क्योंकि ज्ञान रूप से आत्मा के अवभासित किये जाने के कारण दीवाल भी आत्मा से भिन्न नहीं है, तब दिवाल से अभिन्नता को प्राप्त हुई आत्मसत्ता वस्तुओं को व्यवच्छेदक रूप में अवस्थित क्यों कर सकता है ? विषयात्मक होने से दिक् भी आत्मा से अनन्य है, तब आत्मा स्वरूप दिक् आत्मचैतन्य से अवभासित तथा व्याप्त पदार्थों को पृथक् कैसे कर सकता है ?

प्राची-प्रतीची आदि उपाधियों से विभक्त दिक् की आत्मा में किसी प्रकार व्याघात नहीं होता। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों की सत्ता रहने पर भी आत्मा की एकता या अद्वैतता का व्याघात-साधन नहीं होता। कठोपनिषद् ने अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा कर इसी कारण भेद-दृष्टि की निन्दा की है—"यदेवेह तदमुत्र तदन्विह। मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥" (क०उ०, २/१/१०)

ब्रह्म—इसी निर्विकल्पक निरुपाधिक तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। श्रौत दर्शन के परिच्छेद में हमने देखा है कि उपनिषदों ने निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म दोनों का प्रतिपादन किया है, परन्तु आचार्य शंकर की सम्मति में निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। श्रुति का पर्यवसान निर्गुण की व्याख्या में ही है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ही पारमार्थिक है। सगुण ब्रह्म तो जगत् के समान माया विशिष्ट होने से मायिकसत्ता के साथ ही साथ अपनी स्वरूपसत्ता को भी धारण किया करता है। आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—१. स्वरूप लक्षण २. तटस्थ लक्षण।

'स्वरूप लक्षण'-पदार्थ के सत्य तात्विकरूप का परिचय देता है, परन्तु "तटस्थ लक्षण" कतिपय कालावस्थायी आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। लौकिक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय नरेश की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर अवतीर्ण होता है, जहाँ वह शत्रुओं को

परास्त कर अपनी विजय वैजयन्ती फहराता है, और अनेक शोभन कृत्यों का सम्पादन कर प्रजा का अनुरंजन करता है। परन्तु इस ब्राह्मण के सत्यस्वरूप के निर्णय करने के लिए उसे राजा बतलाना क्या उचित है ? राजा है वह अवश्य, परन्तु कब तक ? जब तक नाट्य-नाटक व्यापार चलता रहता है। नाटक की समाप्ति होते ही वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है। अत: उस पुरुष को नाटक के काल से युक्त की अवस्था में क्षत्रिय राजा मानना ''तटस्थ'' लक्षण हुआ, तथा ब्राह्मण बतलाना 'स्वरूप'' लक्षण हुआ।

''स्वरूपं सद व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्। कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्।''

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय का कारण है, तथा आगन्तुक गुणों का समावेश करने के कारण यह उसका ''तटस्थ'' लक्षण है। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तैत्ति०उप० २/१/१) तथा '' विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (बृह०उप० ३/९/२८) ब्रह्म के स्वरूप प्रातिपदिक लक्षण है। आचार्य ने सत्यादि शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यंजना की है। सत्य, ज्ञान तथा अनन्त शब्द एक विभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत हो रहे हैं, ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण है। परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब एकजातीय अनेक विशेषणयोगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो। परन्तु ब्रह्म के एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उत्पत्ति नहीं होती। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये विशेषण लक्षणार्थ प्रधान हैं। विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है। विशेषण, विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करने वाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे अर्थात् उस लक्षणाऽन्वितलक्ष्य को अपने सजातीय, विजातीयस्वरूप सभी प्रकार के वस्तुओं से व्यावृत्त कर देता है। अत: ब्रह्म के एक होने के कारण सत्यम् ज्ञानम् ब्रह्म के लक्षण है, विशेषण नहीं। ''समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य। लक्षणं तु सर्वत एव। यथाऽवकाशप्रदात आकाशमिति।'' (तैत्ति०भा०, २/१) सत्य का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होने वाला पदार्थ.......(यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरित तत् सत्यम्) अब ब्रह्माऽऽत्मवस्तुस्वरूप कारण सत्ता ब्रह्म में जगत्कारणत्व होने पर मृत्तिका के समान अचिद्रूपता प्राप्त न हो जाय, अत: ''ब्रह्म के लक्षण में सत्यं के साथ-साथ ''ज्ञानम्'' को भी कहा गया है। ज्ञान का अर्थ है 'अवबोध' जो अपनी सत्ता के स्फुरण से स्व एवं पर सभी को स्फुरित क, वह ज्ञान कहा जाता है। एवं लक्षणकुक्षि में ''अनन्त'' पदाऽर्थ वह है, जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके, जिस अद्वैतवस्तु को परिच्छिन्नाऽऽत्मक देश-काल एवं वस्तु अपने में आधारता न प्रदान कर सके, वही अनन्त है। (यदि न कुतश्चित् प्रविभज्यते तद् अनन्तम्)। यदि ब्रह्मज्ञान को कर्ता माना जाएगा, तो उसे ज्ञेय तथा ज्ञान से विभाग करना पड़ेगा। ज्ञान-

प्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अत: अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है, ज्ञान का कर्ता नहीं। अत: ब्रह्म जगत् का कारण ज्ञान स्वरूप लक्षण है। परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है, जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है, शंकर के अनुसार, ब्रह्म सजातीय, विजातीय, तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित है, परन्तु रामानुज की सम्मति में ब्रह्म प्रथम दो भेदों से रहित न होने पर भी, स्वगत-भेद से शून्य नहीं है, क्योंकि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में चिदंश-अचिदंश से नितान्त भिन्न है। अत: अपने में विद्यमान इन भिन्न विरोधी अंशों के सद्भाव के कारण रामानुज दर्शन में ब्रह्म स्वगत-भेद सम्पन्न स्वीकृत किया गया।

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों हुई ? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर के लिए माया के स्वरूप को जानना आवश्यक है। शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया हैं (शारी० भा० १/४/३) परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम माया है। मायारहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती, और न वह जगत् की सृष्टि कर पाने की स्थिति में पहुँच सकता है। यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं। इसी आशय को प्रकट करने वाला आचार्य का वचन पुन: इस रूप में व्यक्त हुआ है—

"अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्ति: यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिता: शेरते संसारिणो जीवा:।" (१/४/८ शारी०भा०)

अग्नि की पृथक्भूता दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ज्ञानविरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरूप कहने से अभिप्राय है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्, इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे "अनिर्वचनीय" कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से, या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी अद्वैतशास्त्रीय संज्ञा अनिर्वचनीय हुआ करती है। माया को सत् कह नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म-बोध से उसका बोध अवरुद्ध होता है। 'सत्' तो त्रिकालाबाधित' होता है। अत: यदि वह सत् होती तो कभी बाधित नहीं होती, अथ च उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे असत कहना भी न्यायसंगत नहीं, क्योंकि असद वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती (सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेत न प्रतीयेत)। सद्भाव रहने से माया को अनिर्वचनीय ही कहना पड़ता है। प्रमाणसहिष्णुत्व ही अविद्या का अविद्यात्व है।

''अविद्याथा अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् ।

यत् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत् ।।'' बृह०भाष्य वार्तिक १८१

तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करता है । सूर्योदयकाल में अन्धकार के भाँति ज्ञानोदय काल में माया टिक नहीं सकती । अत: नैष्कर्म्यसिद्धि[१] का कहना है कि ''यह भ्रान्ति आलम्बन हीन, तथा सब न्यायों का नितान्त विरोधिनी है । जिस प्रकार अन्धकार सूर्य को आच्छादित सा कर लेता है, किन्तु उसकी शाश्वतिक सत्ता नहीं होती, इस प्रकार प्रमाणसहिष्णु और विचारसहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना, तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है । इसीलिए शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान की अव्यक्त शक्ति है, जिसके आदि का पता नहीं चलता वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है । उसका पता उसके कार्यों से चलता है । वही इस जगत् को उत्पन्न करती है—

अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।

कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ।।

(विवेकचूड़ामणि; श्लो० ११०)

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभय रूप भी नहीं है । वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभय रूप है । न अंग सहित है, न अंग रहित है और न उभयात्मिका ही है, किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है— वह ऐसी है, जो कहीं न जा सके—

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।

सांगाप्यनंगाप्युभयत्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा ।।

(विवेकचूड़ामणि, श्लो० १११)

माया की शक्तियाँ—माया की दो शक्तियाँ होती है— आवरण तथा विक्षेप ।

शक्तिद्वयं हि मायया विक्षेपावृत्तिरूपकम् ।

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ।।

---

१. *सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधनी ।*

सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरणम् ।। नैष्कर्म्यसिद्धि २/६६

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ।।

(दृग्दृश्यविवेक, श्लो० १३,१५)

इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तवरूप को आवृत् कर, उसमें अवस्तुरूप जगत् की प्रतीति का उदय होता है । लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचार-शील पुरुष को इन दोनों शक्तियों की निःसन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए बिना रह नहीं सकता । अधिष्ठान के सच्चे रूप को जब तक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उस पर नहीं की जाती, तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नहीं सकती । भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है । ठीक इसके अनुरूप की भ्रान्तिस्वरूपा माया में इन दो शक्तियों की उपलब्धि पाई जाती है । आवरणशक्ति ब्रह्म के शब्दस्वरूप को मानो ढक लेती है, और विक्षेपशक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है । जिस प्रकार एक छोटा सा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्यमण्डल को आच्छादित सा कर देता है, उसी प्रकार परिच्छित अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित सा कर देता है । इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है । जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान, अज्ञानावृत रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् प्रपञ्च को उत्पन्न करती है । इस शक्ति का अभिधान 'विक्षेप' है । मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है । चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण, है और उपाधि-पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादान कारण है । अतः ब्रह्म की जगत् कर्तृता में माया को ही सर्वप्रधानतया कारण मानना उचित है ।

ईश्वर—यही निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा अवच्छिन्न होने पर सविशेष या सगुण-भाव को धारण करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं । विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण यही ईश्वर है । परन्तु ईश्वर का जगत् सृष्टि करने में कौन सा उद्देश्य सिद्ध होता है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । बुद्धिपूर्वकारी चेतन पुरुष की मन्दोपक्रम प्रवृत्ति भी बिना किसी प्रयोजन को सिद्ध कर पाने में कारण नहीं होती, तो इस गुरुतर संरम्भवाली प्रवृत्ति का प्रयोजन खोज निकालना आवश्यक है । श्रुति ईश्वर को सर्वकाम कहकर पुकारती है, अर्थात् उसकी सब इच्छायें परिपूर्ण है । यदि ईश्वर का इस सृष्टि व्यापार से कोई आत्म-प्रयोजन सिद्ध होता है, तो परमात्मा का श्रुति-प्रतिपादन परितृप्तत्व बाधित होता है । अथ च यदि निरुद्देश्य प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाय, तो ईश्वर की

सर्वज्ञता को गहरा धक्का लगता है। जो सब वस्तुओं का ज्ञाता है, वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है ? अत: परमेश्वर का यह व्यापार लीला मात्र है। जैसे लोक में सकल मनोरथ की सिद्धि होने वाले पुरुष के व्यापार, बिना किसी प्रयोजन के लीला के लिए होते हैं, उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टि व्यापार लीला विलास है। (२/१/३२-३३, शां०भा०)

ईश्वर के उपादानकारणता विषयक विचार—ईश्वरकर्तृत्व के विषय में वेदान्त तथा न्याय-वैशेषिक के मत पृथक्-पृथक् है। न्याय ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानता है। परन्तु वेदांत के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि इच्छापूर्वक है- "स ईक्षांचक्रे। स प्राणमसृजत (प्रश्न ६/३-४)"। ईक्षण पूर्वक सृष्टिव्यापार के कर्ता होने के कारण ईश्वर निमित्त कारण नि:सन्देह है, पर उसके उपादानत्व के उद्भावक प्रमाणों की भी कमी नहीं है। उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में जिज्ञासानिवर्त्तक यह समाधान प्रस्तुत किया गया है कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं, वह वस्तु पुन: ब्रह्म ही है, इस प्रकार ऋषियों के द्वारा ब्रह्म ही उपदिष्ट है। इसका तात्पर्य यह है कि—जिस प्रकार एक मृत पिण्ड के जानने से समग्र मृण्मय (मिट्टी के बने) पदार्थों का ज्ञान हों जाता है, क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूपात्मक है, उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं। (छान्दोग्य० ६/१/२) ब्रह्म की मृत्तिका के साथ दृष्टान्त उपस्थित किये जाने से ब्रह्म का उपादानत्व नितान्त स्पष्ट है (ब्रह्मसूत्र १/४/२३)। मुण्डक (३/१/३) ब्रह्म को "योनि" शब्द से अभिहित करता है (कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्)। अत: ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण, अथ च उपादान कारण दोनों सिद्ध होता है। वेदान्त चेतन ब्रह्म को जगत् कारण मानने में विरोधियों के अनेक तर्कों का भी समुचित खण्डन करता है। जो लोग सुख-दु:खात्मक तथा अचेतन जगत् से विलक्षण होने के कारण ईश्वर को कारण मानने के लिए तैयार नहीं है, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अचेतन गोमय पिण्ड से चेतन वृश्चिक का जन्म होता है और चेतन पुरुष से अचेतन नख-केश उत्पन्न होते हैं। परन्तु उपादान कारणत्वेन दोनों की एकता सिद्ध है, तो भोक्ताभोग्य का विभाग न्यायसंगत कैसे प्रतीत होगा ? परन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी तथा घड़ों में वास्तव एकता होने पर भी व्यवहारिक भेद अवश्य है उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी वास्तव अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है। (ब्र०सू०शां०भा०-२/१/१४)

उपासना के लिए भी निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है। ब्रह्म वस्तुत: प्रदेशहीन है, तथापि उपाधिविशेष से सम्बन्ध होने से वही ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रदेशों

में स्वीकृत किया जाता है। इसीलिए उपनिषदों के विविध स्थलों में ब्रह्म को उद्देश बना कर सूर्य में, नेत्र में, हृदय में, उसकी उपासना से सम्बन्धित विचारों को व्यक्त रूप में कही गई है। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि द्विविध ब्रह्म के ज्ञान तथा उपासना का फल भी वस्तुत: भिन्न होता है। जहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म को आत्मरूप बतलाया गया है, वहाँ फल अद्वैताऽऽत्मलाभस्वरूप मोक्ष ही होता है, परन्तु जहाँ प्रतीक उपासना का प्रसंग आता है, अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध किसी प्रतीक (सूर्य, आकाश आदि) विशेष से बतलाया गया है, वहाँ संसारगोचर ही फल प्रकट होता है, किन्तु उस फल की अनेकता, कामना करने वाले पुरुष की अनेकता के कारण सिद्ध होती है, अर्थात् भिन्न-भिन्न होते हैं। इस विषय को ब्र०सू०शां०भा० में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"यतो हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तन्नैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येव उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते (—१/९/२४ भाष्य)। उपास्य-उपासक की भेददृष्टि से ही यह कल्पना है। अत: ईश्वर और जीव की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं, उपाधि के काल्पनिक विलास के सिवाय और कुछ नहीं है। इसीलिए पञ्चदशीकार कहते हैं—

"मायाख्याया: कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वराबुभौ।

यथेच्छ पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि।।" (पञ्चदशी ६/२३६)

जीव—अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। आचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं। इस विषय से सम्बद्ध शाङ्करभाष्य का स्वरूप इस प्रकार है—

"अस्ति आत्मा जीवाख्य: शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्ष: कर्मफल सम्बन्धी (शां०भा० २/३/१७")

द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद के उत्तरार्ध में आत्मा के विषय में सूत्रकार ने अनेक ज्ञातव्य विषयों का उल्लेख किया है। पहला प्रश्न है कि उपनिषदों में आत्मा के उत्पत्तिविषयक वाक्यों का क्या रहस्य है ? यदि आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला माना जाता है, तो उसकी उत्पत्ति की उपपत्ति कैसे सिद्ध हो सकती है ? इसके उत्तर में सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि शरीरादि उपाधियों की ही उत्पत्ति होती है, नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता (२/३/१७ शां०भा०)। आत्मस्वरूप के विषय में भी दार्शनिकों की विभिन्न कल्पनायें हैं। सुप्त, मूर्छित तथा ग्रहाविष्ट पुरुषों में कतिपय काल तक चैतन्याभाव को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव का पक्षपाती वैशेषिकदर्शन चैतन्य को

आत्मा का कादाचित्क गुण मानता है। परन्तु वेदान्त की सम्मति में आत्मा चैतन्य-रूप ही है, क्योंकि परब्रह्म ही उपाधि सम्पर्क से जीवभाव के रूप में पर्यवसित हुआ विद्यमान रहता है। अत: आत्मा में ब्रह्म के साथ स्वभावगत ऐक्य होने पर नित्य चैतन्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता (शां०भा० २/३/१८)। सूत्रभाष्य में आत्मा के परिमाण का भी विशेष विचार किया गया है। अनेक श्रुतिवाक्यों के आधार पर पूर्वपक्ष का कहना है कि आत्मा अणु है, भाष्यकार का उत्तर है—नहीं। परब्रह्म के विभु होने से तत्तुल्य आत्मा का भी शास्त्रों में प्रचुर उपदेश उपलब्ध होने से जीवाऽऽत्मा का स्वरूप भी विभुपरिमाण ही युक्तियुक्त है। आचार्य ने अणुत्वकल्पना की उपपत्ति यह कहकर दिखलाई है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही आत्मा अणु स्वीकार किया गया है (२/३/४३ शां०भा०) आत्मचैतन्य जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति-त्रिविध अवस्थाओं में, तथा (द्रष्टव्य ब्र०सू० ३/२/१---१० तथा तैत्ति० उप० २/१ का शांकरभाष्य।) अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पाँच कोशों में उपलब्ध होता है, परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन कोश प्रञ्चक से नितान्त परे,की वस्तु है। इसी तरह स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव की विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ संज्ञाएँ और इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर की वैश्वानर (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर संज्ञाएँ दी गयी हैं। परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतन्त्र सत्ता स्वरूप है। निम्नलिखित कोष्ठक में यह विषय संग्रहीत किया जाता है—

शरीर	अभिमानी	कोश	अवस्था
स्थूल	समष्टि-वैश्वानर व्यष्टि-विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	समष्टि-सूत्रात्मा व्यष्टि-तैजस	मनोमय प्राणमय	स्वप्न
कारण	समष्टि-ईश्वर व्यष्टि-प्राज्ञ	विज्ञानमय आनन्दमय	सुषुप्ति

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं, तो विषयों को प्रकाशित करती है, और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं, तो वे 'अहं' कर्ता को अभिव्यक्त करती है। जीव की उपमा नृत्यशाला स्थित दीपक से बड़ी सुन्दर रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रंगस्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है, और इनके अभाव में स्वत: प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है, और इनके अभाव में स्वत:

प्रद्योतित होता है।

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ।

तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ।। पञ्चदशी १०/१४० ।

बुद्धि में चाञ्चल्य होता है, और बुद्धि से युक्त होने से जीव चंचल सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह शान्त है।

जीव और ईश्वर—इस दोनों तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रीति से किया है। एक आचार्य की सम्मति में जीव और ईश्वर में सामान्य रूप से रहने वाला चैतन्य बिम्ब स्थानीय है। उसी का प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न उपाधियों में पड़ने से भिन्न नाम ग्रहण करता है। चैतन्य का वह प्रतिबिम्ब जो माया या अविद्या में पड़ता है "ईश्वर चैतन्य" कहलाता है और जो अन्तःकरण में पड़ता है, बह "जीव चैतन्य" नाम से अभिहित होता है। इस मत में जीव और ईश्वर में वही अन्तर और भिन्नता है जो घट तथा जलाशय के जल में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब में होता है। परन्तु इस मत में परमेश्वर में अविद्या से उत्पन्न दोषों की सम्भावना बनी रहती है। उपाधि प्रतिबिम्ब को प्रभावित करती है। अतः अविद्या अपने में प्रतिबिम्बित चैतन्य को अवश्य ही अपने दोषों से दूषित करेगी, इसीलिए इस मत के मानने में आपत्ति है।

दूसरे मत में ईश्वर चैतन्य ही बिम्ब के स्थान में माना जाता है, जिसके प्रतिबिम्ब को हम लोग जीव के नाम से पुकारते हैं। दोनों में चैतन्य एक ही प्रकार का है। अन्तर इतना ही है कि जब वह बिम्बाकार धारण करता है तब 'ईश्वर' कहलाता है, और प्रतिबिम्ब से आच्छादित रहता है, तो 'जीव' नाम से अभिहित होता है। सच तो यह है कि चैतन्य एक ही अविच्छिन्न वस्तु है, उसमें बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब की कल्पना उपाधिजन्य है। 'एक जीव' मानने वालों के मत में यह उपाधि अविद्या है, नाना जीववाद में यह उपाधि अन्तःकरण है। इन्हीं उपाधियों के कारण ही तो जीव और ईश्वर में भेद है। इस मत में बिम्बभूत चैतन्यरूप ईश्वर में उपाधियों का दूषण कथमपि स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार आकाशस्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है और इन प्रतिबिम्बों में पार्थक्य है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अन्तर है।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जगत् का स्वरूप—जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी मायाशक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी होती है। जादू उन्हीं लोगों को व्यामोह में डाल सकता है जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं, परन्तु उसके रहस्यवेत्ता पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल व्यामोह का विषय नहीं होता। ठीक इसी प्रकार यह जगत् अद्वैत सत्ता से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए ही अपनी

सत्ता बनाये रहता है, परन्तु अद्वैततत्त्व के ज्ञानियों के लिए संघर्ष, उसकी सत्ता निराधार तथा निर्बल है। इस विषय में एक विशेष समस्या का हल करना नितान्त आवश्यक है। समस्या यह है—जगत् सत्य है ? या असत्य ? 'जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त ने सर्वसाधारण में कौन कहे, शिक्षित पुरुषों में भी यह धारणा फैला रखी है कि अद्वैतमतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य-परिवर्तनशील या परिणामस्वभाव ही जगद् है। परिणाम, प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है=जगत् का अव्यभिचारी धर्म है। एक क्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्तिशून्य नहीं रहता।

सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्य ने दी है, उसके अनुसार जगत् सत्य नहीं माना जा सकता। आचार्य के शब्दों में, "यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्" अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सतत्, समभाव से विद्यमान रहे, तो उसे सत्य कहते हैं। इस प्रतिक्षण-परिणामी, सतत चंचल, नियत-परिवर्तनशील संसार की कोई भी वस्तु इस परिभाषा के अनुसार सत्य कोटि में नहीं आ सकती। तो क्या जगत् नितान्त असत्य है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करते हुए आचार्य ने स्वयं दिया है। विज्ञानवादियों का मत है कि इन्द्रियार्थ-प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रियसन्निकर्ष सब बुद्धि में हैं। जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्याभूत हैं। जिस प्रकार स्वप्न, मायामरीचिका आदि प्रत्येक बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्यग्राहक आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी बाह्यार्थशून्य हैं। परन्तु आचार्य का कहना है कि बाह्यार्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप से हमें हो रही है। प्रतिक्षण अनुभूयमान पदार्थों की सत्ता, उनके बोध के बाहर न मानना, उसी प्रकार उपहास्यास्पद है, जिस प्रकार स्वादु भोजन कर तृप्त होने वाला पुरुष, जो न तो अपनी तृप्ति को ही माने और न भोजन की बात स्वीकार करे (ब्र०सू०शां०भा० २/२/२८)। बौद्धों का यह कथन कि बाह्यपदार्थ वास्तव में होता नहीं है, किन्तु बाहर में होने के समान प्रतीत होता है, भ्रम के कारण ही भ्रमविषय बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध कर रहा है। जगत् स्वप्नवत् अलोक है, इस मत का खण्डन (ब्र०सू०शां०भा० २/२/२९) भाष्य में आचार्य ने नितान्त स्पष्ट शब्दों में किया है। वे कहते हैं—

वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थाया बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। (ब्र०सू०शां०भा० २/२/२९)।

स्वप्न और जागरित अवस्था में स्वरूपगत भेद है। स्वप्न दशा का बाध होता है,

परन्तु जागरित अवस्था का कभी भी बाध नहीं होता। स्वप्न में देखे गये पदार्थों का जागने पर अनुपलब्धि होने से बाधित होना प्रत्यक्ष ही सर्वजनसिद्ध है, परन्तु जागृत अवस्था में अनुभूत स्तम्भादि पदार्थों का किसी भी दशा में बाध नहीं होता। एक और भी महान् अन्तर है। स्वप्न ज्ञान स्मृतिमात्र है, परन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है, साक्षात् अनुभवरूप है। अत: दोनों की भिन्नता एकदम स्पष्ट है। ऐसे स्पष्ट प्रतिपादन के होते हुए भी जगत् को असत्य कहना कहाँ तक यथार्थ है ? व्यवहार में इस व्यावहारिक वस्तु का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। परन्तु ब्रह्मात्म के ऐक्य ज्ञान होने पर, ज्ञानी पुरुषों के लिए यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मात्मानुभव के द्वारा बाधित होती है। अत: उस जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् की बाधितानुवृत्ति रहती है, पर व्यवहार दशा में यह जगत् उतना ही ठोस तथा वास्तव है, जितना अन्य कोई पदार्थ। अत: जगत् की पारमार्थिकी स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता मान्य है।

सृष्टि—तम: प्रधान, विक्षेपशक्ति के युक्त अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्रारूप आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले (पंच कर्मेन्द्रिय,पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, वायु पञ्चक और बुद्धि-मन) सूक्ष्म शरीरों की और स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूलभूत पञ्चीकृत होते हैं, अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना अंश आधा होता है और अन्य चारों भूतों के अष्टम अंशों को मिलाकर आधा होता है, जैसे आकाश = १/२ आकाश+ १/८ पृथ्वी+ १/८जल+ १/८तेज+ १/८वायु। प्रत्येक स्थूल भूत पंचभूतात्मक होता है। (पञ्चदशी १)

अद्वैतमताऽनुसार त्रिविधसत्ताविषयक विचार— सत् वही है, जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न हो, और असत् वही है जो उत्तरकालीन उपलब्धि के द्वारा बाधित हो, सत्यत्व अबाध्यत्वस्वरूप होता है, और असत्यत्व बाध्यत्व स्वरूप हुआ करता है। घनघोर अन्धकारमयी रजनी में विद्यमान रास्ते के ऊपर पड़ी रस्सी को देखकर द्रष्टा पुरुष को सर्प का ज्ञान होता है, संयोगवश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर दीपक की सहायता से रस्सी देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है। यह पूर्वकालीन सर्पज्ञान उत्तरकालीन रज्जुज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अत: रज्जु में सर्पज्ञान बाधित होने से मिथ्या है। परन्तु यदि मेढकों की आवाज सुनकर हमें उनके खानेवाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो, और उसी प्रकार बिजली के चमकने से घासों में भागने वाला साँप दीख पड़े, तो कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान अबाधित होने से सत्य है। सत्य के इस सामान्य परिचय को प्रामाणिक बनाने की दृष्टि से वेदान्तियों ने अबाध्य के प्रथम त्रिकाल शब्द की योजना की है। अत: सत्य की शास्त्रीय परिभाषा त्रिकालाबाध्यं

सत्यं है—भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों लोकों में तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो, अर्थात् एक रूपेण अवस्थित रहे, वही सत्य है। शंकराचार्य के शब्दों में इसका स्वरूप इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है—"एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थ: स परमार्थ:।"

१. "रज्ज्वात्मनाऽवबोधाद् प्राक् सर्प: सन्नेव भवति। सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादे: सर्पादिवत् जन्म युज्यते"— (माण्डूक्यकारिका ३/२७ भाष्य।) ब्रह्म ऐसा एक ही तत्त्व है—जो तीनों काल में समभाव से उपस्थित है, सर्वदा सर्वत्र निर्बाध है। वह एक है, तथा अद्वितीय है। ब्रह्म से पृथक् समस्त नानात्मक जगत् मिथ्या है।

सत्ता तीन प्रकार की अद्वैतवेदान्त मत में मानी जाती है— (क) प्रतिभासिक या प्रातीतिक, (ख) व्यावहारिक, (ग) पारमार्थिक। (क) प्रातिभासिक सत्ता से अभिप्राय उस सत्ता से है जो प्रतीतिकाल में सत्यतया प्रतिभासित हो, परन्तु उत्तरकाल में बाधित हो जाय। जैसे रज्जु-सर्प, शक्ति-रजत आदि। मृगतृष्णिकादि पदार्थ आधारहीन (निरात्पद) नहीं है (नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति—(शां०भा०)। प्रतीति से पूर्वकाल में रज्जु सर्पज्ञान को उत्पन्न करती है, वर्तमान में उसी के आधार पर सर्पज्ञान की अवस्थिति है और भविष्य में इसी आधार में रज्जुज्ञान के उदय होने पर सर्पज्ञान अन्तर्हित हो जाएगा। (१)

(२) **अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।**
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।। (दृग्दृश्यविवेक श्लोक २०)

अत: रज्जु-सर्प का ज्ञान आकाशकुसुम के समान निराधार नहीं है।

ख) व्यावहारिक सत्ता इस जगत के समस्त व्यवहारगोचर पदार्थों में रहती है। जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं— अस्ति, भाति, प्रिय, रूप, तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई नाम है और न कोई रूप। इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है। परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है, अत: एकान्त सत्य नहीं है। व्यवहारकाल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है।

सर्व-व्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्ते:। प्राग् ब्रह्मात्मता प्रति बाधात् उपपन्न: सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहार:(—ब्र०सू०शां०भा० २/१/१४)। इन समस्त पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है, जो त्रिकाल में अबाध्य होने से ऐकान्तिक सत्य है, वही ब्रह्म है। अत: ब्रह्म की सत्ता को (ग) पारमार्थिक सत्ता कहते

हैं। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी वह असत्य प्रतीत होता है। इसलिए जगत् हमारी इन्द्रियों के लिए अवश्य सत्य है, परन्तु वास्तविकरूपेण वह सत्य नहीं है। इन तीनों से भिन्न भी कतिपय पदार्थ हैं, जैसे— वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि। ये निराधार या निराश्रय पदार्थ तुच्छ या अलीक कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती।

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव यज्यते।

बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते।। (माण्डूक्यकारिका ३/२८)

अनिर्वचनीयताख्याति—शुक्ति में रजत के भान की विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख भिन्न-भिन्न दर्शनों के वर्णन के अवसर पर यथास्थान तत्तच्छास्त्रव्याख्याकारों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अद्वैतवेदान्त का भी अपना एक विशिष्ट सिद्धान्त है। सर्प में रस्सी का ज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि दीपक के लाने और रज्जु के प्रकाशित होने पर सर्पज्ञान बाधित हो जाता है, परन्तु उसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस रज्जु से ही भयजन्य कम्पादि की उत्पत्ति होती है। अत: यह ज्ञान सत् तथा असद् उभयविलक्षण होने के अनिर्वचनीय या मिथ्या कहलाता है। यह ज्ञान अविद्या से उत्पन्न होता है। अत: वेदान्त में मिथ्या का अर्थ असत् नहीं है, प्रत्युत अनिर्वचनीय है (पञ्चपादिका पृ०-४)।

विवर्तवाद—कार्यकारणभाव विचार करने पर भी जगत की कल्पना अनिर्वचनीय ठहरती है। अद्वैतवादियों के मत में आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों भ्रान्ति के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। परिणामवादी कार्य-द्रव्य को कारण से अभिन्न स्वीकार करते हैं, और साथ ही साथ भिन्न स्वीकार करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। घट और मृत्पात्र, मृत्तिका के कार्य हैं, अत: मृत्तिका से अभिन्न हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि अभिन्न होते हुए भी इनमें पारस्परिक भेद कहाँ से आया ? यदि इसमें पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा सिद्ध स्वीकार किया जाय, तो मृत्तिका भी परस्पर भिन्न हुए बिना नहीं रह सकती। इस प्रकार कार्य-कारण में एक साथ ही भेद तथा अभेद कैसे माने जा सकते हैं ? एक ही सत्य होगा और दूसरा कल्पित। अभेद (या एक) का परमार्थ सत् होना उचित है, और भेद (या नाना) को कल्पित मानना ही न्यायोचितपक्ष है। ऐसा न करने पर असंख्य परमार्थ वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अत: वेदान्त के अनुसार एकमात्र सर्वजगद्उपादानस्वरूप कारणसत्ता अविनाशी तथा निर्विकार है, तथा उसमें कल्पित होने वाला नानात्मक प्रपञ्च केवल कल्पनामूलक है=अनिर्वचनीय है। इस तरह एकमात्र स्वप्रकाश अखण्डचैतन्यसत्ता के अतिरिक्त कार्यभूतजगत् प्रातिभासिक हैं। अत: कारण ही एकमात्र सत्य है, तथा कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम

है, पर ब्रह्म का विवर्त है। कार्य के अनिर्वचनीय वाद की पारिभाषिकी संज्ञा विवर्त है। सिद्धान्तलेश में अप्पय दीक्षित ने दोनों का पार्थक्य भली-भांति बतलाया है। "कारण सलक्षणोऽन्यथाभाव: परिणाम: तद्विलक्षणो विवर्त:।" "उपादान कारण के समान धर्मी अन्यथाभाव परिणाम और उपादान से विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त है (प्रथम परिच्छेद पृ०-५८)। परिणाम तथा विवर्त का भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है :—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित:।

अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरित:।।

तात्त्विक परिवर्तन को विकार, तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही, दूध का विकार है, परन्तु सर्प, रज्जु का विवर्त है, क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है, परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है (ब्र०सू०शां०भा० २/१/७)। इस प्रकार पञ्चदशीकार की सम्मति में भी कार्यदशा की कल्पना अज्ञानमूलक है—

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितै:।

अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित्।। (पञ्चदशी ६/४३)

अब विचारणीय प्रश्न है कि जब आत्मा स्वभाव से ही नित्य-मुक्त है, तब वह संसार में बद्ध क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है?

१) **अध्यास**—निरतिशय आनन्दस्वरूप आत्मा इस प्रपञ्च के पचड़े में पड़कर विषम दु:खों के झेलने का उद्योग क्यों करता है? इसका एकमात्र उत्तर है— 'अध्यास' के कारण। अध्यास कौन सी वस्तु है? शारीरिक भाष्य के उपोद्घात में आचार्य ने अध्यास के स्वरूप का निर्णय बड़ी ही सरल सुबोध भाषा में किया है। आचार्य के शब्दों में "अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धि:"। तत्पदार्थ में अतद् (तदभिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना 'अध्यास' कहलाता है। जैसे पुत्र-दारादिकों के सत्कृत या तिरस्कृत होने पर अपने को मनुष्य का सत्कृत या तिरस्कृत मानना यह हुआ बाह्य धर्मों का आरोप। इसी प्रकार अपने को स्थूल या कृश समझना, चलनेवाला, या खड़ा होने वाला, अन्ध, या बधिर मानना इन्द्रियादिकों के धर्मों के आरोप के कारण ही सम्भव हुआ करता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि आभ्यन्तर पदाऽर्थ कहलाते हैं, एवम् आभ्यन्तर के धर्मों का आरोप स्वरूप भ्रम ज्ञान का विषय आत्मवस्तु बना है। यह सब अविद्याविजृम्भित अध्यास ही है। आत्मा के विषय में यह अध्यास क्यों चला, तथा कब से चला? इसका भी वर्णन आचार्य ने किया है। जगत् में द्विविध पदार्थों की सत्ता अनुभूयमान है—विषयी, (अस्मत्प्रत्यय) तथा विषय (युष्मत्प्रत्यय)। सामने दृष्टिगोचर विषय में अन्य विषय का

आरोप 'अध्यास' है, परन्तु आत्मा तो विषयी ठहरा, अत: विषयी आत्मा में अध्यास बनता ही नहीं। इस शङ्का का उत्तर आचार्य देते हैं कि आत्मा का विषयी होना तो ठीक है, परन्तु आत्मा भी अस्मत्प्रत्यय ('मैं हूँ' ऐसा ज्ञान) का विषय होता ही है। अत: उसमें भी कदाचित्क विषय की कल्पना दुरूपपाद नहीं है। पुरोऽवस्थित विषय के अतिरिक्त भी अप्रत्यक्ष आकाश में तलमलिनत्व का आरोप बालकों के द्वारा किया ही जाता है। अध्यास कबसे चला ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—

"एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यास: मिथ्याप्रत्ययरूप: कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तक: सर्वलोकप्रत्यक्ष:।" (ब्र०सू०अ०भा०) कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्तक यह अध्यास स्वाभाविक है, अनादि है तथा अनन्त है। जगत् के समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की मूल भित्ति यही अध्यास है। यह अध्यास पशु आदि प्राणियों में भी मनुष्य के समान ही पाया जाता है। अध्यास का ही दूसरा नाम 'अध्यारोप' है ("वस्तुनि अवस्त्वारोध: अध्यारोप:"—सदानन्द, वे०सा०पृ०-७)। इसी अध्यारोप के निवारणार्थ आत्मविद्या का प्रतिपादन करना वेदान्त का प्रधान लक्ष्य है।

आत्मा तथा ब्रह्म की एकता—अद्वैतियों के सामने प्रश्न था कि उपाधिविशिष्ट क्लेशकर्मादिकों में बद्धजीव की निरूपाधि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म से कैसे सिद्ध की जा सकती है ? 'तत्त्वमसि' (छा० उप०६/८/७) इसी तत्त्व का प्रतिपादन क्यों करता है, परन्तु तत् (ब्रह्म) तथा त्वं (जीव) के विरुद्ध धर्मों के आधार होने के कारण इस अभेदप्रतिपादक वाक्य का स्वारस्य क्या है ? इसके उत्तर में वेदान्तियों का कथन है कि अभिधा वृत्ति के द्वारा इस वाक्य का यथार्थ बोध हो नहीं सकता, तथा अगत्या तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से लक्षणा स्वीकृत करनी पड़ती है (वे०प०पृ० १२०-१२४)

लक्षणा तीन प्रकार की मानी जाती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, तथा जहदजहल्लक्षणा, (या भागवृत्ति लक्षणा)। "गङ्गायां घोष:" (गंगा में आभीरपल्ली है) इस वाक्य में जलप्रवाहार्थक गंगा रूप अधिकरण में घोष की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती, अत: गंगा शब्द अपने अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर (जहत्) सामीप्यसम्बन्ध से 'तीर' अर्थ का बोधक होता है। यह जहत्-लक्षणा का दृष्टान्त हुआ। परन्तु महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वं' पद अपने अर्थ चैतन्य का परित्याग नहीं करते, अत: 'जहती' के द्वारा अभेद कल्पना की सिद्धि नहीं हो सकती इसी प्रकार "शोणो धावति"। (लाल रंग दौड़ता है।) उस वाक्य में अन्वय की उपपत्ति के लिए मुख्यार्थ का परित्याग किये बिना ही 'अश्व' अर्थ लक्षित होता है। यह है 'अजहल्लक्षणा'। इसका उपयोग भी प्रस्तुत वाक्य के लिए नहीं हो सकता। अत: अगत्या तृतीय प्रकार की लक्षणा से ही अर्थनिर्वाह होता है। 'तत्' (ब्रह्म) पद का अर्थ है 'परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य' तथा त्वं(जीव) का अर्थ है

'अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य'। यहाँ चैतन्यांश में विरोध नहीं है, प्रत्युत परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशों में ही परस्पर विरोध है। अत: इन विरुद्धांशों के परित्याग (जहत्) तथा अखण्ड चैतन्यांश के परिग्रह (अजहत्) के कारण इस लक्षण का नाम जहत्-अजहत् लक्षणा या एक ही भाग के ग्रहण करने के कारण 'भागवृत्ति' है। इसका लौकिक उदाहरण 'सोऽयं देवदत्त:' है, कल देखा गया देवदत्त यही है। इसका अभिप्राय कालिक विरोध को छोड़कर देवदत्त की एकता स्थापित करने में है। सुरेश्वर के मत में तीन सम्बन्धों की सहायता से यह महावाक्य अखण्डार्थ का बोध कराता है— १. पदों का समानाधिकरण्य २. पदार्थों का विशेषण-विशेष्य ३. आत्म-ब्रह्म का लक्ष्यलक्षणभाव।

समानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।। (नैष्कर्म्यसिद्धि ३/३)

पञ्चदशी (७/७५) का कहना है कि इस महावाक्य का अर्थ न तो संसर्ग है, न विशेष, प्रत्युत अखण्ड एकरस चैतन्य ही इसका प्रधान लक्ष्य है। आचार्य ने (ब्र०सू०शां०भा० ४/१/२) ब्र०सू० के भाष्य में इस महावाक्य पर विशेष विचार किया है, अत: 'तत्त्वमसि' का अर्थ है कि चैतन्यरूप से जीव ब्रह्मरूप ही है। महावाक्यों की संख्या चार है— प्रत्येक वेद का एक वाक्य। महावाक्यों का स्वरूप यह है (उनके अर्थ के लिए देखिए पञ्चदशी पंचम प्रकरण 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत०उप० ५/३) तत्त्वमसि (छा०उप० ६/८/७), अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उप० १/४/१०)

अद्वैतमत का समीक्षाऽऽत्मक चिन्तन—अद्वैत वेदान्त का यह संक्षिप्त वर्णन है। इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्मविषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्कविषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। आचार्य ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए भगवती श्रुति का आश्रय तो लिया ही है, परन्तु उन्हें पुष्ट करने के लिए, तथा अन्य मतों का निराकरण के वास्ते उन्होंने आगमरहित-पुरुषोत्प्रेक्षामात्रमूलक तर्क से विपरीत वेदशास्त्राविरोधी तर्क का विशेष उपयोग किया है। आचार्य प्रतिपादित साधनमार्ग भी नितान्त मनोरम है। वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए फलकामनाहीन निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। इन्हीं कारणों से आजकल जनसाधारण में भी इसकी इतनी लोकप्रियता है। बौद्धों को परास्त कर वैदिक धर्म के पुनरूत्थान में कुमारिल भट्ट के साथ ही साथ भगवान् शंकराचार्य का भी बहुत बड़ा हाथ है। आचार्य श्रीविद्या के उपासक, परम सिद्ध पुरुष थे। इसी कारण आप भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। वैष्णव आचार्यों ने मायावाद को भक्ति का नितान्त विरोधी मानकर उसका खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है। इतना होने पर भी आचार्य का अद्वैत वेदान्त इस विश्व की पहेली को समझाने

में जितना सफल हुआ, उतना दूसरा मत नहीं। इसीलिए अद्वैत वेदान्त का इतना गौरव है।

''तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावत् वेदान्तकेसरी।।''

अद्वैत वेदान्त के मूल स्रोत का पता हमें उपनिषदों में तो लगता ही है। परन्तु उससे भी प्राचीन वैदिक संहिताओं में भी यह सिद्धान्त सर्वत्र व्यापक रूप से जागरूक दृष्टिगोचर होता है।पश्चिमी विद्वानों का यह आग्रह है कि संहिताओं में कर्मकाण्डों पर ही जोर दिया है। ज्ञानकाण्ड का उदय तो कर्मकाण्ड के विरोध रूप में उपनिषदों में ही सर्वप्रथम हुआ। परन्तु यह मत सर्वथा भ्रान्त है। उपनिषदों ने अपने सिद्धान्तों के लिए भी संहिताओं को ही अपना उद्गम स्थान स्वीकार किया है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन तथा व्यावहारिक धर्म होने के कारण वेदान्त की भूयसी प्रतिष्ठा सर्वतोभावेन उचित तथा श्लाघनीय है।

आत्मनिवेदन

भारतीय विचारधारा के सूक्ष्म चिन्तकों के चिन्तनों का मुख्य आधार वेद ही माना गया है, वेदबोधित परमप्रयोजनीय अर्थ को स्पष्टता के साथ जानने के लिए समस्त आस्तिकदर्शन उसके साधन बनते हैं। वे दर्शन पुनः सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-वेदान्त के भेद से भिन्न छः प्रकार के हैं। हमारे ऋषियों ने इन दर्शनों का समावेश तत्तत् पुराणों, इतिहासों आदि सद्ग्रन्थों तक में कर रखें हैं, जिसके चलते उन-उन इतिहास-पुराणाऽऽदि ग्रन्थों में पुरुषार्थ प्राप्त कराने की एक अद्भुत क्षमता व्यक्त हुई है। नानाभेदों से भिन्न हुए साध्यसाधनाऽऽत्मकविषयों की वास्तविकता को सम्मुख कराने के लिए महर्षियों ने दर्शनों एवं दर्शनगर्भित शास्त्रों का प्रणयन अति विश्वास एवं उत्साह के साथ किया है, अतः निश्चित्रूप से यह कहा जा सकता है कि इन दर्शनों, एवं दर्शनगर्भितशास्त्रों के अध्ययन से मनुष्य अवश्य ही आत्मज्ञान, एवम् आत्मज्ञान द्वारा आत्मसाक्षात्कार को सुगमता से प्राप्त कर सकता है, क्योंकि "दृश्यते ब्रह्माऽऽत्मस्वरूपं यैस्तानि दर्शनानि" दर्शनशब्द की व्युत्पत्ति से भी इसी अर्थ का लाभ होता है। प्रकृत में आत्मप्राप्ति को मुख्यरूप से लक्ष्यस्थान में रखकर भगवान् सनत्कुमार जी ने धृतराष्ट्र को इस दर्शन का उपदेश दिया है। भगवान् शङ्कराऽऽचार्य जी ने भाष्य व्याख्यान के माध्यम से इस ग्रन्थ को सर्वसाधारणों के लिए सुलभ बना दिया है। भाष्य एवं मूल संस्कृत में होने के कारण संस्कृताऽनभिज्ञजिज्ञासुओं तक भी इसका पूर्णलाभ हो, इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर हिन्दी टीका बनायी गयी है। इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में हमारी कनिष्ठ सुपुत्री कुमारी सन्ध्या पाठक की अहम भूमिका रही है, क्योंकि उसके बिना

इतना जल्दी ग्रन्थ का कलेवर सम्पन्न होना सम्भव नहीं था, एतदर्थ मैं उसको यह शुभाशीर्वाद देता हूँ कि उनका समय सदा इसी प्रकार के कल्याणकारी कार्यों में व्यतीत होता रहे। इस ग्रन्थ का प्रकाशन "चौखम्बा विद्या भवन" से होने जा रहा है, जो कि सतत भारतीयसंस्कृति के पोषण में दृढसंकल्प हैं। इसी का परिणाम है कि यह संस्था इस भारतीय धरातल में विद्यमान विद्याविटपों को विविधशास्त्रप्रकाशनाऽऽत्मकजलों से सिञ्चित कर एवं पल्लवित-पुष्पित करके मोक्षफल को प्रकट कराने के प्रयास में अहम सहायक की भूमिका में है।

अन्त में मैं विद्वानों एवं जिज्ञासुओं से करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वे मैत्रभाव से इस ग्रन्थ पर दृष्टिपात करें, जिससे कि इसकी सार्थकता सिद्ध हो सके। सबके अन्त में मैं जगन्माताअन्नपूर्णा एवं महेश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ कि मेरी इस कृति को अपनी कृति के रंग से रङ्ग दे, जिससे निष्कामता का वरण कर सकूँ।

**

विषयानुक्रमणिका

भूमिकाऽन्तर्गतविषयसूची

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
१. दर्शनों का उद्देश्य	१
२. चार्वाकदर्शन	२
३. न्यायवैशेषिक	४
४. सांख्ययोग	७
५. अद्वैतवेदान्त	९
६. अद्वैतवेदान्त से सम्बन्धित हार्दविचार	१२
७. आत्मा की स्वयंसिद्धता	१४
८. आत्मा की अद्वितीयता	१६
९. ब्रह्म	१८
१०. ब्रह्मगत माया का वर्णन	२०
११. ईश्वर	२२
१२. ईश्वर की उपादानकारणता	२३
१३. जीव	२४
१४. जीव और ईश्वर	२६
१५. अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से जगत् का स्वरूप	२६
१६. अनिर्वचनीयताख्याति	३०
१७. विवर्त्तवाद	३०
१८. अध्यास	३१
१९. आत्मा तथा ब्रह्म की एकता	३२
२०. अद्वैतमत का समीक्षाऽऽत्मक चिन्तन	३३

प्रथम अध्याय

१. उपक्रमणिका	१
२. भगवान् सनत्सुजात का उत्तर, अमरत्त्व के विभिन्न रूप	१०

३. स्वमत - अप्रमाद ही अमरत्व है १२
४. अप्रमाद के अमृतस्वरूप होने में हेतु १६
५. मतान्तर में यम ही मृत्यु है, परंतु वास्तविक मृत्यु प्रमाद ही है २१
६. कामादि के द्वारा प्रमाद का बन्धहेतुत्व ४४
७. विवेकी मृत्यु की मृत्यु है ५४
८. देहासक्ति पतन का हेतु है ५७
९. विषयी जीवों के जीवन की व्यर्थता ५८
१०. मृत्यु-नाश का उपाय ६०
११. ज्ञानी के कर्मत्याग में धृतराष्ट्र की शङ्का ६२
१२. श्रीसनत्सुजातीय का उत्तर-ज्ञानी को कर्मानुष्ठान की अपेक्षा नहीं ६३
१३. ईश्वर के जगद्रचना में प्रवृत्त होने का प्रयोजन ६६
१४. जीवसृष्टि अनादि और मायिक है ६९
१५. धर्म और अधर्म में कौन किसका घातक है? ८८
१६. अज्ञानी को दोनों का फल भोगना होता है, किन्तु ज्ञानाग्नि से दोनों नष्ट हो जाते हैं ८९
१७. अधिकारि भेद से धर्म की स्वर्गादि साधनता तथा ज्ञानसाधनता ९४
१८. ज्ञानी का आचरण ९६
१९. आत्मा की दुर्बोधता १०३
२०. अनात्मज्ञ की निन्दा १०५
२१. आत्मज्ञ का व्यवहार १०६
२२. अगूढ़चारी की निन्दा १०७
२३. ज्ञानी की प्रशंसा १०८
२४. मानापमान में ज्ञानी की स्थिति ११२
२५. मान और मौन के विभिन्न फल ११३
२६. ब्राह्मी लक्ष्मी में प्रवेश के द्वार ११६

द्वितीय अध्याय

२७. मौनविषयक प्रश्न ११८

२८. मौन का लक्षण ११९

२९. वेदाध्यायी को पाप का लेप होता है या नहीं ? १२१

३०. वेदाध्ययन पाप से बचाने में असमर्थ है १२१

३१. वेदाध्ययन की उपयोगिता में धृतराष्ट्र की शङ्का १२३

३२. उक्त शङ्का का निरसन १२४

३३. ईश्वरार्थ कर्म भगवत्प्राप्ति का साधन है १२९

३४. ज्ञानी और अज्ञानी की अपेक्षा से कर्मफल में भेद १३१

३५. तप केवल कैसे होता है? १३२

३६. निष्कलमष तप केवल होता है १३३

३७. तप के दोषों के विषय में प्रश्न १३५

३८. तप के दोष, नृशंस और गुणों की गणना १३६

३९. दोषीं का वर्णन १३७

४०. सात नृशंसों का वर्णन १४१

४१. बारह गुणों का वर्णन १४२

४२. गुणों की स्तुति १४३

४३. दम के दोष १४४

४४. मद के दोष १४७

४५. षड्विध त्याग १४८

४६. आठ प्रकार के गुण १५०

४७. दोषों का त्याज्यत्त्व और अप्रमाद १५२

४८. सत्य की स्तुति १५३

४९. सुखी पुरुष का स्वरूप १५६

५०. धृतराष्ट्र का ब्राह्मण-विषयक प्रश्न १५७

५१. उत्तर- सत्यस्वरूप वेद और वेदज्ञ १५८

५२. ब्राह्मण का लक्षण १६२
५३. वेदवेद्य परमात्मा को जानने वाले की गति १६३
५४. ब्रह्मज्ञ ही वेदज्ञ है १६५
५५. वेद तटस्थवृत्ति से परमात्मा का बोध कराता है १६८
५६. वेदार्थ का ज्ञाता ही सच्चा ब्राह्मण है १६९
५७. आत्मकामी को विषयों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए १७०
५८. ब्रह्मप्राप्ति का क्रम १७२
५९. ब्रह्मज्ञ ही मुनि है १७३
६०. ब्रह्मज्ञ ही वैयाकरण है १७४
६१. ब्रह्मज्ञ ही सर्वज्ञ है १७५
६२. ज्ञानादिगुणयुक्त पुरुष ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है १७६

तृतीय अध्याय

६३. ब्रह्म-निरूपण के लिये धृतराष्ट्र की प्रार्थना १७९
६४. ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मविद्या का मूल है १८०
६५. ब्रह्मचर्य क्या है? १८२
६६. ब्रह्मचर्य का विवरण १८३
६७. आचार्य की महिमा १८५
६८. चतुष्पाद ब्रह्मचर्य का वर्णन १८८
६९. चतुष्पाद ब्रह्मविद्या का वर्णन १९१
७०. गुरु सेवा का महत्त्व १९२
७१. ब्रह्मचर्य की स्तुति १९४
७२. कर्म और ज्ञान के विभिन्न फल १९६
७३. धृतराष्ट्र का ब्रह्मस्वरूप विषयक प्रश्न १९७
७४. ब्रह्मस्वरूप की विलक्षणता १९८
७५. ब्रह्मसाक्षात्कार का स्वरूप और फल २०१

चतुर्थ अध्याय

७६. ब्रह्म का योगिदृश्य रूप २०५
७७. ब्रह्म का सर्वकारणत्त्व, स्वयं प्रकाशत्व २०६
७८. शुद्ध ब्रह्म, कारण ब्रह्म और कारण ब्रह्म की एकता २०८
७९. ब्रह्म का सर्वाश्रयत्व २१०
८०. जीव और ब्रह्म की सहस्थिति २११
८१. ज्ञानी की स्वात्मस्थिति २१४
८२. ब्रह्म की दुर्दर्शता और ब्रह्मदर्शन से अमरत्व की प्राप्ति २१५
८३. विषयप्रवृत्ति की अनर्थहेतुता २१७
८४. योगनिरूपण २२२
८५. ब्रह्म की जीवरूप से स्थिति २२३
८६. इन्द्रिय और इन्द्रियसम्बन्धी विषयों की अनर्थहेतुता २२७
८७. अनात्मज्ञ की निन्दा २२९
८८. आत्मज्ञान का महत्त्व २३०
८९. आत्मा का सर्वकारणत्त्व २३८
९०. ब्रह्म की अनन्तता २४१
९१. आत्मज्ञ की निःशोकता २४४
९२. आत्मज्ञ की आप्तकामता २४४
९३. स्वानुभवप्रदर्शन २४६

--

श्रीसनत्सुजातीयम्

प्रथमोऽध्यायः

(शाङ्करभाष्यसहितम्)

शाङ्करभाष्यम्—व्यासाय विष्णुरूपाय सुजाताया ऽजजन्मने ।
नमः श्रीदेशिकेन्द्राय शङ्कराय च सर्वदा ।।

विष्णुस्वरूप श्रीवेदव्यास नाम से प्रसिद्ध महामुनि के लिए, श्री ब्रह्माजी के पुत्र रूप में अवतरित होने वाले सुजात के लिए, तथा मोक्षोपदेश करने वालों में सर्वश्रेष्ठ भगवान् शङ्कराऽऽचार्य के लिए निरन्तर मेरा प्रणाम है ।।

उपक्रमणिका

शां० भा०— **नमः पुंसे पुराणाय पूर्णाऽऽनन्दाय विष्णवे ।**
निरस्तनिखिलध्वान्ततेजसे विश्वहेतवे ।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—निरस्तनिखिलध्वान्ततेजसे=सकल अन्धकार को निवृत्त करने वाले, सर्वप्रकाशकतेज:स्वरूप, पुराणाय=अनादिपुरुषस्वरूप, पूर्णाऽऽनन्दाय= परिपूर्ण-आनन्दस्वरूप विश्वहेतवे=सूक्ष्म-स्थूलाऽऽत्मक समस्त संसार की उत्पत्ति के निदानभूत, पुंसे=पुरुषाऽर्थ-प्रदान करने में सर्वथा समर्थ, विष्णवे= सर्व जगत् को व्याप्त करके विद्यमान रहने वाले भगवान् विष्णु के लिए मेरा प्रणाम है ।

शां० भा०—ॐ नम आचार्येभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्य: ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—ब्रह्मविद्यासम्प्रदाय के प्रवर्तक सनकाऽऽदि आंचार्यों के लिए मेरा प्रणाम हो ।

शां० भा०—सनत्सुजातीयविवरणं संक्षेपतो ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखाऽवबोधायाऽऽरभ्यते ।

भाष्याऽर्थप्रभा—ब्रह्मजिज्ञासूनाम्=ब्रह्म के जिज्ञासुओं के, सुखाऽवबोधाय=स्वल्प-परिश्रम द्वारा प्रकृतसनत्सुजातीय ग्रन्थके रहस्याऽऽत्मक तात्पर्याऽर्थ का ज्ञान कराने के लिए, संक्षेपतो सनत्सुजातीयविवरणम् आरभ्यते=स्वल्प शब्दों के माध्यम से सनत्सुजातीय ग्रन्थ की व्याख्या आरम्भ की जा रही है—

शां० भा०—स्वतश्चिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाऽऽश्रयया स्व-विषययाविद्यया स्वाऽनुभवगम्यया साऽऽभासया स्वाभाविकचिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मभावात् प्रच्युतोऽनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नोऽप्राप्ताऽशेषपुरुषाऽर्थ:, प्राप्ताऽशेषाऽनर्थोऽविद्याकर्म-परिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहतिं चाऽऽकांक्षन्,

भाष्याऽर्थप्रभा—स्वयं सत्, चित्, आनन्द एवं अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होते हुए

भी आत्मा, स्वाऽऽश्रयया स्वविषयया अविद्यया=अपने में ही आश्रय को प्राप्त हुई, तथा अपने आत्मस्वरूप को ही विषय करने वाली, अपने अनुभव के माध्यम से जानने योग्य, तथा चैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त हुई अविद्या से, स्वाभाविकचिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मभावात् प्रच्युत:=नित्य, निर्विकार, कूटस्थ, स्वरूप आत्मा अपने मिथ्याविरोधी सत्स्वरूप, जडविरोधी चैतन्याऽऽत्मकज्ञानस्वरूप एवं सर्वअनर्थविरोधी आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप से पतित हुआ, अनात्मनि देहादावात्मभावमापन्न:= शरीरेन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थों में "यह आत्मा है" इस प्रकार के ज्ञानाऽऽत्मकभाव से युक्त हुआ, अप्राप्ताऽशेषपुरुषाऽर्थ:=जिसके द्वारा समस्त पुरुषाऽर्थ को प्राप्त नहीं किया गया है, अर्थात् सर्वप्रकार के पुरुषाऽर्थ की प्राप्ति से रहित, प्राप्ताऽशेषाऽनर्थोऽविद्याकर्मपरिकल्पितैरेवसाधनै:=समस्त अनर्थों की परम्परा को प्राप्त हुआ, अविद्याजन्य कर्मों से सृष्ट साधनों के द्वारा, इष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहतिं चाऽऽकाङ्क्षन्=इच्छित वस्तु की प्राप्ति और अनिच्छित वस्तु के त्याग करने की इच्छा करता हुआ,

शां० भा०—लौकिकवैदिकसाधनैरनुष्ठितैरपि परमपुरुषाऽर्थं मोक्षाऽऽख्यमलभमानो मकराऽऽदिभिरिव रागद्वेषाऽऽदिभिरितस्तत आकृष्यमाण: सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभिन्नासु नानायोनिषु परिवर्त्तमानो मोमुह्यमान: संसरन् कथञ्चित् पुण्यवशाद् वेदोदितेनेश्वराऽर्थकर्माऽनुष्ठानेनाऽपगतरागाऽऽदिमलोऽनित्याऽऽदिदोषदर्शनेनोत्पन्नेहाऽमुत्रफलभोगविरागो वेदान्तेभ्य: प्रतीयमानं ब्रह्माऽऽत्मभावं बुभुत्सुर्वेदोदितशमदमाऽऽदिसाधनसम्पन्नो ब्रह्मविदमाचार्यमुपेत्य आचार्याऽनुसारेण वेदान्तश्रवणाऽऽदिना "अहं ब्रह्माऽस्मि' इति ब्रह्माऽऽत्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताऽज्ञानतत्कार्यो ब्रह्मरूपोऽवतिष्ठत इतीयं वेदान्तानां मर्यादा। एतत् सर्वं क्रमेण दर्शयिष्यति भगवान् सनत्सुजात:।

भाष्याऽर्थप्रभा—लौकिकवैदिकसाधनैरनुष्ठितैरपि=अनुष्ठानाऽऽत्मक व्यापारस्वरूपकर्मों से युक्त लौकिक वैदिक साधनों के द्वारा भी, परमपुरुषाऽर्थं मोक्षाऽऽख्यम् अलभमान:= मोक्षनामकपरमपुरुषाऽर्थ को प्राप्त न करता हुआ, मकराऽऽदिभिरिव=मगर (ग्राह) आदि जन्तुओं के समान; रागद्वेषाऽऽदिभिरितस्तत आकृष्यमाण:=राग-द्वेष आदि दोषों के द्वारा यत्र-तत्र वैध-अवैध स्वरूप विविध कर्मों में आकर्षित होता हुआ, सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभिन्नासु नानायोनिषु परिवर्त्तमान: मोमुह्यमान: संसरन्=देवता, मानव, पशु-पक्षी आदि भेदों-प्रभेदों में विभक्त हुए असंख्य योनियों में परिवर्तित होता हुआ, तथा स्वस्वरूपविषय में अत्यधिक अज्ञान से आच्छन्न हुआ बारम्बार जन्म-मृत्युस्वरूपचक्र को प्राप्त हो रहा है, अर्थात् नाना योनिस्वरूपचक्र में निरन्तर घूम रहा है। (इस प्रकार के अनर्थरूपी दु:खालय को प्राप्त हुआ प्राणी) कथञ्चित् पुण्यवशाद्वेदोदितेनेश्वराऽर्थकर्माऽनुष्ठानेनाऽपगतरागाऽऽदिमल:=किसी प्रकार देवाऽनुग्रहाऽधीन संसारनिवर्तक विलक्षणपुण्य के योग

से अन्तःकरण में प्रकाशित होने वाले वेदाऽऽदि सच्छास्त्रों के द्वारा विधान किये गये ईश्वराऽर्पणोद्देश्यक सत्कर्मों को, कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ सम्पादन करते रहने से, ईश्वराऽर्पण बुद्धि द्वारा किये गये सत्कर्मानुष्ठान के प्रभाव से, संसारोत्पादक अनादि धारा के रूप में प्रवाहित राग-द्वेषाऽऽदि, एवं स्वरूपाऽऽच्छादक अज्ञान धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्तःकरणगत रागाऽऽदि कषायों से विनिर्मुक्त हुआ वह साधक, अनित्याऽऽदिदोषदर्शनेनोत्पन्नेहाऽमुत्रफलभोगविरागः=इस संसार के वास्तविकस्वरूप को देखने की योग्यता को प्राप्त कर लेता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने इन्द्रियों से इस संसार को सर्वअनर्थप्राप्ति के मूलकारणरूप में अनुभव करता है। वह इस लोक के यावत् भोग्यवस्तुओं में ही नहीं अपितु परलोक=स्वर्गाऽऽदि लोकों के दिव्य कहे जाने वाले पदार्थों तक में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्दप्रमाणाऽऽदिकों के माध्यम से अनित्यत्वभ्रान्ति-सम्वर्द्धकत्व आदि दोषों का निर्मल अनुभव करता है, जिससे उसे, ऐहलौकिक एवं पारलौकिक कर्मजनित भोग्यवस्तुओं में त्यागबुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वेदान्तेभ्यः प्रतीयमानं ब्रह्माऽऽत्मस्वभावं बुभुत्सुर्वेदोदितशमदमाऽऽदिसाधनसम्पन्नः=वैराग्ययुक्त हुआ वह पुनः वेदान्तवाक्यों से ज्ञात होने वाले ब्रह्माऽऽत्मस्वरूपता को जानने की इच्छा करने वाला होकर, वेद में कहे गये शम-दमाऽऽदि साधनों से सम्पन्न हुआ, ब्रह्मविदमाचार्यमुपेत्य=ब्रह्माऽऽत्मविज्ञान के उपदेशक आचार्य के सान्निध्य को नियमपूर्वक प्राप्त करके, आचार्याऽनुसारेण वेदान्तश्रवणाऽऽदिना=वेदान्तवाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा, "अहं ब्रह्माऽस्मि' इति ब्रह्माऽऽत्मतत्त्वमवगम्य="मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ।" इस प्रकार से ब्रह्म के रूप में अपने आत्मतत्त्व का निश्चय करके, निवृत्ताऽज्ञानतत्कार्यः=आत्माऽज्ञान और उसके कार्यस्वरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्वाऽऽदिस्वरूप उस आत्मतत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न कार्यों से निवृत्त होता हुआ, ब्रह्मरूपोऽवतिष्ठत इतीयं वेदान्तानां मर्यादा=अपने आत्मभूत ब्रह्मस्वरूप में स्थित (अचल) हो जाता है। यही वेदान्तशास्त्र के अनुशरण करने का प्रयोजन है। अर्थात् वेदान्तशास्त्र अपने अर्थभूत ब्रह्माऽऽत्मविषयक श्रवणमनननिदिध्यासनद्वारा चरमफल के रूप में, अर्थात् ब्रह्म से अभिन्नरूप में आत्मा का साक्षात्कार उत्पन्न करा करके, ब्रह्माऽभिन्नस्वरूप नित्यभूत मोक्ष में स्थिति प्रदान कर स्वयं भी उसी ब्रह्मसाक्षात्कार वेला में निवृत्त हो जाता है, ब्रह्मसाक्षात्कार के पूर्वकाल तक ही उसके रहने की अवधिरूप मर्यादा होती है। एतत्सर्वं क्रमेण दर्शयिष्यति भगवान् सनत्सुजातः=उपर्युक्त इन सभी तात्त्विक रहस्यों को क्रमिक रूप से भगवान् सनत्सुजात जी इस ग्रन्थ के माध्यम से स्वयं बतलाएँगे।

शां० भा०—धृतराष्ट्रः शोकमोहाऽभितप्तः 'तरति शोकमात्मवित्'' इति वेदान्तवाद-मुपश्रुत्य ब्रह्मविद्यया विना शोकाऽपनयनमशक्यं मन्वानः—

अनुक्तं यदि ते किञ्चिद् वाचा विदुर! विद्यते ।

तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ।।

इति विदुरायोक्तवान् ।

स च श्रुतवाक्योऽपि परमकारुणिकः सर्वज्ञः सन् ब्रह्मविद्यां विशिष्टाऽधिकारिविषयां मन्वानः—

"शूद्रयोनावहं जातो नाऽतोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे" इति शूद्रयोनिजत्वादौपनिषदब्रह्माऽऽत्मतत्त्वज्ञाने "नाऽहमधिकृतः" इत्युक्त्वा कथमेनं धृतराष्ट्रं ब्रह्मविद्यया परमे पदे परमाऽऽत्मनि पूर्णाऽऽनन्दे स्वाराज्ये स्थापयिष्यामीति मन्वानः, छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धमितिहासं स्मृत्वा नाऽन्योऽस्मादस्मै भूमानं तमसः परं पारं परमाऽऽत्मानं दर्शयितुं शक्नुयादिति मत्त्वा तमेव भगवन्तं सनत्सुजातं योगबलेनाऽऽहूय प्रत्युत्थानाऽऽदिभिर्भगवन्तं पूजयित्वा—

भाष्याऽर्थप्रभा—(कुरुक्षेत्रीय महाभारत युद्ध में हमारे वंश का पूर्णरूप से विनाश हो जाएगा,ऐसा विचार मन में आने के कारण) धृतराष्ट्रः-शोकमोहाऽभितप्तः=भावी वंशध्वंस की आशंका से शोक और अज्ञान से इस लोक और परलोक के विषय में अत्यन्त दुःखी होते हुए राजा धृतराष्ट्र, 'तरतिशोकमात्मवित्' इति वेदान्तवादमुपश्रुत्य='आत्मा को ब्रह्म के रूप में अनुभव करने वाला आत्मज्ञानी दुःखसागर को पार कर जाता है'', इस प्रकार से वेदान्त का सिद्धान्त श्रवण कर, ब्रह्मविद्यया विना शोकाऽपनयनमशक्यं मन्वानः= ब्रह्म और आत्मवस्तु के अभेदनिश्चयाऽऽत्मक ब्रह्मविद्या के विना, शोक की निवृत्ति को असम्भव स्वीकार करते हुए—

अनुक्तं यदि ते किञ्चिद् वाचा विदुर! विद्यते ।

तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ।।

"हे विदुर ! (यदि ते वाचा किञ्चिद् अनुक्तं वर्तते=) यदि तुम्हारी वाणी से कहे जाने योग्य कुछ अंश छूट गया हो, तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि=तो उसको सुनने की प्रबल इच्छा रखने वाले मेरे लिए कहो, इह विचित्राणि भाषसे=(क्योंकि) इस समय तुम अति अद्भुत बातों को सुना रहे हो । इति विदुराय उक्तवान्=इस प्रकार विदुर के लिए राजा धृतराष्ट्र ने कहा ।

स च श्रुतवाक्योऽपि परमकारुणिकः सर्वज्ञः=और वह विदुर यद्यपि ब्रह्माऽऽत्मज्ञान-प्रकाशक वेदान्त वाक्यों को पूर्वकाल में श्री गुरुमुख से श्रवण विषय बना लिया था, अतः परमकरुणापरायण (परवश), सर्वज्ञ होते हुए भी, अर्थात् परदुःखप्रहाण करने की आत्यन्तिक इच्छा वाला होता हुआ, तथा सर्वज्ञ होने के कारण इस शोक की निवृत्ति का क्या उपाय है इसको पूर्णरूप से जानते हुए भी, विशिष्टाऽधिकारिविषयां मन्वानः—

ब्राह्मणत्वाऽऽदिसम्पन्न अधिकारीविशेष के उपदेश का ही विषय बनी हुई ब्रह्मविद्या को जानकर, शूद्रयोनावहं जातो नाऽतोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे=शूद्र योनि में मैं उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिए अतोऽन्यद्=आत्मज्ञान के विषय में मैं जितना कह चुका हूँ उससे अतिरिक्त (उसके आगे), न वक्तुमुत्सहे=कहने का प्रयत्न करने में मैं योग्य नहीं हूँ। अर्थात् ब्रह्मविद्योपदेश के योग्य ब्राह्मणयोनि के शरीर से रहित होने के कारण साक्षात् ब्रह्म का उपदेश करने का बलात् प्रयत्न नहीं कर सकता। इति शूद्रयोनिजत्वादौपनिषदब्रह्माऽऽत्मतत्त्वज्ञाने=इस प्रकार 'शूद्रयोनि का शरीर होने से उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व ज्ञान के उपदेश करने में, नाऽहमधिकृतः=मैं अधिकारप्राप्त किया हुआ नहीं हूँ।'' इत्युक्त्वा कथमेनं धृतराष्ट्रं ब्रह्मविद्यया परमे पदे परमाऽऽत्मनि पूर्णाऽऽनन्दे स्वाराज्ये स्थापयिष्यामि इति मन्वानः=इस प्रकार धृतराष्ट्र से कहकर पुनः इस विषय में चिन्तन करते हुए सोचने लगे कि कैसे अपने भाई महाराज धृतराष्ट्र को, ब्रह्मविद्या के माध्यम से परमपद नाम से श्रुतिप्रतिपादित परमाऽऽनन्दाऽऽत्मक स्वाराज्यस्वरूप परमाऽऽत्मा में स्थापित करूँगा, इस प्रकार से राजा धृतराष्ट्र के विषय में विचार करते हुए महात्मा विदुर जी, छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धमितिहासं स्मृत्वा=छान्दोग्योपनिषत् अष्टम अध्यायगत प्रसिद्ध इतिहास का स्मरण करके, नाऽन्योऽस्मादस्मै भूमानं तमसः परंपारं भूमानं परमाऽऽत्मानं दर्शयितुम् अस्मै शक्नुयादिति मत्वा=(अस्मात् तमसः परंपारं भूमानं परमाऽऽत्मानम् अस्मै दर्शयितुम् अन्यः न शक्नुयात्=) इस तमःस्वरूप सकार्यअज्ञान से उस पार में स्थित सर्वव्यापकीभूत परमाऽऽत्मा को, इन्हें दिखाने के लिए (भगवान् सनत्सुजात से) भिन्न कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है। इति मत्वा=मन में ऐसा विचार करके, तमेव भगवन्तं सनत्सुजातं योगबलेनाऽऽहूय=उस उपनिषत्प्रसिद्ध भगवान् सनत्सुजात का योगबल से अपने पास आह्वान करके, प्रत्युत्थानाऽऽदिभिर्भगवन्तं पूजयित्वा= आवाहित भगवान् सनत्सुजात के सम्मुख आने पर, उनका अभ्युत्थान=(अपने आसन से उठकर एवं प्रणामस्तुतिआदिकों के द्वारा भगवान् सनत्सुजात की पूजा करते हुए अपने प्रार्थ्य विषय को इस प्रकार से (इस वाक्य का क्रियापद ''इत्युक्तवान्' आगे आने वाले इसके साथ सम्बन्ध है।) कहा—

शां० भा०— **भगवन्! संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसे।**
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि।।
यं श्रुत्वाऽयं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखाऽतिगो भवेत्।
लाभाऽलाभौ प्रियद्वेष्यौ तथैव च जराऽन्तकौ।।
विषहेत मदोन्मादौ क्षुत्पिपासे भयाऽभये।
अरतिं चैव तन्द्रां च कामक्रोधौ क्षयोदयौ।। इति।

भगवन्! येनाऽसौ सकलसंसारकारणधर्माऽधर्मविवर्जितः सुखदुःखाऽतिगो मुक्तो भवेत्, तमस्मै धृतराष्ट्राय वक्तुमर्हसि इत्युक्तवान्।

भाष्याऽर्थप्रभा—भगवन् धृतराष्ट्रस्य मानसे कश्चित् संशयः (वर्त्तते) यो मया न वक्तुं शक्यः=हे भगवन्! महाराज धृतराष्ट्र के हृदय में कुछ सन्देह है जिसका निवारण मेरे द्वारा नहीं किया जा सकता है, (इसलिए) अस्मै त्वम् वक्तुमर्हसि=इस महाराज धृतराष्ट्र के लिए आप ब्रह्माऽऽत्मविषय से सम्बन्धित असन्दिग्ध तत्त्व का प्रतिपादन (उपदेश) करें। यं श्रुत्वा अयं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखाऽतिगो भवेत्=जिस विषय का उपदेश सुनकर मनुष्यों में श्रेष्ठ ये महाराज धृतराष्ट्र समस्त दुःखों से अत्यन्त मुक्त हो जायेंगे। अर्थात् ब्रह्माऽऽत्मविषयकसन्देह निवर्त्तक ब्रह्माऽऽत्माऽभेदनिश्चयजनक उपदेश के प्रवर्त्तन से आत्माऽज्ञान (आत्मविषयक अज्ञान) से सम्भूत समस्त दुःखाऽऽत्मक अनर्थभूत संसार की निवृत्ति हो जाएगी, जिसके परिणामस्वरूप आत्माऽज्ञान से प्रयुक्त—लाभाऽलाभौ प्रियद्वेष्यौ तथैव च जराऽन्तकौ, मदोन्मादौ क्षुत्पिपासे भयाऽभये अरतिं चैव तन्द्रां च कामक्रोधौ क्षयोदयौ विषहेत=लाभ-हानि, प्रियता-अप्रियता, इसी प्रकार से वृद्धाऽवस्था, अन्त (मृत्यु की) अवस्था, मद-उन्माद, भूख-प्यास, भय तथा अभय की दशा, अरुचि एवं तन्द्रा (न सोये रहना और न जगे रहना, किन्तु आलस्य की दशा को प्राप्त होने से केवल नेत्र बन्द किये रहना), काम-क्रोध, ह्रास एवं वृद्धि इन सभी की प्राप्त अवस्थाओं को एकरूप में अङ्गीकार करके, उन्हें माध्यस्थ्यभाव से सहन करे। इति=इस प्रकार, भगवन्! येनाऽसौ सकलसंसारकारण धर्माऽधर्मविवर्जितः सुखदुःखाऽतिगो भवेत्=हे भगवन्, जिसके माध्यम से समस्तसंसार के कारणीभूत जो धर्म और अधर्म हैं उन दोनों से विनिर्मुक्त हुआ, सुखदुःखों से अत्यन्त ऊपर उठकर मुक्त प्राणी मुक्ति पा सके, तम् अस्मै धृतराष्ट्राय वक्तुमर्हसि इति उक्तवान्=उस ब्रह्मविद्या को इस धृतराष्ट्र महाराज के लिए कहिए, इस प्रकार महात्मा विदुर जी ने भगवान् सनत्सुजात से उपदेश देने के लिए प्रार्थना की।

मू०— वैशम्पायन उवाच—

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत्।

सनत्सुजातं रहिते महाऽऽत्मा पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन्॥१॥

अन्वयः—ततः, मनीषी, महाऽऽत्मा, राजा, धृतराष्ट्रः, विदुरेरितम्, तत्, वाक्यम्, सम्पूज्य रहिते, परमाम्, बुद्धिम्, बुभूषन्, सनत्सुजातम्, पप्रच्छ॥१/१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—वैशम्पायन उवाच=वैशम्पायन जी ने जनमेजय से कहा कि—हे जनमेजय! धृतराष्ट्र के लिए संसारमोचक उपदेश देने की प्रार्थना किये जाने के

उपरान्त, मनीषी=शास्त्रसंस्कृतबुद्धिसम्पन्न, महाऽऽत्मा=महान् आत्मस्वरूप के प्रकाशक बुद्धि से समन्वित, राजाधृतराष्ट्रः=पृथिवीपालकमहाराजधृतराष्ट्र विदुरेरितम्=विदुर जी द्वारा कहे गये, तद् वाक्यम्=उस वाणी को, सम्पूज्य=समादर करके, रहिते=एकान्त में, परमां बुद्धिं बुभूषन्=उत्तमब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ, सनत्सुजातम्=सनत्कुमार जी से, पप्रच्छ=प्रश्न पूछा ॥१/१॥

भावार्थऽप्रभा—वैशम्पायन जी जनमेजय से कहते हैं कि हे जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र के लिए ब्रह्माऽऽत्मज्ञानोपदेश करने की प्रार्थना महात्मा विदुर के द्वारा भगवान् सनत्सुजात से किये जाने के उपरान्त उत्तमबुद्धि से विभूषित महात्मा महाराज धृतराष्ट्र ने विदुर के द्वारा कहे गये वचन का समादर करके, योगबल से आवाहित होने से उपस्थित हुए भगवान् सनत्सुजात से ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व को जानने की इच्छा करते हुए, (अर्थात् उस ब्रह्माऽऽत्मबुद्धि में स्थिति लाभ के लिए, तत्प्रतिबन्धकीभूतमृत्यु से मुक्त होने के लिए, मृत्युविषय में प्रश्न किया ॥१/१॥

शां० भा०—ततः=एतद्वाक्यसमनन्तरं विदुरेण सनत्सुजातं प्रति ईरितम्=उक्तं यद्वाक्यं तत् सम्पूज्य=सम्मान्य, सनत्सुजातम्=सनदिति सनातनं ब्रह्मोच्यते, हिरण्यगर्भाऽऽख्यम् । तस्मात् सनातनाद्ब्रह्मणो मानसाद् ज्ञानवैराग्याऽऽदिसमन्वितः सुष्ठुजात इति सनत्सुजातः—इत्युक्तो भगवान् सनत्कुमारः, तं रहिते=रहसि=प्राकृतजनवर्जिते देशे, महात्मा=महाबुद्धिः पप्रच्छ=पृष्टवान् बुद्धिं परमाम्=उत्तमाम्=पूर्णाऽऽनन्दाऽद्वितीयविषयाम् । किमर्थम्? बुभूंषन्=भवितुमिच्छन्, ब्रह्माऽऽत्मविद्ययाऽपहतमात्मानं लब्धुमिच्छन्नित्यर्थः ॥१/१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—वैशम्पायन जी जनमेजय से कहते हैं कि हे जनमेजय ! ततः=महात्माविदुर द्वारा व्यक्त किये गये प्रार्थितवचनव्यक्ति के (अभिव्यक्ति) के अनन्तर (उपरान्त) विदुर के द्वारा सनत्सुजात के प्रति जो वाक्य कहा गया था, महात्मा विदुर द्वारा कहे गये, परोपकारपरायण उस वाक्य की प्रशंसा करके=समादर करके, भगवान् सनत्सुजात को="सनत्" यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध (=तप्त सोने के समान अत्यन्त उज्ज्वल ज्ञान जिनके स्वरूप के अन्दर निरन्तर प्रकाशित हुआ करते हैं, वे हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं । इस प्रकार हिरण्यगर्भ के नाम से श्रुत्यादिप्रसिद्ध) सनातन ब्रह्म कहा जाता है । तस्मात् सनातनाद्ब्रह्मणो मानसाद् ज्ञानवैराग्याऽऽदिसमन्वितः सुष्ठुजातः=इत्युक्तो भगवान् सनत्कुमारः, तम् (सनत्सुजातम्)=उस सनातनब्रह्म के मन से ज्ञान-वैराग्याऽऽदि गुणों से स्वाभाविकरूप से सम्पन्न होकर अत्यन्त सुन्दरता के साथ उत्पन्न होने से उनका यौगिक नाम सनत्सुजात हुआ, उसी सनत्सुजात को ही सनत्कुमार के नाम से भी शास्त्रों में कहा गया है । उस भगवान् सनत्सुजात जी से, रहिते=रहसि=प्रकृतजनवर्जिते देशे महाऽऽत्मा=महाबुद्धिः, पप्रच्छ=पृष्टवान् बुद्धिं परमाम्=उत्तमां=पूर्णाऽऽनन्दाऽद्वितीयविषयाम्=

एकान्त, अर्थात् सांसारिकबुद्धि रखने वाले साधारण जनों के सम्पर्क से शून्य स्थान में महात्मा=परमबुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्र, अतिश्रेष्ठबुद्धि को, अर्थात् पूर्ण आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्माऽऽत्मविषयिणी बुद्धि (ब्रह्मज्ञान) के विषय में प्रश्न किया। किमर्थम्?=किस प्रयोजन से ? इस पर कहा गया—बुभूषन्=भवितुमिच्छन् ब्रह्माऽऽत्मविद्ययाऽपहतमात्मानं लब्धुमिच्छन्नित्यर्थः=ब्रह्मस्वरूप होने की इच्छा से अर्थात् आत्माऽज्ञानस्वरूप अविद्या की स्मृति से विलुप्त हुए अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा को, ब्रह्मज्ञान के माध्यम से, पुनः ब्रह्मज्ञानाऽऽत्मिकास्मृति विषयरूप से प्राप्त करने की इच्छा करते हुए प्रश्न किया ॥१/१॥

शां० भा०—तदेवाऽऽह—

भाष्याऽर्थप्रभा—तदेव=उसी ब्रह्माऽऽत्मविज्ञान से सम्बन्धित प्रश्न के स्वरूप को, आह=आगामी श्लोक द्वारा व्यक्त किया जा रहा है—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच-

सनत्सुजात ! यदिदं श्रृणोमि मृत्युर्हि नाऽस्तीति तवोपदेशम् ।
देवाऽसुरा आचरन् ब्रह्मचर्यममृत्यवे तत्कतरन्नु सत्यम् ।।१/२।।

अन्वयः—हे सनत्सुजात ! यत्, इदम्, श्रृणोमि, हि, मृत्युः, न, अस्ति, इति, तव, उपदेशम्, देवाऽसुराः, अमृत्यवे, ब्रह्मचर्यम्, आचरन्, तत्, कतरत्, सत्यम् ॥१/२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—हे सनत्सुजात! यत् इदं श्रृणोमि=हे सनत्कुमार जी मैं यह वचन, श्रृणोमि=उपदेशकों से सुनते आ रहा हूँ—हि=कि निश्चितरूप से इस संसार में, मृत्युः, न अस्ति=मृत्यु नाम की कोई चीज नहीं होती, इति=इसप्रकार से तव=आपका, उपदेशम्=निर्णयजनक विचार है, अर्थात् मृत्यु के अभाव से सम्बन्धित आपके निश्चयाऽऽत्मक विचार हैं। एवं उपदेशकों से यह भी सुनते आया हूँ कि—देवाऽसुराः= इन्द्र आदि देवताओं ने एवं विरोचन आदि असुरों ने, अमृत्यवे=मृत्यु से छूटने के लिए अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मा जी के द्वारा निर्मित आश्रम में, तथा अन्य स्थलों में जाकर ब्रह्मचर्यव्रत का, आचरन्=पालन करते हुए बहुत कालों तक समय व्यतीत किये, तत्=इन दोनों में से, कतरत्=कौन सा एकपक्ष सत्यम्=यथाऽर्थ रूप में स्वीकरणीय है (इसे आप कृपाकरके बतायें) ॥१/२॥

भावाऽर्थप्रभा—महाराज धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया कि—हे सनत्सुजात ! पूर्वकाल में आपके द्वारा किये गये जिस उपदेश को मैं सुना हूँ, वह उपदेश इस प्रकार का है कि—इस संसार में सबको भयाऽऽक्रान्त करने वाली मृत्यु (वास्तविक रूप में) है ही नहीं, तथा गुरुशिष्यपरम्परा से पुनः इस रूप का भी उपदेश सुना हूँ कि—अमरत्व की प्राप्ति के लिए देवताओं और असुरों ने वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था। यदि वास्तव

में मृत्यु की स्वरूप सत्ता नहीं है तो पुनः उसके ग्रास के भय से बचने के लिए ब्रह्मचर्य-पालनात्मक प्रयत्न क्यों किये गये ? इस श्रुतिवर्णित प्रयत्न से मृत्यु के अस्ति नाऽस्ति विषय को लेकर मेरे मन में सन्देह हो रहा है। अतः इस विषय में कौन सा पक्ष सत्य है ? इसके यथाऽर्थस्वरूप का प्रकाश आप करें ॥१/२॥

शां० भा०—हे सनत्सुजात ! यन्मृत्युर्हि नाऽस्तीति शिष्यान् प्रति उपदिष्टमिति विदुरः प्राऽऽह, देवाऽसुराः पुनरमृत्यवे=मृत्योरभावाय=अमृतत्त्वप्राप्तये ब्रह्मचर्यमाचरन्तः—इन्द्रविरोचनाऽऽदयो गुरौ वासं कृतवन्तः। श्रूयते च च्छान्दोग्ये—"तद्धोभये देवा असुरा अनुबुबुधिरे" इत्यारभ्य "तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः' इत्यन्तेनेन्द्रविरोचनयोः प्रजापतौ ब्रह्मचर्यचरणम्। 'एकाशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" इति च। यदि मृत्युर्नाऽस्तीति तव पक्षः, तर्हि कथं देवाऽसुराणाममृत्यवे ब्रह्मचर्यचरणम्? तत्=तयोर्मृत्युसद्भावाऽसद्भावपक्षयोः कतरन्नु सत्यम्? यत्सत्यं तद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥१/२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे सनत्सुजात ! मृत्युर्हिनास्तीति शिष्यान् प्रति उपदिष्टमिति विदुरः प्राऽऽह=हे सनत्सुजात ! "मृत्यु नाम की कोई सत्य वस्तु नहीं है" इस प्रकार से जो आपके द्वारा अपने शिष्यों को पूर्वकाल में उपदेश दिया गया है जिस विषय को महात्मा विदुर ने हमें कहा है। देवाऽसुराः पुनरमृत्यवे=मृत्योरभावाय=अमृतत्वप्राप्तये ब्रह्मचर्य-माचरन्तः= इन्द्रविरोचनाऽऽदयो गुरौ वासं कृतवन्तः= तथा मृत्यु के नाऽस्तिता के विपरीत मृत्यु की सत्ता को स्वीकार करके पुनः उसके विनाश के लिए अर्थात् अजरत्व-अमरत्व की प्राप्ति के लिए देवराज इन्द्र एवं बलिपुत्र विरोचनाऽऽदि देवताओं और असुरों ने, वर्षों तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किये थे, अर्थात् मृत्यु की निवृत्तिपूर्वक अविनाशिस्वरूपता की उपलब्धि के लिए ही बहुत वर्षों तक गुरु आश्रम में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए निवास किये थे, श्रूयते च छान्दोग्ये—"तद्धोभये देवा असुरा अनुबुबुधिरे" इत्यारभ्य 'तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः" इत्यन्तेनेन्द्र विरोचनयोः प्रजापतौ ब्रह्मचर्यचरणम्=इस विषय को लेकर 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि—"उन दोनों देवताओं और असुरों ने अनुभव किये थे (जाने थे)" यहाँ से आरम्भ करके, "वे दोनों देव और असुर बत्तीस वर्षो तक ब्रह्मचर्यव्रत से युक्त होकर गुरुकुल में निवास किये" यहाँ तक के श्रुतिग्रन्थ में इन्द्र और विरोचन, इन दोनों देवराज और असुरराज के प्रजापति ब्रह्मा जी के आश्रम में जाकर ब्रह्मचर्यव्रताऽऽचरण करने की बात प्रकट होती है। "एकादशं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" इति च=और इसके अतिरिक्त "इन्द्र ने प्रजापति ब्रह्माजी के आश्रम में एक सौ वर्षों तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण-पूर्वक निवास किया" यह वचन भी ब्रह्मचर्यव्रताऽऽचरण अमृतत्व प्राप्ति के उद्देश्य से ही किया गया ज्ञात होता है। यदि मृत्युनाऽस्तीति तव पक्षः, तर्हि कथं देवाऽसुराणाम-

मृत्यवे ब्रह्मचर्यचरणम्?=यदि "मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है" इस प्रकार आपका सिद्धान्त है, तो पुनः वैसी स्थिति में देवताओं और असुरों का मृत्युविनाशस्वरूप अमृतत्व की प्राप्ति के लिए गुरुगृह में ब्रह्मचर्यव्रत पालनपूर्वक किया गया निवास का क्या प्रयोज़न रह जाता है ? अर्थात् यदि आपका सिद्धान्त है कि मृत्यु नहीं होती है, तो वैसी दशा में देवताओं तथा असुरों ने अमरत्व की प्राप्ति के लिए जो ब्रह्मचर्यव्रत पालन किया उसका क्या प्रयोजन रहा ? तत्=तयोर्मृत्युसद्भावाऽसद्भावयोः कतरन्नुसत्यम्? यत्सत्यं तद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः=अतः उन दोनों प्रकार के मृत्यु का सद्भाव (सत्य) होना और मृत्यु के असद्भावस्वरूप अभावहोनारूप उभयपक्ष में से कौन सी बात सत्य है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि आप सर्वज्ञ हैं, अतः इन दोनों में से जो सत्य हो उसी का हमें आप उपदेश करें ॥१/२॥

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राऽऽह भगवान् सनत्सुजातः—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार से राजा धृतराष्ट्र के द्वारा पूछे गये भगवान् सनत्सुजातजी उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

(भगवान् सनत्सुजात का उत्तर–अमरत्व के विभिन्न स्वरूप)

मू०—सनत्सुजात उवाच–

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नाऽस्तीति चाऽपरे ।

शृणु मे ब्रुवतो राजन्! यथैतन्मा विशङ्किथाः ।।१/३।।

अन्वयः—राजन्! केचित्, कर्मणा,अमृत्युः, च, अपरे, मृत्युः, नाऽस्ति, इति, एतत्, यथा, मे, ब्रुवतः, शृणु, मा विशङ्किथाः ॥१/३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच—भगवान् सनत्कुमार जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि—राजन्=हे भूपाल!, केचित्=कुछ आत्माऽन्वेषकजन, "कर्मणा=ब्रह्मचर्याऽऽ-चरणस्वरूपकर्म के माध्यम से अमृत्युः=अमरत्वाऽऽत्मक मोक्ष सिद्ध होता है।" ऐसा कहते हैं। च=किन्तु, अपरे=आत्मतत्त्वचिन्तर कुछ अन्य दार्शनिक, पुनः मृत्युः नाऽस्ति, इति="मृत्यु नाम की कोई वस्तु वास्तविक रूप में नहीं हुआ करता है।" इति=इस प्रकार स्वीकार किया करते हैं, परन्तु, एतत्=मृत्यु से सम्बन्धित तथ्य यथा= जो है उस सत्यभूत तथ्य को, मे ब्रुवतः=मुझ यथाऽर्थोपदेष्टा से, शृणु=सुनो, मा विशङ्कीथाः=मेरे द्वारा उपदिष्ट विषयों में शङ्का न करो ॥१/३॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात ने कहा—हे राजन्। (आपके द्वारा किये गये दो प्रकार के प्रश्न का समाधान के विषय में भी दो पक्ष हैं और वे दोनों पक्ष क्रमशः इस

प्रकार के हैं) कर्ममार्गाऽनुयायी मीमांसकगण कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मृत्यु स्वरूपबन्ध है और उसकी निवृत्ति पुनः नित्य-नैमित्तिक कर्माऽनुष्ठान, ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि से अन्तःकरणशुद्धि द्वारा होती है। एवं कुछ ज्ञानमार्गाऽनुयायी पुनः इस पक्ष के हैं कि उनके मताऽनुसार मृत्युरूपी बन्धन की वास्तविक स्थिति है ही नहीं। किन्तु इन दोनों पक्षों में जो वास्तविक पक्ष है, उसको मैं तुमसे कहता हूँ, तुम मेरे आगे कहे जाने वाले इस कथन में आशंका न करना ॥१/३॥

शां० भा०—अमृत्युरिति। केचित् पुनरविद्याऽधिरूढाः परमाऽर्थतो मृत्युसद्भावं मन्यमाना वेदोक्तेन कर्मणा, अमृत्युः=अमृतत्त्वं भवतीति मत्वा, अमृत्यवे=अमृतत्वप्राप्तये वेदोक्तं कर्माऽऽचरन्ति। तथाऽन्ये=विषयविषाऽन्धाः विषयव्यतिरेकेण निर्विषयं मोक्षममन्यमानाः कर्मणैवाऽमृत्युः=अमृतत्त्वम्=देवाऽऽदिभावं वर्णयन्ति। तत्रैव च रागिगीतं श्लोकमुदाहरन्ति—

अपि वृन्दावने रम्ये श्रृङ्गालत्वं स इच्छतु।

न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम!।।इति।

तथैव च परमाऽऽत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो ज्ञानकर्मभ्याम् अमृतत्त्वं वर्णयन्ति।

अपरे पुनरद्वितीयाऽऽत्मदर्शिन आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो मृत्युर्नास्तीति वर्णयन्ति। हे राजन्! यथैतत्पक्षयोरविरोधः सम्भवति तथा ब्रुवतो मे=मम वाक्यं श्रृणु मा विशङ्किथाः, मयोक्तेऽर्थे शङ्कां मा कृथाः ॥१/३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—केचित् पुनरविद्याऽधिरूढाः परमाऽर्थतो मृत्युसद्भावं मन्यमाना वेदोक्तेन कर्मणा अमृत्युः=अमृतत्वं भवतीति मत्वा अमृत्यवे वेदोक्तं कर्माऽऽचरन्ति=कुछ लोग जो अत्यधिक रूप से अविद्या के अधीन हैं, वे पारमार्थिकरूप से अविद्या की स्वरूपसत्ता को स्वीकार करते हुए, ऐसा सोचकर कि यतः वेदविहित कर्मों के द्वारा ही अमृत्यु=अमरत्व प्राप्त होता है, अतः उस अमरता की प्राप्ति के लिीए वेद प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान किया करते हैं।

तथाऽन्ये विषयविषाऽन्धा विषयव्यतिरेकेण निर्विषयं मोक्षममन्यमानाः कर्मणैवाऽमृत्युः=अमृतत्वम्=देवाऽऽदिभावं वर्णयन्ति=तथा इस विषय में दूसरे लोग जो कि विषयरूपी विष के सम्बन्ध से अन्धे बने हुए हैं वे विषय से शून्य, निर्विषयस्वरूप में मोक्ष को न स्वीकार करते हुए, कर्म के द्वारा ही अमृत्यु=अमरत्वाऽऽत्मक देवाऽऽदिस्वरूप की प्राप्ति का वर्णन किया करते हैं।

तत्रैव च रागिगीतश्लोकमुदाहरन्ति—

अपि वृन्दावने रम्ये सृङ्गालत्वं स इच्छतु।

न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम!।।इति।।

इसी विषय में पुन: किसी रागी के द्वारा कहे गये श्लोक को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—हे गौतम ! वह अतिमनोहर वृन्दावन में सियार होने की इच्छा तो कर सकता है, किन्तु विषयशून्य मोक्ष की कामना कभी नहीं कर सकता है। इति।

शां० भा०—तथैव च परमाऽऽत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो ज्ञानकर्मभ्याममृतत्वं वर्णयन्ति।

अपरे पुनरद्वितीयाऽऽत्मदर्शिन आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो मृत्युर्नाऽस्तीति वर्णयन्ति। हे राजन्! यथेतत्पक्षयोरविरोध: सम्भवति तथा ब्रुवतो मे=मम वाक्यं शृणु, मा विशङ्किथा:=मयोक्तेऽर्थे शङ्कां मा कृथा:।

इस प्रकार परमाऽऽत्मा से अलग रूप में किसी भिन्न वस्तु का अनुभव न करने वाले आत्मज्ञान और कर्मों के सम्पादन से मुक्ति को स्वीकार करने वाले मीमांसाऽनुयायी कुछ लोग ज्ञान और कर्मों के समुच्चय द्वारा ही अमरत्व प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं। इस विषय में अद्वितीयाऽऽत्मवादी जो केवल आत्मवस्तु को ही सर्वत्र अनुभव करते हैं वे पुन: आत्मवस्तु से भिन्न किसी अन्य वस्तु को न देखने के कारण इस प्रकार कहते हैं कि मृत्यु नाम की कोई परमाऽर्थभूतवस्तु वास्तविकरूप में होती ही नहीं। हे राजन्! जिस प्रकार से इन सभी पक्षों का परस्पर में अविरोध सिद्ध हो सकता है उस प्रकार से मैं बताने जा रहा हूँ, अत: इस विषय को प्रकाशित करने वाले मेरी बातों को सुनो, मेरे द्वारा कहे जाने वाले वचनों में किसी प्रकार का सन्देह मत करो।

इस भाष्य का रहस्यार्थ—इस भाष्य में भाष्यकार ने सर्वप्रथम कर्ममार्गीमीमांसक के सिद्धान्त का प्रदर्शन किये हैं, उसके बाद भक्त उपासकों के मत को दिखाये हैं, अनन्तर ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी नैयायिकाऽऽदि, अथवा वैष्णववेदान्तमताऽनुयायियों के मत को प्रदर्शित किया गया। सबके अन्त में अद्वैतसिद्धान्ताऽनुसार मृत्यु की असत्ता को सूचित किया गया। अधिकारिभेद से सभी मत अपने-अपने स्तर में समुचित सिद्ध होते हैं। किन्तु प्रकृत में ब्रह्मविद्या का प्रसङ्ग उपस्थित होने से ही पूर्व-पूर्व मतों में नैर्बल्य और उत्तरोत्तर मतों की उत्कृष्टता का ध्वनन किया गया है॥१/३॥

शां० भा०—कथम्?

उपर्युक्त प्रकार से मृत्यु की अस्तिता और नाऽस्तिता दोनों का ही होना कैसे सम्भव है ?

मू०— उभे सत्ये क्षत्त्रियाऽऽद्यप्रवृत्ते मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि॥४॥

अन्वयः—क्षत्रिय ! आद्यप्रवृत्ते, उभे, सत्ये, कवीनाम्, यः, सम्मतः, मोहः, मृत्युः, अहम्, प्रमादम्, वै, मृत्युम्, ब्रवीमि, सदाऽप्रमादम्, अमृतत्वम्, ब्रवीमि ॥४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—क्षत्रिय!=हे भूपाल!, आद्यप्रवृत्ते=सृष्टि के आरम्भ स्थल से लेकर आज तक उभे=मृत्यु के अस्तित्व और नाऽस्तित्व से सम्बन्धित दोनों पक्ष, सत्ये=यथाऽर्थ माने जाते हैं, इस विषय में, कवीनाम्=विद्वानों का, यः=जो, सम्मतः= निर्णयाऽऽत्मक सिद्धान्त है कि, मोहः=भ्रमज्ञान ही, मृत्युः=मृत्यु कहलाती है। परन्तु, अहम्=मैं, प्रमादम्=आत्मतत्त्व के अनुसन्धान के अभाव को अर्थात् मूलाऽज्ञान को, वै=ही निश्चित रूप से, मृत्युं ब्रवीमि=मृत्यु के रूप में स्वीकार करता हूँ। सदाऽप्रमादम्= सर्वदा आत्मा के अवबोधस्वरूप अप्रमाद को ही, अमृतत्वम्=मोक्षस्वरूप अमरत्व, ब्रवीमि=कहता हूँ ॥१/४॥

भावाऽर्थप्रभा—हे क्षत्रिय ! संसार की सृष्टि के आरम्भ से ही ये दोनों ही प्रकार के पक्ष सैद्धान्तिक रूप से सत्य हैं, तथाऽपि इन दोनों पक्षों में से जो विद्वानों को स्वीकार्य है, उसके अनुसार मृत्यु तो आत्माऽज्ञान स्वरूप मोह कहलाता है। परन्तु मेरे विचाराऽनुसार तो अपने स्वरूप से च्युत करने वाले प्रमाद को ही मृत्यु कहना उचित है, इस प्रकार सर्वथा अप्रमाद को ही मैं अमरत्व मानता हूँ ॥१/४॥

शां०भा०—ये पूर्वोक्ते मृत्योरस्तित्वनाऽस्तित्वे ते उभे हे क्षत्रिय ! आद्यप्रवृत्ते=य आदिसर्गस्तमारभ्य प्रवृत्ते। अथवा क्षत्रियाऽऽद्य=क्षत्रियप्रधान, प्रवृत्ते=वर्त्तमाने। कथं पुनरुभयोः परस्परविरुद्धयोरस्तित्वनाऽस्तित्वयोः सत्यत्वमिति ? तत्राऽऽह—मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनामिति। भवेदयं विरोधोऽस्तित्वनाऽस्तित्वयोः,यदि परमाऽर्थरूपो मृत्युः स्यात्।

कस्तर्हि मृत्युः ? यो मोहो मिथ्याज्ञानम्, अनात्मनि आत्माभिमानः स मृत्युः केषांचित् कवीनां मतः। अहं तु न तथा मृत्युं ब्रवीमि। कथं तर्हि ? प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि। प्रमादः प्रच्युतिः स्वाभाविकब्रह्मभावात्। तं प्रमादं मिथ्या ज्ञानस्यापि कारणम् आत्मानवधारण-मात्माज्ञानं मृत्युं जननमरणादिसर्वानर्थबीजम् अहं ब्रवीमि।

तथा सदाप्रमादम्=स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थानम् अमृतत्वं ब्रवीमि। तथा च श्रुतिः स्वरूपावस्थानमेव मोक्षपदं दर्शयति—"परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति। तथानुगीतासु स्पष्टमाह—

एको यज्ञो नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
यस्मिन्निष्ट्वा सर्वमिदं ग्रसित्वा
स्वरूपसंस्थाश्च भवन्ति मर्त्याः ॥

यत एवं स्वरूपावस्थानलक्षंणो मोक्षः, अत एव चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वादेव न कर्म साध्यममृतत्वम्, नापि समुच्चिताभ्यां ज्ञानकर्मभ्यामिति ''अमृत्युः कर्मणा केचित्'' इत्येतदनुपपन्नमेवेत्युक्तं भवति। वक्ष्यति चास्य पक्षस्य स्वयमेव निराकरणम्—

''कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्।
ज्ञानेन विद्वांस्तेजोऽभ्येति नित्यं
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः'' इति ।।१/४।।

भाष्याऽर्थप्रभा—ये पूर्वोक्ते मृत्योरस्त्वित्वनाऽस्तित्वे ते उभे हे क्षत्रिय ! आद्यप्रवृत्ते= य आदिसर्गस्तमारभ्य प्रवृत्ते=पूर्व में कहे गये जो मृत्यु से सम्बन्धित अस्तिता और नाऽस्तिता—ये दो पक्ष हैं। अर्थात् मृत्यु के विषय में भाव और अभाव ये दो प्रकार की मान्यताएँ हैं, वे दोनों वर्त्तमानकाल के किसी दो विचारधाराओं के अनुसार स्वीकार नहीं किये गये हैं, किन्तु जबसे सृष्टि आरम्भ हुई है, उसी सृष्ट्यारम्भकाल में मृत्यु से सम्बन्धित ये दोनों पक्ष आरम्भ होकर सम्प्रति उपलब्ध हो रहे हैं। अथवा क्षत्रियाऽऽद्य != क्षत्रियप्रधान ! प्रवृत्ते=वर्त्तमाने=अथवा—''क्षत्रियाऽऽद्य+प्रवृत्ते'' ऐसा ''क्षत्रियाऽऽद्यप्रवृत्ते'' शब्द का सन्धिविच्छेद किये जाने पर, अर्थ का स्वरूप होगा— हे क्षत्रियाऽऽद्य !=हे क्षत्रियप्रधान। और ''प्रवृत्ते'' शब्द का ''वर्त्तमाने'' ऐसा अर्थ होकर इसका अन्वय पुनः उभे सत्ये के साथ होने की स्थिति में संकलिताऽर्थ का स्वरूप होगा—हे क्षत्रियप्रधान ! मृत्यु की अस्तित्व और नाऽस्तित्व इन दोनों की सत्यता वर्त्तमान हैं। अर्थात् इन दोनों में से किसी को असत्य नहीं कहा जा सकता है।

(कथं पुनरुभयोः परस्परविरुद्धयोरस्तित्वनाऽस्तित्वयोः सत्यत्वम् ? तत्राऽऽह— मोहो=मृत्युः सम्मतो यः कवीनामिति। भवेदयं विरोधोऽस्तित्वनाऽस्तित्वयोः, यदि परमाऽर्थरूपोमृत्युः स्यात्—) परन्तु परस्पर एक दूसरे का विरोधी मृत्यु के अस्तिता और नाऽस्तिता स्वरूप उसके अभाव की सत्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ? इसके समाधान में कहा गया है—विद्वानों की सम्मति के अनुसार मोहाऽऽत्मक ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप का अज्ञान ही मृत्यु है और अनादिभावस्वरूप होते हुए भी वह भ्रमज्ञानमात्रविषय होने से मिथ्या=असत्य है।

किन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में मृत्यु की स्थिति संसारगत आकाशाऽऽदि अन्य पदार्थ के समान सत्यरूप से होती है। इस विषय में प्रश्न उपस्थित होता है कि—वह मृत्यु सत्य और असत्य दोनों कैसे हो सकता है ? इस पर भाष्यकार कहते हैं कि—मृत्यु के अस्तित्व=सत्यत्व और इसके नाऽस्तित्वस्वरूपअभाव से सम्बन्धित विरोध तभी उपस्थित

हो सकता है कि जब उसके परमार्थस्वरूप को माना जाय, किन्तु उनके स्वरूप को व्यावहारिकरूप में मानने के कारण ही यहाँ पारस्परिक विरोध की सम्भावना ही नहीं हो सकती है।

अब मृत्युपदार्थ के निर्वचन की इच्छा से प्रश्न किया जा रहा है—

(कस्तर्हि मृत्युः ? यो मोहः=मिथ्याज्ञानम्,अनात्मनि आत्माऽभिमानः स मृत्युः केषांचित् कवीनां मतः, अहन्तु न तथा मृत्युं ब्रवीमि। कथं तर्हि ? प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि। प्रमादः=स्वाभाविक ब्रह्मभावात् **प्रच्युतिः**=) यदि परमाऽर्थस्वरूपमृत्यु के न होने के कारण उसके अस्तित्व-नाऽस्तित्व उभय स्वरूप होने में किसी प्रकार की आपत्ति यदि नहीं है, तो पुनः अस्तित्व या नाऽस्तित्व के रूप में विद्यमान उस मृत्यु का कैसा स्वरूप है ? इसके उत्तर में कहा गया कि—अनात्मभूतअन्तःकरण, बुद्धि-शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों में आत्मतादात्म्य की (आत्माऽभेद की) मिथ्या प्रतीति हुआ करती है, वही मिथ्याज्ञानाऽऽत्मकमोह मृत्यु कही जाती है, ऐसा कुछ विद्वानों की सम्मति है। किन्तु मैं अनात्मभूतशरीरेन्द्रियाऽऽदिकों में आत्माऽभेद का मिथ्या (भ्रम) ज्ञानस्वरूप मोह को मृत्यु नहीं मानता हूँ। तो पुनः आपके मत में मृत्यु का क्या स्वरूप है ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि— मैं तो प्रमाद को ही मृत्यु मानता हूँ और वह प्रमाद पुनः अपने स्वाभाविक ब्रह्मस्वरूप से च्युत (अलग) हो जाना कहलाता है, अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार की स्मृति का लोप हो जाना, तथा "शरीरेन्द्रियाऽऽदिस्वरूप ही मैं हूँ।" आत्मविषय में इस प्रकार की भ्रमाऽऽत्मिका बुद्धि का उत्पन्न होना यही प्रमाद है। (तं प्रमादं मिथ्याज्ञानस्याऽपि कारणम् आत्माऽनवधारणम्= आत्माऽज्ञानं मृत्युं जननमरणाऽऽदिसर्वाऽनर्थबीजम् अहं ब्रवीमि=) उस प्रमाद को ही आत्मा का अज्ञानस्वरूप जो आत्मवस्तु का अनिश्चय है, उसी अनिश्चय को, अर्थात् आत्मविषयक भ्रमज्ञान को ही मैं जन्म-मरणाऽऽदि सकलअनर्थ का कारणीभूत मृत्यु कहता हूँ। (तथा सदाऽप्रमादम्=स्वाभाविकस्वरूपेणाऽवस्थानम् अमृतत्वं ब्रवीमि। तथा च श्रुतिः स्वरूपाऽवस्थानमेव मोक्षपदं दर्शयति—"परं ज्योतिरूपसम्पद्यस्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते" इति।

तथाऽनुगीतासु स्पष्टमाह—

एको यज्ञो नाऽस्ति ततो द्वितीयो, यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।

यस्मिन्निष्ट्वा सर्वमिदं ग्रसित्वा, स्वरूपसंस्थाश्च भवन्ति मर्त्याः ।।"=)

=अर्थात् सर्वकाल में स्वाभाविक रूप से अपने स्वरूप की स्थिति को अमृतत्वस्वरूप अप्रमाद कहता हूँ। इस विषय में कुछ इसी प्रकार से श्रुतिवचन भी स्वरूपाऽवस्थान को ही मोक्षस्थान प्रदर्शित करती है—"परमप्रकाश को प्राप्त होकर अपने स्वाभाविक

ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप से पूर्णतया प्रकाशित होता है।" इसी आशय से अनुगीता के वचनों में भी स्पष्ट कहा गया है कि—एक ही यज्ञ स्वरूप आत्मा है, उससे भिन्न दूसरा कोई आत्मा नहीं है, जो आत्मा हृदयगुहा में सोया हुआ है उसी को मैं कहने जा रहा हूँ, जिस यज्ञस्वरूप आत्मा के विषय में सर्वअनात्मवस्तु का परित्यागरूप यजन करके, अथवा जिसकी प्राप्ति से सम्बन्धित समस्त प्रकार के सत्सङ्गति को सम्पादित करके तथा, सर्वमिदं ग्रसित्वा=भ्रमविषयीभूतत्वेन दृश्यमानयावद् वस्तुओं को तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट करके, आत्मचिन्तन-परायण मनुष्य, अपने स्वरूप में स्थिति वाले हो जाते हैं।

(यत एवं स्वरूपाऽवस्थानलक्षणो मोक्षः, अतएव चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वादेव न कर्मसाध्यममृतत्वम्, नाऽपि समुच्चिताभ्यां ज्ञानकर्मभ्यामिति "अमृत्युः कर्मणा केचित्" इत्येतदनुपपन्नमेवेत्युक्तं भवति। वक्ष्यति चाऽस्य पक्षस्य स्वयमेव निराकरणम्—

कर्मोदये कर्मफलाऽनुरागास्तत्राऽनुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्।

ज्ञानेन विद्वाँस्तेजोऽभ्येति नित्यम्, न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः।। इति।।१/९।।)

=जिस कारण से उपर्युक्त स्वस्वरूप में स्थिति स्वरूप मोक्ष होता है, इसीलिए काम्य, नित्य, नैमित्तिक एवं निषिद्ध भेद से भिन्न चतुर्विध कर्मों के फल से सर्वथा भिन्न होने के कारण ही अमृतत्वस्वरूपमोक्ष कर्मसाध्य होने के योग्य नहीं है और ना ही परस्पर मिले हुए ज्ञान और कर्मों के ही साध्य हो सकते हैं। उपर्युक्त विचाराऽनुसार जब कर्मसाध्य अमृत्युस्वरूपमोक्ष पर्यवसित नहीं हो रहा है, तब पुनः इस विषय को जो पूर्व में उठाते हुए मूल में कहा गया था—"अमृत्युः कर्मणा केचित्"=अर्थात् कुछ कर्ममार्गाऽनुयायी कर्म से मोक्ष की निष्पत्ति होती है" इस प्रकार मानने वालों का कथन असङ्गत ही है। कर्म साध्यमोक्ष के पक्ष का निराकरण आगे स्वयं इस ग्रन्थ के (१/९ का०) में इस प्रकार से कहा जाएगा—

कर्मों के उदय होने पर कर्मजनितफलों में अनुरक्त (आसक्त) होने वाले लोग उसी का अनुगमन करने वाले हो जाते हैं। कर्मफलाऽनुबन्धी प्राणी मृत्युस्वरूपअनात्मजगत् के साथ आत्मा के अभेद भ्रम को हटाने में सफल नहीं हो पाते हैं, अर्थात् कर्मफल के साथ आसक्ति से बँधा प्राणी मृत्युस्वरूपसंसार को पार करने में असमर्थ बने रहते हैं। श्रुतिपरिशोधित ब्रह्माऽऽत्मज्ञान वाला पुरुष आत्मतत्त्वज्ञान से नित्यभूतप्रकाशाऽऽत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। उस आत्मा की प्राप्ति के लिए केवल आत्मविज्ञान ही एकमात्र साधन है, उससे भिन्न कोई भी अन्य साधन उसको प्राप्त नहीं करा सकता है।।१/४।।

(अप्रमाद के अमृतस्वरूप होने में हेतु का प्रदर्शन)

शां० भा०—कथमेतदवगम्यते प्रमादो मृत्युरप्रमादोऽमृतत्वमिति ? तत्राऽऽह—

भाष्याऽर्थप्रभा—यह कैसे जाना जा सकता है कि प्रमाद मृत्यु है, तथा अप्रमाद अमृताऽऽत्मक मोक्ष है ? इस विषय का समाधान मूलग्रन्थ में कहा जा रहा है—

मू०— प्रमादाद् वा असुराः पराभवन्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
न वै मृत्युर्व्याघ्र इवाऽत्ति जन्तून् नाऽप्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ।।१/५।।

अन्वयः—वा, प्रमादात्, असुराः, पराभवन् , च, अप्रमादाद्, सुराः, ब्रह्मभूताः, मृत्युः, व्याघ्र इव, जन्तून्, न अत्ति, अपि, न, अस्य, रूपम्, उपलभ्यते ॥१/५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—वा=जिस कारण, प्रमादात्=प्रमादस्वरूप आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही, असुराः=असुरगण, पराभवन्=अपने स्वरूप की प्राप्ति से विमुख हुए, च=एवम्, अप्रमादात्=अप्रमादस्वरूपस्वाऽऽत्माऽनुसन्धान में सफल होने के कारण ही, सुराः=देवगण, ब्रह्मभूताः=ब्रह्मस्वरूप में अपने आत्मा को प्राप्त हुए । मृत्युः= चर्चा का विषयस्वरूपमृत्यु, व्याघ्र इव=प्राणियों के भक्षकबाध के समान, जन्तून्=मनुष्यआदि प्राणियों का, न अस्ति=भक्षण नहीं किया करता है, अपि=मृत्यु में जैसे प्रत्यक्ष जीवभक्षकत्व नहीं, उसी प्रकार, अस्य=इस मृत्यु का, रूपं न उपलभ्यते=शारीरिक आकार-प्राकार भी उपलब्ध नहीं हुआ करता है, जिसके कारण इसका प्रत्यक्षाऽभाव सिद्ध होता है ॥१/५॥

भावाऽर्थप्रभा—क्योंकि प्रमाद से ही (अज्ञान के कारण ही) अर्थात् अनात्मतादात्म्यमूलक काम-क्रोध, लोभ आदि दोषों से आक्रान्त होने के कारण ही असुरगण पराभव को प्राप्त हुए थे, अर्थात् मृत्यु के अधीन हो गये थे, तथा अप्रमादाऽऽत्मक स्वस्वरूपविषयकज्ञानवान् होने से ही शम-दमाऽऽदिसाधनसम्पन्न देवगण ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त किये थे । यहाँ पर यह निश्चित समझना चाहिए कि लोकव्यवहारसिद्ध जो मृत्यु है वह भी सिंह के समान प्राणियों का प्रत्यक्षरूप से भक्षण नहीं किया करती है और ना ही उसका कोई स्वरूप ही उपलब्ध हुआ करता है । इस विषय से सम्बद्ध श्रुति में वर्णन आता है कि एक समय विद्याप्राप्ति के उद्देश्य से प्रजापति ब्रह्माजी के पास देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन गये, उन दोनों को गुरुआश्रम में रहते हुए ब्रह्मव्रत पालन करने का आदेश ब्रह्माजी ने दिया, व्रत का पालन करते हुए उन दोनों को बत्तीस वर्ष बीत गये, तब ब्रह्माजी ने उन दोनों को प्रथम उपदेश किया, उपदेशाऽनुसार जलप्रतिबिम्ब के बिम्बरूप में शरीरेन्द्रियों में ही आत्मत्व का बोध होने लगा, असुरराजविरोचन ने गुरुद्वारा कहे गये पदार्थ पर बिना विचार किये ही विश्वास कर प्रमादवश उसके ऊपर विचार न करके विनाशशील शरीरेन्द्रियाऽदिकों को आत्मस्वरूप मानकर नास्तिकवाद सिद्धान्त का प्रवर्त्तक हुआ, किन्तु इन्द्र प्रतिबिम्ब के माध्यम से ब्रह्मोपदिष्ट शरीरेन्द्रियों में

नित्यभूतआत्मस्वरूपता की असम्भावना पर प्रमादशून्य होकर विचार आरम्भ किया और अपने गुरुजी से श्रुत्यादिप्रतिपादितआत्मतत्त्व की नित्यता, ऐवं आत्मत्वेन उपदिष्ट शरीराऽऽदिकों की अनित्यता के कारण उन दोनों के तादात्म्य की असम्भावना को गुरु जी से निवेदन किये, गुरुजी ने पुन: इसके आगे अविनाशी आत्मतत्त्व का उपदेश ग्रहणाऽर्थ पुन: ब्रह्मचर्य पालन के लिए आदेश दिये। महाराज इन्द्र ने अप्रमत्तभाव से सौ वर्षों तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया, तदनन्तर "छिन्नेष्वच्छिन्नं भिन्नेष्वभिन्नं सामान्यभूतम्" अर्थात् जिसके आश्रय का नाश होने पर भी आश्रय में अभिव्यक्त हुए आधेय का नाश न हो, तथा जिसके आश्रय के भिन्न होने पर भी आश्रयी में अनकेता व्यक्त नहीं हो पाती, इस प्रकार के जो अद्वैताऽऽत्मा नित्यभूत- कूटस्थ आत्मतत्त्व शरीराऽऽदिकों में वर्तमान है उसका उपदेश प्रजापति के द्वारा किया। इस प्रकार प्रमाद ही असुरों के अधिपति को ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व के निश्चय से दूर कर दिया और देवराज इन्द्र के आत्मस्वरूपोपलब्धि में अप्रमाद ही हेतु बना। प्रमाद अज्ञान का कारण होने से अज्ञान है, और अप्रमाद अज्ञाननिवारणपुरस्सर आत्मतत्त्वज्ञानोपलब्धि में प्रधान कारण है। प्रमाद से प्रभूत यह आत्मा का अज्ञान प्राणियों को संसार के जन्ममरण- रूपी चक्र में आवृत्त करता रहता है। इस अज्ञान का स्वरूप सामान्यरूप से दिखाई नहीं देता है। किन्तु वह अपने कार्य द्वारा ही ज्ञात होता है। यथा रज्जु में अज्ञान का कार्य-स्वरूप सर्प तो दिखाई देता है, किन्तु कारणीभूतअज्ञान दिखलाई नहीं देता है। इसी अदृश्यता के कारण मूलग्रन्थ में कहा गया है कि मृत्यु प्राणियों को व्याघ्र के समान भक्षण करते हुए दिखाई नहीं देती। अज्ञानरूपीमृत्यु आत्मज्ञानरूपीअमृतत्त्व के द्वारा ही निवर्त्तनीय है और अज्ञान की निवृत्ति होने से ही स्वस्वरूप में अवस्थितिस्वरूपमुक्ति का लाभ करने वाले होने से सुर कहे जाते हैं, और जिसका आत्माऽज्ञान दूर नहीं हो सका है अतएव उसके अधीन होते हुए जो प्राणी जन्ममरणरूपी चक्र में पड़े रहते हैं, वे ही असुर हैं ॥१/५॥

शां० भा०—प्रमादात्=स्वाभाविकब्रह्मभावप्रच्यवनाद् अनात्मनि देहादावात्मभावाद् असुरा:=विरोचनप्रभृतय: पराभवन्=पराभूता:। तथा च श्रुति:—"अनुपलभ्याऽऽत्मानम्" इत्यारभ्य "देवा वा असुरा वा ते पराभविष्यन्ति" इत्यन्तेन। तथाऽप्रमादात्=स्वाभाविकचित्सदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मना अवस्थानाद् ब्रह्मभूता: सुराश्चेन्द्राऽऽदय:। तथा च श्रुति:—"तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां च सर्वे लोका आप्ता: सर्वे च कामा:" इत्यादिना।

भाष्याऽर्थप्रभा—प्रमादसे=अपने स्वाभाविकब्रह्माऽऽत्मस्वरूप से प्रच्यवित (स्मृतिनाश द्वारा पृथक्) के समान हो जाने से, अर्थात् शरीरेन्द्रियाऽऽदिस्वरूप अनात्मा में आत्मस्वरूप की भावना करने से विरोचन आदि असुरगण पराभव को प्राप्त हुए। यहाँ इसी तरह की

श्रुति "आत्मस्वरूप को प्राप्त न होकर" यहाँ से आरम्भ करके "वे देवता हों या असुर पराभव (पराजय) को प्राप्त होंगे" यहाँ तक में उपलब्ध होती है। तथा अप्रमाद से अर्थात् स्वाभाविक अपने सच्चिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मभाव में स्थित होने के कारण इन्द्राऽऽदि देवतागण ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त किये थे। इस विषय को प्रकाशित करने वाली श्रुति भी इसी प्रकार से—"उस ब्रह्म के स्वरूपभूत इस शरीर में विद्यमान आत्मा की देवगण उपासना किया करते हैं, इस कारण से देवगणों को समस्त लोक और समस्त भोग उपलब्ध हैं।" इत्यादि मन्त्रों के द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

शां० भा०—अथवा, असुषु=प्राणेषु=इन्द्रियेषु एव रमन्त इत्यसुराः, अनात्मविदो वैषयिकाः प्राणिनोऽसुराः। ते स्वाभाविकब्रह्मभावमतिक्रम्यानात्मनि देहादावात्मभावमापन्नाः पराभवन्, तिर्यगादियोनिमापन्नाः। तथा च बह्वृचब्राह्मणोपनिषद्—"तस्मान्न प्रमाद्येत्तन्नातीयान्न ह्यत्यायन्पूर्वे येऽत्यायंस्ते पराबभूवुः" इत्यारभ्य "या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रोऽत्यायमायंस्ता-नीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः" इति।

तथा स्वस्मिन्नात्मन्येव रमन्ति इत्यात्मविदः सुराः। तथा चोक्तम्—

आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले।

ते सुरा इति विख्याताः सूरयश्च सुरा मताः॥

इति। अप्रमादात्ते स्वाभाविकब्रह्मात्मनावस्थानाद् ब्रह्मभूताः। निवृत्तमिथ्याज्ञानतत्कार्या ब्रह्मैव संवृत्ता इत्यर्थः।

नन्वस्य एव सर्वजन्तूनामुपसंहारको मृत्युः प्रसिद्धः, कथमुच्यते "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इति ? तत्राह—न वै मृत्युरिति। न वै मृत्युर्व्याघ्र इव अत्ति भक्षयति प्राणिनः। यदि भक्षयेत् तर्हि व्याघ्र इवास्य रूपमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते तस्मान्नास्त्येव मृत्युः॥५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—(अथवा, असुषु=प्राणेषु=इन्द्रियेषु एव रमन्ते इत्यसुराः, अनात्मविदो वैषयिकाः प्राणिनोऽसुराः।=) अथवा जो असुओं=प्राणों अर्थात् इन्द्रियों (के भोगों) में ही रमण करते हैं (=आनन्द का अनुभव करते हैं) वे अनात्मवस्तु को आत्मरूप में अनुभव करने वाले अनात्मज्ञ विषयाऽऽसक्त प्राणी ही असुर कहलाते हैं। (ते स्वाभाविकब्रह्मभावम् अतिक्रम्य अनात्मनि=देहादौ आत्मभावमापन्नाः पराभवन्= तिर्यगादियोनिम् आपन्नाः)=वे असुरगण स्वाभाविक अपने ब्रह्मस्वरूप का प्रमादवश परित्याग करके आत्मा से भिन्न शरीरेन्द्रिय आदिकों में आत्मदृष्टि करते हुए पराजित हो गये,अर्थात् तमोगुणाऽऽत्मक आत्मा के विपरीत ज्ञान से पूर्णतया आवृत्त हुए पशु आदि अधम योनि को प्राप्त हुए। (तथा च बह्वृचब्राह्मणोपनिषत्—"तस्मान्न प्रमाद्येत् तनाऽतीयान्न ह्यत्यायन् पूर्वे येऽत्यायंस्ते पराबभूवुः" इत्यारभ्य "या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रोऽत्यायमायंस्तानि

इमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः'' इति ।=)इस विषय में ऋग्वेदीय ऐतरेयाऽऽरण्यकोपनिषद् उपर्युक्त विचार के पोषकरूप में ही अपने मन्त्रों द्वारा कहती है कि—''उस धर्ममार्ग से प्रवृत्त होने में प्रमाद का परित्याग करे, उसका अतिक्रमण न करे, पूर्वकाल में असुरों ने उस आत्मतत्त्व का अतिक्रमण (विस्मरण अथवा विपरीत ज्ञान) किये थे, अतएव वे पराजित हो गये'' यहाँ से आरम्भ करके—''जिन देव, असुर एवं मनुष्य नाम से ख्यात इन तीनों प्रजाजनों ने आत्मप्रापकधर्म का परित्याग किये थे, वे पक्षीयोनियों को, वङ्ग=वनीयवृक्षों की योनियों को वगध=अन्नाऽऽदिऔषधियों की योनियाँ तथा, इरपदाः=सर्पाऽऽदियोनियों को प्राप्त किये हैं ।

(तथा स्वस्मिन्=आत्मनि एव रमन्ति इति आत्मविदः=सुराः । तथा चोक्तम्—

आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाऽचले ।

ते सुरा इति विख्याताः सूरयश्च सुरा मताः ।।इति।।

अप्रमादात् ते स्वाभाविक ब्रह्माऽऽत्मना अवस्थानाद् ब्रह्मभूताः । निवृत्तमिथ्याज्ञानतत्कार्या ब्रह्मैव संवृता इत्यर्थः । =) एवं जिनको अविचल अपनी आत्मवस्तु में, तथा अपनी आत्मा से अभिन्न अचलस्वरूप ब्रह्माऽऽत्मा में राग (स्नेह) हैं, वे सुर इस नाम से ख्यात हुए, यतः विद्या में प्राप्त सूरिता=वीरता वाले ही सुर कहे जाते हैं। वे अप्रमादा=अर्थात् स्वाभाविकरूप में अपनी ब्रह्मभावाऽऽत्मिका स्थिति से युक्त होने के कारण ब्रह्मस्वरूप हो गये, अर्थात् ब्रह्म जीव के मध्य भेदोत्पादक ब्रह्मविषय विषयक अज्ञान की निवृत्ति तथा तत्प्रयुक्त जीव-ब्रह्मभेदमूलक कर्तृत्व-भोक्तृत्वाऽऽदि अनर्थाऽऽत्मक संसार की निवृत्ति हो जाने के कारण वे केवल ब्रह्मरूप में ही स्थिति लाभ किये हैं । यह उपर्युक्त वाक्य का अर्थ है ।

(नन्वन्य एव सर्वजन्तूनामुपसंहारकोमृत्युः प्रसिद्धः, कथमुच्यते ''प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इति ? तत्राऽऽह—न वै मृत्युरिति । न वै मृत्युर्व्याघ्र इव अत्ति=भक्षयति प्राणिनः । यदि भक्षयेत् तर्हि व्याघ्र इवाऽस्य रूपमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते, तस्मान्नाऽस्त्येव मृत्युः ।=)

शंका—लोक में तो उपर्युक्त प्रमादाऽऽत्मकमृत्यु से भिन्न ही सम्पूर्ण जीवों का संहारक मृत्यु प्रसिद्ध है । तो पुनः आपके द्वारा किस प्रकार कहा गया है कि—''प्रमाद को ही मैं मृत्यु कहता हूँ ।'' इस प्रकार की आशङ्का उपस्थित होने पर समाधान कहा जा रहा है—''न वै मृत्युः'' इत्यादि ग्रन्थद्वारा । इसका भाव यह है कि मृत्यु व्याघ्र (बाघ) के समान प्राणियों का भक्षण नहीं किया करती है । यदि यह मृत्यु वास्तव में व्याघ्रतुल्यप्राणि-भक्षण में प्रवृत्त होती, तो पुनः व्याघ्र में जिस प्रकार आकार-प्राकार-रूप-रङ्ग क्रियाएँ हुआ

करती हैं, जिसके कारण उसका इतर विलक्षणरूप से प्रत्यक्ष हुआ करता है, उसी प्रकार मृत्यु के आकार-प्रकाराऽऽदिकों की भी स्थिति होती, और ऐसी स्थिति में उसका प्रात्यक्षिक अनुभव अवश्य होता, किन्तु ऐसा प्रत्यक्ष होते देखा नहीं जाता है। अत: लोकप्रसिद्ध मृत्यु है ही नहीं ॥१/५॥

(एक अन्य मत के अनुसार यम ही मृत्यु है, किन्तु वास्तविकरूप से विचार किये जाने पर प्रमाद ही मृत्युरूप से पर्यवसित होता है, इसी आशय का शंकापूर्वक प्रकाश किया जा रहा है)—

शां० भा०—ननूपलभ्यते सावित्र्युपाख्याने—

अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम्।

अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।।इति।।

कथमुच्यते नास्यरूपमुपलभ्यते इति ? तत्राऽऽह—

भाष्याऽर्थप्रभा—शङ्का—यदि लोकप्रसिद्ध मृत्यु स्वीकारवादी ऐसा कहे कि— सावित्री उपाख्यान में इस प्रकार का मृत्युदेव उपलब्ध होता है ? सावित्री उपाख्यान से सम्बन्धित पौराणिक श्लोक इस प्रकार का है—

अथ=वृक्ष पर से गिरने के उपरान्त सत्यवान् के शरीर से यमपाश में बँधे हुए, तथा यमराज के अधीन हुए अँगूठे मात्र परिमाण के पुरुष को यमराज ने बलपूर्वक खींचा। इस प्रकार पौराणिक आप्तवाक्य के माध्यम से यमरूप में प्रसिद्ध मृत्यु की अवगति हो रही है ? तब पुन: कैसे कहा जा रहा है कि मृत्यु के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है ? इस पर आगे का ग्रन्थ कहा जा रहा है—

मू०—यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मावासममृतं ब्रह्मचर्यम्।

पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम्।।१/६।।

अन्वयः—एके, तु, अत:, अन्यम्, यमम्, मृत्युम्, आह, आत्माऽऽवासम् देव:, पितृलोके, अमृतम्, ब्रह्मचर्यम्, राज्यम्, अनुशास्ति, शिवानाम्, शिव:, अशिनानाम्, अशिव: ॥१/६॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—एके=कुछ लोग, तु=तो, अन्यम्=प्रमादस्वरूप अज्ञान से भिन्न, यमम्=सूर्यपुत्र यमराज नाम वाले, मृत्युम्=मृत्युदेव को, आह=कहते हैं। आत्माऽऽवासम्=जो कि बुद्धि में निवास करने वाला है, देव:=वह सबका प्रकाशक, पितृलोके=पितरलोक में विराजमान होकर, अमृतम्=अविनाशी, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचर्ययुक्त हुआ, राज्यम्=राज्यशासन को, अनुशास्ति=सञ्चालित किया करते हैं, (जो कि) शिवानाम्=

पुण्यशीलों के लिए, शिवः=कल्याणप्रद हैं, (तथा) अशिवानाम्=पापियों के लिए, अशिवः=अमङ्गलकारी हैं ॥१/६॥

भावाऽर्थप्रभा—यदि लोकप्रसिद्ध मृत्यु नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, तो पुनः पुराणाऽऽदि ग्रन्थों में जो उसकी स्वरूपसत्ता स्वीकार की गयी है उसकी क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं कि—कुछ पौराणिकलोग इसी पौराणिक एवम् ऐतिहासिक प्रसिद्धि के कारण प्रमादस्वरूपअज्ञान से भिन्न यमराज को ही मृत्यु कहते हैं तथा आत्मा में कल्पित ब्रह्मचर्यपालन को ही अमरत्व की श्रेणी में ले जाते हैं। सरलाऽर्थ यह है कि—प्रमाद से भिन्न अपनी बुद्धि में वर्त्तमान अविनाशी तथा ब्रह्मनिष्ठ यम को मृत्यु कहा करते हैं। जो पितृलोक में राज्यशासन करते हैं, तथा पुण्यशीलों को आनन्दित करने वाले, एवं पापकर्मियों को दुःख देने वाले देव हैं ॥१/६॥

शां० भा०—सत्यमुपलभ्यते, तथाऽपि न साक्षाद् मृत्युः। कस्तर्हि ? यः प्रमादाऽऽख्यो मृत्युरज्ञानं स एव, साक्षाद्विनाशहेतुत्वात्। तथाज्ञानस्य विनाशहेतुत्वं श्रूयते—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती 'विनष्टिः' इति। बृहदारण्यके प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य साक्षान्मृत्युत्वं दर्शितम्—"मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्" इति। यस्मात्प्रसाद एव साक्षात् सर्वानर्थबीजं तस्मान्न प्रमाद्येत, चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावेनैवावतिष्ठेतेत्यर्थः। तथा चाज्ञानस्य बन्धहेतुत्वं विज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तं भगवता—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इति।

यस्मात्प्रसाद एव मृत्युः, अप्रमादोऽमृतत्वम्, अत एव न कर्मसाध्यममृतत्वम्। नापि कर्मप्राप्यम्, नित्यसिद्धत्वात्, नित्यप्राप्तत्वाच्च। तथा च श्रुतिः—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयात्" इति। तथा—"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय", "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं दर्शितम्। तथा च न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" इति।

वक्ष्यति च भगवान् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वम्—अन्तवन्तः क्षत्रिय ते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन" (३/१८) इति, "एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः" इति च। तथा च मोक्षधर्मे—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥इति॥

ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञा ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥इति च॥

भाष्याऽर्थप्रभा—सत्यमुपलभ्यते, तथाऽपि न साक्षान्मृत्युः। कस्तर्हि ? यः प्रमादा-

ऽऽख्योमृत्युः=अज्ञानम्, स एव, साक्षाद्विनाशहेतुत्वात्। तथा ज्ञानस्य विनाशहेतुत्वं श्रूयते—इहचेदवेदीद् अथ सत्यम् अस्ति, न चेद् इहाऽवेदीत् महती विनष्टिः—इति=यद्यपि प्रमादाऽऽत्मक आत्माऽज्ञानसे भिन्नरूप में मृत्युदेव की पुराणाऽऽदिशास्त्रों के द्वारा अनुभूति हुआ करती है इसमें विरोध नहीं है, तथाऽपि यह सद्यःमृत्यु नहीं कहा जा सकता है। **प्रश्न**—यदि इसको साक्षात् मृत्यु न कहा जाय, तो पुनः साक्षात् मृत्यु किसे कहा जा सकता है ? **उत्तर**—जो प्रमादनाम से कहा गया अज्ञानस्वरूप मृत्यु है, वह ही विनाश का साक्षात्कारण होने से वास्तविकरूप से मृत्यु कहने के योग्य है। एवम् आत्मा के अज्ञान में विनाश की हेतुता श्रुतिद्वारा कही गयी है। यथा—'यदि जीवित रहते इस शरीर में आत्मवस्तु का अनुभव कर लिया तब तो जीवित इस शरीर से परमसिद्ध हुआ समझना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत यदि शरीर के रहते हुए ही इस शारीरकआत्मा के अनुभव का लाभ नहीं कर सका तो पुनः धृतजीवन की सबसे बड़ी हानि हुई समझनी चाहिए।' इति।

बृहदारण्यके प्रमादाऽऽख्याऽज्ञानस्य साक्षान्मृत्युत्वं दर्शितम्—"मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्" यस्मात् प्रमाद एव साक्षात् सर्वाऽनर्थबीजं तस्मान्न प्रमाद्येत, चिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्मभावनैवाऽवतिष्ठेतेत्यर्थः। तथा चाऽज्ञानस्य बन्धहेतुत्वं विज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तं भगवता—"अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।" इति। =इस प्रदर्शित श्रुति से अतिरिक्त 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में भी प्रमाद नाम से कहे जाने वाले आत्मा के अज्ञान को साक्षात् मृत्यु के रूप में वर्णन किया गया है। वह श्रुति इस प्रकार उपलब्ध होती है—"स्वस्वरूपाऽऽच्छादक अज्ञान ही मृत्यु है तथा प्रकाशाऽऽत्मक ज्ञान ही अमृत है।" यतः प्रमाद (=अज्ञान) ही निखिल अनर्थों का सद्यः कारण है। अतः प्रमाद नहीं किया जाना चाहिए, अर्थात् सत्-चित्-आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्माऽऽत्मरूप से ही स्थित रहना चाहिए। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी स्वस्वरूपाऽऽच्छादकअज्ञान में बन्धन की हेतुता को, तथा स्वस्वरूपप्रकाशकविशिष्टज्ञान (ब्रह्मज्ञान) में मोक्षहेतुता को प्रकाशित करते हुए कहते हैं कि—अज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा आच्छादित हो गया है, इसलिए जीव, स्वस्वरूपविस्मृतिस्वरूपअज्ञान को प्राप्त हो गये हैं। इति।

यस्मात् प्रमाद एव मृत्युः, अप्रमादोऽमृतत्वम्, अत एव न कर्मसाध्यममृतत्वम्। नाऽपि कर्मप्राप्यम्, नित्यसिद्धत्वात्, नित्यप्राप्तत्वाच्च। तथा च श्रुतिः—"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्" इति। तथा "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय", "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं दर्शितम्। तथा च "न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा नाऽन्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥" इति।

जिस कारण से प्रमाद ही मृत्यु कहा जाता है, और प्रमाद का विरोधी अप्रमाद ही मोक्ष नाम से कहा जाने के योग्य अमरत्व है। इसलिए वह अमृतत्व कर्म से उत्पन्न होने वाला कर्म का साध्य नहीं बन सकता है, और न ही नित्यप्राप्त होने के कारण ग्रामाऽऽदि के समान कर्म से प्राप्त होने योग्य ही है। इस विषय से सम्बद्धा श्रुति भी कहती है कि— ब्रह्माऽऽत्माऽनुभवी की ऐसी नित्यमहिमा (प्रभाव) है कि न तो वह कर्म से वृद्धि को प्राप्त होता है और न घटने वाला ही होता है। तथा "उसी ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप का प्रात्यक्षिक-अनुभव करके ज्ञाता पुरुष मृत्युस्वरूप अनर्थाऽऽत्मकसंसार को पार कर जाता है, मोक्षप्राप्ति के लिए आत्माऽनुभवाऽऽत्मकमार्ग से भिन्न और कोई मार्ग नहीं है। "ब्रह्मवेत्ता धीरपुरुष उस आत्मतत्त्व का अनुभव कर अपनी बुद्धि को वहाँ स्थिर करे।" इन श्रुतिवचनों के द्वारा भी ब्रह्माऽऽत्मज्ञान में ही मुक्ति की साधनता दर्शायी गयी है। मोक्षजनकत्वेन पुनः उसी प्रकार से आत्मज्ञान के वैलक्षण्य से सम्बन्धितश्रुतिवाक्य उपलब्ध होते हैं—यह आत्मतत्त्व न नेत्र द्वारा ज्ञात होता है, न वाणी के द्वारा, न अन्य इन्द्रियों के माध्यम से, न तपस्या द्वारा, अथवा न कर्मद्वारा ही वह ग्रहण करने योग्य है। जब ज्ञान की प्रसन्नता से पुरुष निर्मलअन्तःकरणवाला होता है, उसी समय ध्यान किये जाने पर, उस अखण्ड ज्योति के साक्षात्कार को सम्पन्न करता है। इस श्रुतिवाक्य से भी दुःसाध्य बह्माऽऽत्मसाक्षात्कार में ही मोक्षसाधनता ज्ञात होती है। इति।

वक्ष्यति च भगवान् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वम्—

"अन्तवन्तः क्षत्रिय ! ते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन।" (स०सु०द०अ०३, श्लोक १८) इति। "एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन् न बिभेति मृत्योः।' () इति च।

तथा च मोक्षधर्मे—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।

तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।इति।।

ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञाः, ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ।।इति च।।

इसी अभिप्राय से प्रकृत ग्रन्थ में भी भगवान्सुजात जी आत्मज्ञान में ही मोक्षसाधनता को कहने वाले हैं—हे क्षत्रिय ! वे लोग कर्मद्वारा बनाए गये विनाशशील लोकों को प्राप्त किया करते हैं। तथा इस प्रकार से उत्पन्न होने वाली मृत्यु से भयभीत नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार महाभारत के मोक्षधर्म में इस विषय को लेकर इस प्रकार कहा गया है— "प्राणी अज्ञानमूलक कर्मों की आसक्ति से बँधता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति करके मुक्त होता है। इसी कारण से कर्मों के आदि-अन्त को जानने वाले मुनिगण संसारोद्भावककर्म

नहीं किया करते हैं।'' पुनः वहाँ पर इस प्रकार भी कहा गया है कि—जो मोक्षेच्छु पुरुष आत्मज्ञानविशिष्ट है, वह आत्मज्ञानी उसी प्रकार फलेच्छा के अधीन हुआ विधिपूर्वक यज्ञस्वरूप कर्म नहीं किया करते, क्योंकि मनुष्य ज्ञान से तो दुर्गम संसार को पार कर सकते हैं, किन्तु यज्ञाऽऽत्मककर्मों से नहीं।

शां० भा०—तथा च ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं मन्यमानः सर्वकर्मपरित्यागमाह भगवान् वेदाऽऽचार्यो मनुः—

''यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।

आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाऽभ्यासे च यत्नवान्।।इति।।

तथाऽऽह भगवान् परमेश्वरः—

ज्ञानं तु केवलं सम्यग् अपवर्गफलप्रदम्।

तस्माद् भवद्भिर्विमलं ज्ञानं कैवल्यसाधनम्।।

विज्ञातव्यं प्रयत्नेन श्रोतव्यं दृश्यमेव च।

एकः सर्वत्रगो ह्यात्मा केवलश्चितिमात्रकः।।

आनन्दो निर्मलो नित्यः स्यादेतत् सांख्यदर्शनम्।

एतदेव परं ज्ञानम् एतन्मोक्षोऽनुगीयते।।

एतत् कैवल्यममलं ब्रह्मभावश्च वर्णितः।

आश्रित्यैतत् परं तत्त्वं तन्निष्ठास्तत्परायणाः।।

गच्छन्ति मां महाऽऽत्मानो यतयो विश्वमीश्वरम्।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार से वेदाऽऽचार्य भगवान् मनु जी ने भी ब्रह्माऽऽत्मज्ञान में ही मोक्षप्राप्ति की साधनता स्वीकार करते हुए समस्त कर्मों के परित्यागाऽर्थ उपदेश देते हैं—

मोक्ष की कामना वाले ब्राह्मणाऽऽदिद्विजों के लिए यह कर्तव्य अपेक्षित है कि सर्वप्रथम बतलाए हुए वेदविधिबोधित संसारसम्बन्धी फलों के प्रदायक कर्मों का भी परित्याग करें, अनन्तर, आत्मज्ञान के सम्पादन में, मनोनिग्रहाऽऽत्मक शम में, तथा आत्मतत्त्वाऽऽवेदक वेदाऽभ्यास में तल्लीन हो जाय। इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर ने भी स्वयं श्रीमुख से इस प्रकार कहा है कि—केवल एक आत्मज्ञान ही निश्चित रूप से मोक्षस्वरूप फल को प्रदान करने में सक्षम है। अतः आप सबके द्वारा कैवल्यप्राप्ति के साधनीभूत निर्मलआत्मज्ञान ही प्रयत्न से जानने योग्य, सुनने योग्य और अनुभव करने

योग्य है ।

आत्मवस्तु ही अखण्ड (अद्वितीय) सर्वव्यापक, शुद्धचैतन्यमात्र, आनन्दस्वरूप, निर्मल एवं नित्य है । यह सांख्यशास्त्र का निर्णीत मत है । यही आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, और यही ज्ञान (मोक्षसाधन होने से) मोक्ष कहा जाता है । यही शुद्ध कैवल्य का स्वरूप है । इसी को ब्रह्मभाव भी कहा गया है । इस परमतत्त्व का अवलम्बन कर इसी में निष्ठा और तत्परता रखने वाले महात्मा यतिजन मुझ विश्वस्वरूप परमेश्वर को ही प्राप्त हुआ करते हैं ।

शां० भा०—नन्वेवं चेत्! तर्हि कर्माणि नाऽनुष्ठेयानि ? न नाऽनुष्ठेयानि, किन्तु ज्ञानिना नाऽनुष्ठेयानि । तथा चाऽऽह भगवान् वासुदेवः—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।इति।।

तथा च ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयाः—

किमद्य नश्चाऽध्ययनेन कार्यम्,

किमर्थवन्तश्च मखैर्यजामः ।

प्राणं हि वाऽप्यनले जोहवीमः,

प्राणाऽनले जुह्वीमीति वाचम् ।।इति।।

तथा च बह्वृच्ब्राह्मणोपनिषद्—"किमर्थं वयमध्येष्यामहे ।' तथा च बृहदारण्यके विदुषः कर्मसन्यासं दर्शयति—"एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्तिं ।।" इति ।

तथा लैङ्गे—

ज्ञानाऽमृतेन तृप्तश्च कृतकृत्यस्य योगिनः ।

नैवाऽस्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ।।इति।।

तथा च आथर्वणीश्रुतिः—"नैतद्विद्वानृषिणा विधेये न रुन्धते विधिना शब्दकारः ।" इति ।

भाष्याऽर्थप्रभा—उपर्युक्त प्रकार से यदि कर्म करने से संसारसम्बन्धस्वरूपमृत्यु की प्राप्ति होती है, तो न चाहते हुए भी मनुष्य पुनः मृत्यु के उत्पादक कर्म में क्यों प्रवृत्त हुआ करते हैं ? यतः मृत्युसम्बन्ध किसी को इष्ट नहीं, तो पुनः उस सम्बन्ध के साधक

कर्मों में किसी की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए ?

समाधान—न नाऽनुष्ठेयानि (कर्माणि), किन्तु ज्ञानिना नाऽनुष्ठेयानि (कर्माणि)=यागाऽऽदिशुभ कर्म किसी के लिए सम्पादन करने योग्य नहीं है, यह नहीं कहा जा रहा है, परन्तु केवल आत्मतत्त्व ज्ञानियों के लिए (ही) कर्म करने योग्य नहीं होते हैं। इसी प्रकार से भगवान् वासुदेव (कृष्ण जी) ने गीता में अपने मन्तव्य को व्यक्त किया है—जिस आत्मज्ञानी का अपनी आत्मा में ही राग है, एवं जो अपनी आत्मा में ही पूर्णता का अनुभव करने वाला, तथा आत्मलाभ में ही परमतुष्टि का अनुभव किया करता है ऐसे आत्मरमणशील परमाऽऽनन्दपदारूढ आत्मज्ञानी के लिए कुछ भी कर्तव्यकर्म शेष नहीं रहता है। इति=वाक्याऽर्थसमाप्तिसूचनाऽर्थ ''इति'' इस अव्ययपद का प्रयोग हुआ जानना चाहिए।

तथा ब्रह्माऽण्डपुराण में कावषेयगण इस प्रकार कहते हैं—अब हम ब्रह्मज्ञानियों को अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है, और किस अभीष्ट की प्राप्ति के लिए तत्तद् यज्ञों के माध्यम से हम लोग हविस्त्यागाऽऽत्मक यजन कर्म करें, किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए शरीरस्थ इन्द्रियों और पञ्चप्राणवायुओं को अग्नि में (तपस्यारूपी अग्नि में) हवन करें, तथा प्राणों में वाणी का हवन करें।

इसी प्रकार ऋग्वेदीय ब्राह्मणोपनिषत् में भी इस विषय को लेकर कहा गया है कि—''हम लोग किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए अध्ययन करेंगे।' कुछ इसी विचार से सम्बन्ध रखने वाली बृहदारण्यक श्रुति में विद्वानों के कर्मसंन्यास को प्रदर्शित किया गया है—यह बात प्रसिद्ध है कि पूर्वकाल में आत्मतत्त्व को जानने वाले विद्वान् जन प्रजा (पुत्र-पुत्री आदि सन्तानों) की इच्छा नहीं किया करते थे, वे लोग इस प्रकार विचारते थे कि हम लोग किस लिए पुत्राऽदिस्वरूप प्रजा की सृष्टि करें, क्योंकि जिन हम लोगों का यह आत्मा ही यह प्रत्यक्षअनुभूयमान आत्मलोक है। इस कारण से, अर्थात् आत्मज्ञानी अनात्मजगत् से सम्बन्धित प्रयोजनों में तुच्छता का अनुभव करके एवं आत्मा को ही सर्वोत्कृष्ट धन मान करके उसका प्रतिबन्धकरूप से अनुभवविषय बनने वाले पुत्राऽऽदिकों की कामना से, हिरण्यभूमि आदि स्वरूप अर्थ की कामना से, एवम् अनात्मलोकीय यश:प्रतिष्ठा आदि की कामना से उठकर अर्थात् पुत्राऽऽदिविषयक समस्त कामना का परित्याग करके, उस आत्मलोक की प्राप्तिकामना से ही ब्रह्मजिज्ञासुगण भिक्षाचर्याऽऽदिकों का आचरण किया करते हैं। इस श्रुतिवाक्य के द्वारा, तथा ऊपर के श्रुति द्वारा, आत्मज्ञानियों के लिए कर्मत्याग का ही उपदेश किया गया है। इसी तरह लिङ्गपुराण में भी कहा गया है कि—''आत्मज्ञानरूपी अमृत के पान करने से जो तृप्त हो चुका है, इस प्रकार के कृतकृत्यता को प्राप्त योगी के लिए कुछ भी करने योग्य कर्म

शेष नहीं रहता है। यदि उसके लिए कोई कर्तव्यकर्म शेष है, तो पुनः शेष कर्तव्यकर्म के रहते वह वास्तविक रूप में आत्मतत्त्ववेत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकता।'

इस विषय में इसी प्रकार अथर्ववेदीयश्रुति भी कहती है कि—"यह आत्मतत्त्व का अनुभवी विद्वान् वेदमन्त्रद्वारा विधान किये गये यागाऽऽदिकर्मों में प्रवृत्त नहीं हुआ करता क्योंकि आत्मज्ञानी वेदादिविधियों से बँधा हुआ नहीं होता है। यतःआत्मतत्त्ववेत्ता ऋषि वेदाऽऽदि शब्दों का उद्भावक (सर्जक) होता है।

शां० भा०—केन तर्ह्यनुष्ठेयानि ? अज्ञानिना आरुरुक्षुणा सर्वकर्माणि सर्वदा अनुष्ठेयानि, न ज्ञानिना। तथा चाऽऽह भगवान्—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।इति।।

अरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते।

योगाऽऽरूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।इति च।।

तथा चाऽऽह भगवान् सत्यवतीसुतः—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च व्यवस्थितः।।इति।।

नन्वेवमारुरुक्षुणाऽपि कर्माणि नाऽनुष्ठेयानि, कर्मणां बन्धहेतुत्वात्। तथा चोक्तं भगवता—"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।' इति। सत्यम्, तथाऽपि ईश्वराऽर्थतया फलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानानि न बन्धहेतूनि। तथा चोक्तं भगवता—

यज्ञाऽर्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर।।इति।।

किमर्थं तर्हि तेषामनुष्ठानम्?

सत्त्वशुध्यर्थमिति ब्रूमः। तथा चोक्तं भगवता—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये।।इति।।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।इति।।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानाऽवस्थित चेतसः।

यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।इति च।।

तथा च—

कषायपंक्तिः कर्माणि ज्ञानन्तु परमा गतिः ।

कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते ।।इति ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—प्रश्न—तो पुनः किस पुरुष के द्वारा कर्म किये जाने योग्य हैं ? अर्थात् किसके लिए कर्म कर्त्तव्य है ?

समाधान—आत्मतत्त्व को न जानने वाला, किन्तु मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने की इच्छा वाला जो पुरुष है, उसी से सर्वदा सम्पूर्ण कर्म करने के योग्य होते हैं, आत्मज्ञानी में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान न होने से उनसे होने वाला कर्म कर्तव्य की कोटि में नहीं आता है। यह बात भगवान् कृष्ण के द्वारा भी गीताजी में स्पष्ट की गयी है—हे निर्मल चित्तवाले अर्जुन! प्राचीनकाल में इस लोक में दो निष्ठाएँ (कर्तव्यमार्ग) मेरे द्वारा कही गयीं थीं। साङ्ख्य(ज्ञान)मार्गियों को ज्ञान मार्ग से, तथा कर्मयोगियों को कर्मयोग के द्वारा (परमपद मोक्ष की प्राप्ति होती है।) तथा जो भगवत्प्राप्ति के मार्ग में प्रवृत्त होने की इच्छा वाला है, उसके इष्टप्राप्ति का साधन कर्मयोग है, तथा जो योगाऽऽरूढपुरुष है, उसके लिए आत्मप्राप्ति का साधन कर्मयोग न होकर शम=कर्मों के त्यागपूर्वक ज्ञानाऽभ्यासाऽऽत्मकनिदिध्यासन ही साधन कहा गया है। इसी प्रकार सत्यवतीपुत्र भगवान् व्यासजी ने भी कहा है—इस लोक से सम्बन्धित दो ही मार्ग हैं जिन दोनों को कहने के लिए ही वेदों के तात्पर्य निर्धारित होते हैं। इन दोनों धर्मों में एक प्रवृत्तिस्वरूप धर्म मार्ग हैं और दूसरा निवृत्तिमार्ग ये दोनों ही मार्ग शास्त्रों में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं।

नन्वेवमारुरुक्षुणाऽपि कर्माणि नाऽनुष्ठेयानि, कर्मणां बन्धहेतुत्वात्=**शङ्का**—यदि प्रवृत्तिमार्ग में स्थित होकर किया जाने वाला कर्म संसाराऽऽत्मक अनर्थ का उत्पादक है, तो ऐसी स्थिति में जो मोक्षमार्ग में आरूढ होना चाहते हैं, उनके द्वारा कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि (उपर्युक्त विचाराऽनुसार) कर्म अनर्थ के साथ बाँधने का कारण हुआ करता है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के द्वारा भी कहा गया है—

प्राणी अपने द्वारा किये जाने वाले कर्मों से संसार में बँधता है, तथा अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान (विद्या) द्वारा मुक्त हो जाता है।

समाधान—यद्यपि उपर्युक्त वचन सत्य ज्ञात होता है, तथाऽपि कर्मों के फलभोग की अपेक्षा न रखकर केवल भगवद्अर्पणबुद्धि से किये जाने वाले कर्म, संसारबन्धन के हेतु नहीं होते हैं। ऐसा ही गीताजी में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा भी कहा गया है—'यज्ञ ही विष्णु है' (यज्ञो वै विष्णुः) इस श्रुति के अनुसार परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए किये जाने वाले कर्मों को छोड़कर, अन्य जितने भी निषिद्ध और काम्य कर्म हैं, उन कर्मों के

सम्पादन से लोग जन्म-मरणाऽऽदिबन्धन को ही प्राप्त होते हैं, इसलिए हे कौन्तेय ! तुम आसक्ति को छोड़कर केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करो। (गी० ३/९)

शंका—यदि कर्म जन्म-मरणाऽऽदिस्वरूप अनर्थ की प्राप्ति में वेदाऽऽदिविहित कर्म भी निमित्त हैं, तो पुन: बन्धनकारक इन कर्मों का अनुष्ठान क्यों किये जाँय ?

समाधान—चित्त की शुद्धि के लिए कर्म करने योग्य है, ऐसा हम कहते हैं। इस विषय में श्रीभगवान् ने भी श्री गीताजी में कहा है—योगीजन शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से फलाऽऽसक्ति त्यागकर केवल अन्त:करण की शुद्धि (राग-द्वेष आदि की निवृत्ति) के लिए ही कर्म किया करते हैं। (गी० ५/११) इसी प्रकार पुन: कहते हैं कि—"बुद्धिसम्पन्न लोगों के यज्ञ, दान एवं तप, क्रिया, कर्ता के अन्त:करण को पवित्र करने वाले होते हैं। जो अनात्मजगत् के समस्त आसक्तियों से रहित एवं मुक्त हैं, जिसका चित्त अपने ज्ञानस्वरूपआत्मा में स्थिर हो चुका है, तथा जो केवल विष्णुअर्पणबुद्धि से ही कर्मों का सम्पादन किया करता है, उसके द्वारा किये गये सभी कर्म लीन हो जाते हैं। अर्थात् अहम्,मम, इत्यादि अभिमान से रहित=अहङ्कारशून्य, कामनाओं से रहित एवं सर्वदा ब्रह्माऽऽकारचित्तवृत्ति वाले पुरुष द्वारा भगवान् की प्रसन्नता के लिए, अथवा लोकविदित सदाचार की रक्षा के उद्देश्य से आत्मज्ञानी द्वारा करने योग्य सम्पूर्णकर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं, अर्थात् जन्म-मरणाऽऽदिकों की प्राप्ति का कारण नहीं बनते हैं। (गी० ४/२३) शास्त्रों में ऐसा भी श्रवणगोचर होता है कि—कर्म वासनाओं को जीर्ण करने के लिए होता है, अर्थात् पकाने वाले होते हैं, किन्तु आत्मज्ञान का अभ्यास तो परमागति (मोक्ष) प्रदान करने वाला होता है। कर्मों के सम्पादन द्वारा वासनाओं के पक जाने के (कमजोड़ या सामर्थ्यहीन हो जाने के) उपरान्त ज्ञान मोक्ष देने के लिए प्रवृत्त होता है।

शां० भा०—ननु कर्मणामपि मोक्षहेतुत्वं श्रूयते—

"विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह"(ईशावा०) इति।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा: ।।"इति च।।

तथा च मनु:—

"तपो विद्या च विप्रस्य नि:श्रेयसकरे उभे" ।।इति।।

नैतत्, पूर्वाऽपराऽननुसन्धाननिबन्धनोऽयं भ्रम:। तथा हि—"विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" इत्युक्त्वा "अविद्ययामृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति विद्याऽविद्ययोर्भिन्नविषयत्वेन समुच्चयाऽभाव: श्रुत्यैव दर्शित:।

इममेवाऽर्थं स्पष्टयन् भगवान् मनु:—

"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे" इत्युक्ते समुच्चयाऽऽशङ्का मा भूदिति "तपसा कल्मषं हन्ति, विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति तपसो=नित्यनैमित्तिकलक्षणस्य कर्मणोऽन्तः-करणशुद्धावेव विनियोगं दर्शितवान्।

भाष्याऽर्थप्रभा—शङ्का—मोक्षप्राप्ति की हेतुता तो कर्मों की भी सुनी जाती है?, यथा—"जो पुरुष उपासनाऽऽत्मक विद्या और कर्म नामक अविद्या इन दोनों को साथ ही साथ जानता है', तथा "कर्म करते रहते ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें" (ऐसा श्रुतिवाक्यों से अवगत होता है।) ऐसा ही पुनः मनुजी का भी कथन है—"तपस्या और ज्ञान ये दोनों ही ब्राह्मण के कल्याण का साधन हैं।"

समाधान—आप जैसा समझ रहे हैं वैसी वास्तविकीस्थिति है नहीं, किन्तु पूर्वशास्त्र और परशास्त्र के प्रसङ्ग का अनुसन्धान अच्छी तरह से न किये जाने के कारण इस विषय में आपको भ्रम उत्पन्न हुआ है। भ्रम की स्थिति इस प्रकार जानना चाहिए—"जो विद्या और अविद्या इन दोनों को एक साथ जानता है," इस प्रकार कह कर पुनः—(वह पुरुष) अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा मोक्षरूपी अमृत को प्राप्त करता है।" इस वाक्य के द्वारा श्रुति में, स्पष्ट ही भिन्न-भिन्नफलविषयक होने के कारण, विद्या और अविद्या के एकफलसाधकत्वेन परस्परसापेक्षत्व स्वरूपसमुच्चय की असम्भावना को प्रदर्शित किया गया है। इसी तात्पर्याऽर्थ को स्पष्ट करते हुए भगवान् मनुजी ने कहा है कि—"ब्राह्मण के लिए तप और ब्रह्मज्ञान दोनों ही कल्याणकारी हैं।" इस वचन में विद्या और तप (कर्म) अर्थों के समुच्चय का भ्रम उत्पन्न न हो, इस कारण से पुनः उस वचन की व्याख्या करते हुए पुनः इस प्रकार कहा गया—तप से=वेदाऽऽदिविहितसत्कर्मों के द्वारा कर्मकर्ता अपने पाप को नष्ट करता है, तथा ब्रह्माऽऽत्मज्ञानरूपी विद्या से मोक्षस्वरूप अमरत्व को प्राप्त करता है।" इस प्रकार से उसका स्पष्टीकरण करके, तपसः=नित्य-नैमित्तिकस्वरूप कर्मों का उपयोग अन्तःकरण की शुद्धि में ही दिखलाया गया है।

शां० भा०—तथा 'ईशावास्यमिदꣳसर्वम्' इति सर्वस्य तावन्मात्रत्वमुक्त्वा तदात्मभूतस्य सर्वस्य तावन्मात्रत्वं पश्यतस्तद्दर्शनेनैव कृतार्थस्य साध्यान्तरमपश्यतः 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इति त्यागेनैवात्मपरिपालनमुक्त्वा, अतदात्मवेदिनः केन तर्हि आत्मपरिपालनम्? इत्याशङ्क्याह—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' इति। एवं सर्वभूते त्वयि नरमात्राभिमानिन्यज्ञेऽविद्यानिमित्तोत्तरपूर्वाधयोरश्लेष-विनाशाभावात्, कुर्वन्नेव सदा यावज्जीवं कर्म जिजीविषेदित्यज्ञस्य नरमात्राभिमानिनः शुद्ध्यर्थं यावज्जीवं कर्माणि दर्शयति। अत एभिरपि वाक्यैः कर्मणां शुद्धिसाधनत्वमेवावगम्यते, न मोक्षसाधनत्वम्।

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार "यह दृश्यमान जगत् परमेश्वर से ही आच्छादित करने के योग्य है।" इस श्रुतिवाक्य द्वारा समस्त संसार की भगवत्स्वरूपता प्रकाशित करके, भगवत्स्वरूपाऽऽत्मकनिखिल जगत् की भगवत्स्वरूपता को देखने वाले पुरुष को, जो पुरुष इस भगवदाकारदृष्टि से ही कृतज्ञ हो चुका है, अत एव वह इस संसार में अपना कोई अन्य प्रयोजन न देखता हुआ "उसका त्यागपूर्वक भोग करे" इस प्रकार से सांसारिक वस्तु के, अथवा वस्तुविषयक आसक्ति के त्यागपूर्वक जीवनयात्रानिर्वाह करने का विधान कर, जो आत्मतत्त्व ज्ञाता नहीं है, अत एव जिस पुरुष को प्रपञ्चाऽऽत्मक जगत् में भगवत्स्वरूपता का अनुभव प्राप्त नहीं हो सका है उस पुरुष को अपनी जीवनयात्रा का किस प्रकार से निर्वाह करना चाहिए ? इस प्रकार की आशङ्का उपस्थित होने पर श्रुति समाधानवाक्य के रूप में कहती है—"इस लोक में कर्म को सम्पादित करता हुआ ही सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करे। इस प्रकार कर्म करने वाले तुझ मनुष्य के लिए इससे भिन्न कोई अन्य मार्ग इस संसार को पार करने के लिए नहीं है और शास्त्रविहित कर्मों के करते रहने पर भी वहाँ पर भगवद्बुद्धि होते रहने से, अथवा कर्माऽऽसक्ति के न होने से पुन: कर्म करने वालों में कर्मफलसम्बन्धस्वरूप कर्मफललेप उत्पन्न नहीं होगा," इसका तात्पर्य यह है कि—केवल मनुष्यता का अभिमान रखने वाले तुझ अज्ञानी में अविद्या से उत्पन्न सञ्चित कर्म का विनाश और आगामी कर्म का अस्पर्श तो है नहीं, अत: जब तक तुम्हारा जीवन इस संसार में रहे, तुम्हें सदा सत्कर्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए।

इस प्रकार अपने मनुष्यतामात्र के अभिमानी अज्ञानी पुरुष की शुद्धि के लिए ही श्रुति यावज्जीवन कर्म करने की प्रेरणा देती है। अत: इन वाक्यों से भी कर्म में केवल अन्त:करणशुद्धिसाधनता ज्ञात होती है, मोक्षसाधनता नहीं।

शां० भा०—यदप्युक्तम्—'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च" इति चशब्दात्समुच्चयोऽवगम्यते—तदपि प्रसिद्ध श्रुतिविनियोगानुसारेण वेदितव्यम्। तथा चानु गीतासु स्पष्टमाह भगवान् कर्मणां शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

नित्यनिमित्तिकै: शुद्धै: फलसङ्गविवर्जितै:।

सत्त्वशुद्धिमवाप्याथ योगारूढो भविष्यति।।

योगारूढस्ततो याति तद्विष्णो: परमं पदम्।

गुरुभक्त्या च धृत्या च धर्मभक्त्या श्रुतेन च।।

विष्णुभक्त्या च सततं ज्ञानमुत्पद्यतेऽमलम्।

तस्माद् धर्मपरो भूत्वा वेदास्तिक्यसमन्वित:।।

कुर्वन् वै नित्यकर्माणि यथाशक्ति स बुद्धिमान् ।
फलानि पर आसाद्य वासुदेवे परात्मनि ।।
शुद्धसत्त्वो भवत्येव योगरूढश्च जायते ।

वक्ष्यति च भगवान् सनत्सुजातः शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ।। (२/८)

'ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान्' इति ।........

भाष्याऽर्थप्रभा—और जो यह कहा गया है कि—''तेनैति ब्रह्मवित्पुण्य कृत्तैजसश्च'' (विशुद्धिसमन्वितब्रह्मवेत्ता तथा पुण्य को अर्जित करने वाला ये दोनों क्रमशः तेन=अपने ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्मस्वरूप को, एति=प्राप्त होता है । एवं तेन=उस पुण्य के द्वारा अन्तःकरण की निर्मलता को, एति=प्राप्त करता हुआ स्वस्वरूप में स्थित होता है ।) इस श्रुति में 'च' शब्द से पुण्याऽऽत्मा एवं ब्रह्मवेत्ता इन दोनों का समुच्चय=समुदाय यद्यपि सामान्यरूप से ज्ञात होता है, अर्थात् ये दोनों सम्मिलित रूप से अपने-अपने साधन के द्वारा ब्रह्मात्मक एक ही वस्तु को प्राप्त होता है, ऐसा प्रतीत हो रहा है, किन्तु उसकी भी सङ्गति प्रसिद्धश्रुतिविनियोगाऽनुसार ही लगानी चाहिए । अर्थात् ज्ञानमार्गी पुरुष तो साक्षात् अपने स्वरूप का लाभ करता है, किन्तु कर्ममार्गी उससे भिन्न सर्वप्रथम अपने कर्मजनित पुण्य के द्वारा अन्तःकरण के रागाऽऽदिदोषों का नाश कर अन्तःकरण को निर्मल करता है, अनन्तर वहाँ शुद्धिहेतुक स्वस्वरूपाऽनुसन्धान द्वारा परमगति को प्राप्त किया करता है । इसी तथ्य को अनुगीता में स्पष्ट रूप से भगवान् कहते हैं कि—कर्मों में अन्तःकरणशुद्धि द्वारा ही मोक्षप्रदायकत्व का प्रतिपादन किया गया है—''फलाऽऽसक्ति से शून्य अत एव शुद्ध नित्य-नैमित्तिक कर्मों के द्वारा पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि का लाभ करके, पुनः योगाऽऽरूढ हो जाता है, योगाऽऽरूढ होने के अनन्तर वह भगवान् विष्णु के उस परमपद को प्राप्त हो जाता है । गुरुभक्ति से, धैर्य धारण करने से, धर्म में प्रेम करने से, शास्त्रों के श्रवण करने से, एवं विष्णु की अखण्ड भक्ति करने से निरन्तर निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता रहता है, जिसके कारण निर्मलबुद्धिसम्पन्न वह पुरुष वेद के प्रति श्रद्धा से समन्वित होकर, अपने सामर्थ्य के अनुसार नित्यकर्मों को करता हुआ तथा कर्मजनित फलों को परब्रह्म वासुदेव परमाऽऽत्मा में समर्पित करके शुद्ध अन्तःकरण वाला होने के साथ ही साथ योगाऽऽरूढ भी हो जाता है ।

आगे इसी ग्रन्थ में स्वयं सनत्कुमार जी भी कहेंगे कि अन्त:करण की शुद्धि द्वारा ही कर्मों में मोक्ष प्रदान करने की साधनता होती है, साक्षात् मोक्षसाधनता कर्मों में नहीं हुआ करती है। यथा—वेद में जो तप-यज्ञ बतलाया गया है वह भी उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही कहा है, कामनाशून्य पण्डित अपने द्वारा सम्पादित पुण्य से पाप का नाश करके, वह प्रकाशित आत्मस्वरूप हो जाता है। अर्थात् तप और यज्ञों के माध्यम से श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् संसारशामकप्रबलपुण्य को प्राप्त करता है (२/८) तथा आत्मज्ञान के माध्यम से विद्वान् आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इति।

शां० भा०—ननु कथं सत्त्वशुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्? विनाऽपि सत्त्वशुद्धिं ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यत्येव। सत्यम्, ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यति, किन्तु तदेव ज्ञानं सत्त्वशुद्धिं विना नोत्पद्यत इति वयं ब्रूमः। तथा चोक्तम्—

''ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः'' इति।

तथा—

अनेकजन्मसंसारचिते पापसमुच्चये।
नाऽक्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाऽभिमुखी मतिः ।।
जन्माऽन्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ।।इति।।

तथा चोक्तं भगवता—

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।।
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाऽधिको योगी तस्माद्योगी भवाऽर्जुन! ।।
स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।इति।।

तथा चाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

''तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ।।'' इति।

यस्माद्विशुद्धसत्त्वस्यैव नित्याऽनित्यवस्तुविवेकाऽऽदिद्वारेण मोक्षसाधनज्ञाननिष्पत्तिः, तस्मात् सत्त्वशुद्ध्यर्थं सर्वेश्वरमुद्दिश्य सर्वाणि वाङ्मनःकायलक्षणानि श्रौतस्मार्तानि कर्माणि

समाचरेद् यावद्विशुद्धसत्त्व इहाऽमुत्रफलभोगविरागो योगाऽऽरूढो भवति ।

तथा चाऽऽह भगवान्—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ।।" इति ।

"सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।।" इति ।

तस्य लक्षणमुक्तम्—

"यदा हि नेन्द्रियाऽर्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।

सर्वसंकल्पसन्न्यासी योगाऽऽरूढस्तदोच्यते ।।" इति ।

भाष्याऽर्थप्रभा—पूर्व में यह कहा गया है कि कर्म का अनुष्ठान अन्तःकरण की शुद्धि के लिए होता है, और अन्तःकरण की शुद्धि मोक्ष की प्राप्ति के साक्षात्साधनीभूत आत्मज्ञानोत्पत्ति के लिए हुआ करती है। इस प्रकार कर्माऽनुष्ठान चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के माध्यम से मोक्षसिद्धि में साधन पर्यवसित होता है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि आत्मज्ञान से ही मोक्ष लाभ होता है, तो पुनः उसी की उत्पत्ति के लिए ही प्रयास करने की आवश्यकता है, अन्तःकरण की शुद्धि या अशुद्धि से क्या प्रयोजन हो सकता है ? अर्थात् चित्त की शुद्धि न होने पर भी आत्मज्ञान की सौलभ्यदशा में मोक्षलाभ हो ही सकता है ?

समाधान—आपका कहना इतना तो उचित ही है कि जब मोक्ष की प्राप्ति में केवल ब्रह्माऽऽत्मज्ञान ही कारण है, तो कर्मसम्पादन द्वारा अन्तःकरणशुद्धि की मोक्ष लाभ के प्रति क्या आवश्यकता रह जाती है, अतः कर्म द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि की क्या आवश्यकता है ? किन्तु अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही ब्रह्माऽऽत्मज्ञान वहाँ उत्पन्न हुआ करता है, वह ज्ञान अन्तःकरण की शुद्धि के बिना वहाँ उत्पन्न ही नहीं हो सकता है, ऐसा हम कहते हैं । अतः ज्ञानोत्पत्ति के साधनीभूत अन्तःकरण की शुद्धि के हेतुभूत निष्कामकर्मसम्पादन की आवश्यकता मोक्ष की लब्धि में आवश्यक हेतु पर्यवसित होता है । इसी प्रकार से शास्त्राऽन्तर में भी कहा गया है—

"पाप कर्मों का क्षय हो जाने से ही पुरुषों में आत्मज्ञान उत्पन्न होता है ।" इस विषय को लेकर और भी इस प्रकार से शास्त्रों में कहा गया है—अनेक जन्मों के शरीरों में संसरण करते रहने से कर्मोपार्जित जो एकत्रित हुई पापराशि, उसके नष्ट हुए विना मनुष्यों को गोविन्द की साम्मुख्यकारिणी मति उत्पन्न नहीं हुआ करती है ।

इसी प्रकार गीताजी में भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भी कहा है—अनेक जन्मों में पूर्णरूप से परमाऽऽत्मविषयकनिश्चय को प्राप्त होते हुए अनन्तर आत्मविषय में निर्भ्रान्तपुरुष

ब्रह्माऽऽत्मस्वरूपपरमगति में अवस्थित हो जाता है।

योगी, तपस्वियों से भी उत्तम (श्रेष्ठ) हुआ करता है, तथा ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है, इतना ही नहीं वैसा योगी कर्म करने वालों से भी उच्चश्रेणी का माना गया है। इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन। मनुष्य अपने-अपने वर्ण-आश्रमाऽनुसार निष्कामभाव से कर्तव्य कर्मों में रत रहता हुआ ही संसिद्धि (अन्त:करण की शुद्धिपुरस्सर आत्मविज्ञान की) प्राप्ति में सफल होता है। अपने-अपने कर्तव्यकर्मों में लगा रहकर जिस प्रकार से पूर्णसिद्धि को प्राप्त करता है उसे (मैं सुनाता हूँ) तुम मुझसे सुनो। जिससे समस्तभूतों की प्रवृत्ति होती है, तथा जिस परमाऽऽत्मा से यह सम्पूर्ण प्रपञ्चाऽऽत्मकजगत् व्याप्त है, अपने कर्मों के माध्यम से उसकी आराधना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त किया करता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य जी भी कहते हैं—

जिनके करण (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) अभी पके नहीं हैं=अपने आत्मा के अनुकूल नहीं हुए हैं, वह पुरुष आत्मज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता से रहित होता है।

जिस कारण शुद्ध अन्त:करण वाले पुरुष में ही नित्य-अनित्य वस्तुविवेक आदि के माध्यम से मोक्ष के साधनीभूत ज्ञान की उपलब्धि होती है। इसलिए ज्ञानोत्पत्ति के प्रसवभूमि अन्त:करण की शुद्धि के लिए सर्वेश्वर परमाऽऽत्मा को उद्देश्य बना करके, सम्पूर्ण वाचिक, मानसिक, कायिक, श्रौत-स्मार्त कर्मों का आचरण करते रहना चाहिए। वैसा आचरण तब तक होना चाहिए, जब तक विशुद्ध चित्त हुआ सर्वविध ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कर्मों से उत्पन्न होने वाले कर्मफलों से सर्वप्रकार से विरक्ति न हो जाय, तथा उन समस्त कर्मफलों के भोगों से विरक्तचित्त हुआ पुरुष परमाऽऽत्मप्राप्ति के योग में आरूढ न हो जाय।

इसी तरह से भगवान् श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा है—

"जो भगवत्स्वरूप में आरोहण करने की इच्छा वाला मुनि है, उस मुनि के लिए तो कर्म ही आरोहण का साधन कहा जाता है।" "हे महाबाहो ! असंयमित चित्त वाले पुरुष को तो संन्यास निष्ठा (ज्ञानमार्ग) का प्राप्त हो पाना कठिन कार्य है।" संन्यास क्या है ? उसका लक्षण इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं—जिस समय योगी इन्द्रियों के विषयों में, तथा कर्मों में आसक्त चित्त नहीं होता है, और मन के सभी संकल्प का परित्याग कर देता है, उस समय वह 'योगाऽऽरूढसंन्यासी' कहा जाता है।

शां० भा०—यस्तु पुनरेवं यज्ञदानाऽऽदिना विशुद्धसत्त्व इहाऽमुत्रफलभोगविरागो-योगाऽऽरूढो भवति, तस्य शम एव कारणं न कर्म इति।

तथा चोक्तम्—

"योगाऽऽरूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" इति। यस्माद्योगाऽऽरूढस्य शम एव कारणं न कर्म, तस्माच्छमदमाऽऽदिसाधनसम्पन्नः श्रवणाऽऽदिसमन्वितः—

"योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

निराशीर्यत चित्ताऽऽत्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।।"

कथं तर्हि योगानुष्ठानं कार्यम्?

शृणु—समे देशे शर्करावह्निवालुकाशब्दजलाशयादिवर्जिते मनोऽनुकूले शुचौ नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं स्थिरमासनं प्रतिष्ठाप्य तत्रोपविश्यासनं स्वस्तिकादि बद्ध्वा समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं विश्वादीन् विश्वतैजसप्राज्ञान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिक्रमेण कार्यकारणविनिर्मुक्ते पूर्णात्मनि उपसंहृत्य पूर्णात्मना स्थित्वा ध्यायेत्पुरिशयं देवं पूर्णानन्दं निरञ्जनम् अपूर्वानपरं ब्रह्म नेतिनेत्यादिलक्षणम् अशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमित-ज्ञानात्मनावस्थितं परं परमात्मानमोमिति। तथा चोक्तं ब्रह्मविद्भिः—

विविक्तदेशमाश्रित्य ब्राह्मणः शुद्धचेतसा ।

भावयेत्पूर्णमाकाशं हृद्याकाशाश्रयं विभुम् ।।

तथा चोक्तं ब्रह्माण्डपुराणेकावषेयगीतासु—

तस्माद्विमोक्षाय कुरु प्रयत्नं

दुःखाद्विमुक्तो भवितासि येन ।

ॐ ब्रह्म शून्यं परमं प्रधान

मानन्दमात्रं प्रणवं जुषस्व ।।इति।।

एवं युञ्जन सदाऽऽत्मानं परमात्मत्वेन यदा साक्षाद्विजानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोकः कृतकृत्यो भवति। तथा च बृहदारण्यके—

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।

किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ।।" इति ।

तथा च ईशावास्ये—

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।" इति ।

तथा च कठवल्लीषु—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।

'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' इति । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।'

भाष्याऽर्थप्रभा—जो कोई पुरुष पुनः इस प्रकार से यज्ञ-दानाऽऽदि कर्मसम्पादनद्वारा शुद्धअन्तःकरण से सम्पन्न हुआ इस लोक एवं परलोक से सम्बन्धित कर्मफलभोगों से विरक्त होकर योगाऽऽरूढ हो जाता है, इस प्रकार के योगाऽरूढपुरुष का, सर्वइन्द्रियों के होने वाले संसारोत्पादक यावद् व्यापारों के अवरोधपूर्वक ज्ञानाऽभ्यासस्वरूप शम ही स्वस्वरूपप्राप्ति का साधन होता है, कर्म नहीं । जैसा कि श्रीभगवान्कृष्ण ने कहा है—योगाऽऽरूढ हुए उस पुरुष का शम ही कारण कहा जाता है । जिस कारण से योगमार्ग में आरूढ हुए (=योगमार्ग को प्राप्त किये हुए) पुरुष के ब्रह्मप्राप्ति का साधन शम ही हुआ करता है, कर्म नहीं, इसी कारण शम-दम आदि साधनों से सम्पन्न, तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासनाऽऽदिकों से समन्वित हुए पुरुष के कर्त्तव्यविषय में भगवान् का उपदेश है कि—योगाऽभ्यास करने वाला यति, एकाकी (अकेले का वास) विषयभोग करने की इच्छा से रहित, कौपीन, कन्था (पहनने और बिछाने के साधन) आदि से अतिरिक्त किसी अन्य साधन परिग्रह से रहित, एक में स्थित हुआ, एवं चित्त और शरीरेन्द्रियाऽऽदिसंघात को अपने वश में करके निरन्तर ब्रह्म का ध्यान करे । (गी०अ०६/श्लो०१०)

प्रश्न— ऊपर के विचार से यह निर्धारित होता है कि ज्ञानयोगी को स्वरूपस्थिति की प्राप्ति के लिए योगाऽभ्यास करना चाहिए, किन्तु उस योग का सम्पादन किस रीति से किया जाना चाहिए ?

समाधान—सावधान होकर सुनो—कंकड़, अग्नि, बालू, शब्द, जलाऽऽश्रय अर्थात् गीला स्थान आदि से रहित, मन के अनुकूल, पवित्र, अधिक ऊँचाई और अधिक नीचाई वाले भूभाग से शून्य समतल भूप्रदेश में चैल=वस्त्र, अजिन=मृगचर्म ये दोनों क्रमशः कुशाऽऽसन के ऊपर रखकर, उसका स्थिर आसन स्थान बना करके, उसके ऊपर बैठकर, स्वस्तिक, पद्म आदि जो ध्याता को अनुकूल हो, उस आसन को बाँधकर, शरीर, मस्तक एवं ग्रीवा को सीधा रखते हुए, विश्वाऽऽदिकों को अर्थात् विश्व, तैजस एवं प्राऽज्ञ (स्वरूपअवस्थाविशेष से भिन्न हुए आत्मवस्तु) को, जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्तिस्वरूप तीनों अवस्थाओं को क्रम से, कार्य-कारणरहित पूर्ण परमाऽऽत्मा में लीन करके पूर्णाऽऽत्मा के रूप में अवस्थित होकर, हृदयदेश में विद्यमान पूर्णाऽऽनन्दस्वरूप, निरञ्जम्=निर्मल, अपूर्वाऽनपरम् =आदि-अन्तरहित, नेति-नेत्यादिलक्षणम् =ऐसा नहीं है, वैसा नहीं है, इत्यादिस्वरूप निषेधविधि बोधित, क्षुधा, पिपासा आदि विकारों से असंस्पृष्ट, एवम् अनुदिताऽनस्तमितज्ञानाऽऽत्मानाऽवस्थितम् =उदय-अस्त से रहित, ज्ञानस्वरूप में

अवस्थित, परंपरमाऽऽत्मानमोमिति=सर्वोत्कृष्टरूप में स्थित परब्रह्मस्वरूप परमाऽऽत्मा का "ॐ" इस रूप में, ध्यायेत् =ध्यान करे।

ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा भी इस विषय के विवेचनक्रम में इस प्रकार कहा गया है कि— ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा वाला ब्राह्मण एकान्तदेश का अवलम्बन करके, शुद्धचित्त से अपने हृदयरूपी आकाश में विराजमान व्यापकीभूतपूर्णाऽकाश का ध्यान करे।

उपर्युक्त प्रकार से ही पुनः ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत कावषेय गीता में भी कहा गया है—

तस्माद् विमोक्षाय कुरु प्रयत्नम् =इसलिए तुम मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयास करो, जिससे तुम इस संसारसम्बन्धजनित समस्त दुःखों से सदा के लिए छूट जाओगे, ऊँकाराऽऽत्मक ब्रह्म, जो कि सर्वशून्यस्वरूप है, सर्वश्रेष्ठ, प्रधान एवं केवल आनन्दस्वरूप है, इस प्रकार के प्रणवाऽत्मक ब्रह्म की तुम सेवा करो।

इस प्रकार योग का अभ्यास करते हुए जब वह योगी अपने सत्स्वरूप में स्थित आत्मा को साक्षात्परमात्मा के स्वरूप से जानता है, उस समय वह अज्ञान और अज्ञान के कार्य शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों से, वा समस्त अनात्म जगत् से रहित होता हुआ शोक से रहित होकर, कृतकृत्य हो जाता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' ग्रन्थ में भी इसी प्रकार इस विषय का प्रकाशन किया गया है—"आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्तीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत्।" = यदि पुरुष अपने आत्मवस्तु को, यह ब्रह्म है, इस रूप से तात्त्विक अनुभव कर लेता है, तो पुनः वह अपने में तुष्ट होता हुआ किसकी इच्छा करते हुए, किसको प्राप्त करने की कामना से अपने शरीर को परिश्रम द्वारा संतप्त करेगा।

और इसी विषय को प्रदर्शित करते हुए 'ईशावास्योपनिषत्' में कहा गया है— "प्राप्त कर लिए गये जिस ब्रह्माऽऽत्माऽनुभव की बेला में, सभी प्राणी अपने आत्मा ही हैं" इस प्रकार से जानने वाले आत्मज्ञानी, जो, समस्तचराऽचर के प्राणियों में अपने आत्मा का ही दर्शन करने वाले हैं, उस ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्म ज्ञानाऽवस्था में सर्वत्र एकत्वाऽत्मकअभेद का ही अनुभव किया करते हैं, इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप का सर्वदेश, सर्वकाल, एवं सर्व वस्तुओं में निरावृत्त रूप से अनुभव करने वाले उस ज्ञानी पुरुष को कैसे अज्ञानाऽऽत्मक मोह और अज्ञान कार्य शोक उत्पन्न हो सकता है।

इसी विषय को कठवल्लियों में भी व्यक्त किया गया है—अत्यन्त कठिनाई से अनुभव विषय बनने वाले अज्ञान से पूर्णतया आवृत, बुद्धिगुफा में प्रविष्ट हुए, गम्भीरस्थान में रहने वाले, उस अनादिस्वरूप देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति के माध्यम से अनुभव करके, बुद्धिमान् पुरुष हर्ष शोक का त्याग कर देता है।

उस परमात्मा का साक्षात्कार करके प्राणी मृत्युमुख से छूट जाता है। ब्रह्म के आनन्दस्वरूपता को जानने वाला विद्वान् कभी भी किसी सांसारिक व्यक्ति से भयभीत नहीं होता है। उस कार्यकारणस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिये जाने पर, इस ब्रह्माऽऽत्मद्रष्टा के हृदय में स्थित जड-चेतन के अभेद भ्रम की ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, जडचेतन से सम्बन्धित सारे सन्देह दूर हो जाते हैं, तथा सम्पूर्ण पूर्वकृतकर्म विंनष्ट हो जाते हैं।

शां० भा०—तथा चाऽऽह भगवान्—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वेनं नाऽनुशोचितुमर्हसि ।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत!।।इति।।

तथा च कावषेय गीतासु—

आत्मज्ञः शोकसन्तीर्णो न विभेति कुतश्चन ।

मृत्योः सकाशान्मरणादथवाऽन्यकृताद् भयात् ।।

न जायते न म्रियते न बध्यो न च घातकः ।

न बद्धो बद्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः ।।

पुरुषः परमाऽऽत्माऽयं यत्ततोऽन्यदसच्च तत् ।

अज्ञानपाशे निर्भिन्ने च्छिन्ने महति संशये ।।

शुभाऽशुभे च संकीर्णे दग्धे बीजे च जन्मनाम् ।

प्रयाति परमाऽऽनन्दं तद्विष्णोःपरमं पदम् ।। इति ।

तथा चाऽऽह भगवान् मनुः—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।

तद्ध्यग्रं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ।।

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।

प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नाऽन्यथा ।।इति।

यस्मात् तद्विज्ञानादेव परमपुरुषाऽर्थप्राप्तिः, तस्मात्तमेव परमाऽऽनन्दात्मानम् आत्मत्वेन जानीयादहमयमहमस्मीति न किञ्चिदन्यच्चिन्तयेत् ।।

तथा च श्रुतिः—

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नाऽनुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो

विग्लापनं हि तत् ।।'' इति । ''तमेवैकं जानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ ।'' ''एतज्ज्ञेयं नित्यमेवाऽत्मसंस्थं नाऽतः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।'' इति । तथा च भगवान् वासुदेवः—

''संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।

शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। इति ।

एवं प्रसङ्गात् सर्वशास्त्राऽर्थः संक्षेपतो दर्शितः ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस विषय को लेकर भगवान् श्रीकृष्णजी इस प्रकार कहते हैं—यह आत्मवस्तु अव्यक्त, (किसी भी प्रमाणों का विषय न बनने वाला) अचिन्त्यः=चित्त के चिन्तनाऽत्मक व्यापार का विषय न बनने के योग्य, आकाश के समान निर्विकार कहा जाता है । अतः इस आत्मतत्त्व को उपर्युक्त प्रकार से जानकर पुनः इस आत्मा के विषय में तुम शोक करने योग्य नहीं रह जाओगे । हे भारत ! इस आत्मा को जानकर, ज्ञाता ब्रह्मविषय में निर्णीतज्ञानवाला, एवं इस संसार में रहते हुए भी कृतकृत्य हो जाता है ।

कावषेयगीता में भी कहा गया है कि—

आत्मतत्त्व का ज्ञाता, अतएव शोकाऽदिक्लेशों से सर्वथा विनिर्मुक्त पुरुष, मृत्यु की उपस्थिति से, अथवा अन्य किसी भयकारक निमित्त के सम्बन्ध से कभी भी (किसी से) भयभीत नहीं हुआ करता है । जिस कारण से यह आत्मतत्त्व न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न बद्ध के योग्य होता है, अर्थात् न मरने के योग्य होता है, न मारने वाला होता है, न बन्धन का विषय बन सकता है, न बाँधने वाला होता है और न मुक्त होता है, तथा न मुक्ति देने वाला ही होता है ।

यह पुरुष ही परमाऽऽत्मा का स्वरूप है, जो कुछ उससे अतिरिक्त अनात्मजगत् है, वह सभी असत्स्वरूप (मिथ्या) है । अज्ञानाऽऽत्मक बन्धन के (आत्मदर्शन द्वारा) नष्ट हो जाने पर, तथा आत्मविषय में महान् सन्देह के निवृत्त हो जाने पर, एवं अच्छे-बुरे भोगों को प्रदान करने वाले धर्माऽधर्मों के संकुचित (सिकुर) जाने की दशा में जन्म-मरण के बीज (राग-द्वेष एवं इष्टाऽनिष्टवस्तुविषयक अज्ञानाऽऽत्मकमोह) का दाह हो जाने की अवस्था में, मनुष्य परमाऽऽत्मा विष्णु के उस परमाऽऽनन्दस्वरूप मोक्षाऽऽख्य परमपद को प्राप्त कर लेता है ।

इस विषय को लेकर भगवान् मनुजी ने भी इस प्रकार कहा है—

वेदाऽभ्यास, तप, ब्रह्मज्ञान, इन्द्रियजय, शास्त्रनिषिद्धहिंसा का परित्याग, गुरु की सेवा, यद्यपि ये सभी गुण मोक्षप्राप्ति के उत्तम साधन कहे गये हैं, तथाऽपि इन सभी ब्रह्मचर्यपालनाऽऽदिकों में उपनिषद् वेद्य ब्रह्माऽऽत्मविज्ञान ही सर्वोत्कृष्टरूप में स्वीकार किया गया है, ब्रह्मज्ञान ही निखिल विद्याओं में श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्रह्मविद्या द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जाता है। (म०स्मृ० १२/८५)

यहाँ आत्मज्ञान (के कारणीभूत वेदाभ्यासाऽऽदि) ही द्विजातियों के जन्ममूलक स्वर्ग एवं मोक्षाऽऽख्य पुरुषाऽर्थ के प्राप्ति की योग्यतास्वरूप सफलता का सम्पादक होने से परम्परया वेदाऽध्ययनोपयोगी जन्म की सफलता है, उनमें भी ब्राह्मण के लिए विशेषरूप से ये वेदाऽभ्यासाऽऽदि सम्बलित ब्रह्मज्ञान, जन्म के साफल्य का हेतु है। इस ब्रह्माऽऽत्मज्ञान का लाभ प्राप्त करके द्विज कृतकृत्य हो जाता है, किसी अन्य प्रकार से कृतकृत्यता सिद्ध नहीं होती है। (म०स्मृ०१२/९३)

जिस कारण से ब्रह्मविज्ञान के माध्यम से ही परमपुरुषार्थस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए उस परमाऽऽनन्दस्वरूप परमाऽऽत्मा को ही "अहं ब्रह्माऽस्मि" इस प्रकार अपनी आत्मा के स्वरूप में जानना चाहिए, अन्य किसी भी अनात्मवस्तु का चिन्तन नहीं करना चाहिए। इस विषय में श्रुति भी कहती है कि—

"विमलबुद्धि से सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता पुरुष उस ब्रह्म को ही अपने आत्मा के रूप में प्रात्यक्षिक अनुभव करके, उसी में अपनी बुद्धि को स्थिर करना चाहिए, बहुत से शास्त्रों का अध्ययन न करें, यत: विविध प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन वाणी से होने वाले चित्तविभ्रान्तिस्वरूप क्लेश का कारण ही होता है।" "उस एक आत्मतत्त्व को ही वेदाऽऽदिशास्त्रों के अध्ययनक्रम से जानो, आत्मविषय से भिन्न अनात्मवस्तु के प्रकाशक अन्य विचारों और शास्त्रों को छोड़ देना चाहिए।" तथा "अपने आत्मस्वरूप में विद्यमान हुए पुरुष के लिए ये आत्मतत्त्व ही सदा जानने योग्य है, उससे व्यतिरिक्त कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है।"

ऐसा ही उपेदश भगवान् कृष्णजी भी गीता में करते हैं—

पदार्थों में "यह सुन्दर है" इस प्रकार की कल्पना ही संकल्प है, उससे जो उत्पन्न होते हैं वे संकल्पप्रभव कहलाते हैं, संकल्पद्वारा उत्पन्न हुए उन सभी प्रकार के रमणीय विषयों की अभिलाषाओं का सर्वप्रकार से त्यागकर, पुन: जिस प्रकार तेल के पात्र से तेल को निकाल लेने पर भी, तेल का लेप तेलपात्र में शेषरूप से रह जाता है, उसी प्रकार से विषयकामनाओं का त्याग किये जाने पर भी विषयों में रञ्जना रूप से उसका शेष न रह जाय, इस रूप से काम का सर्वत्र त्याग किया जाना चाहिए। जरा-सा भी विषय से सम्बद्ध काम हृदय में शेषरूप से विराजमान रहने पर, उससे आकर्षित हुआ मन समाधि

में नहीं ठहर पाता है। इसलिए शरीर के जीने आदि में भी योगी की अपेक्षा न रहे। यही रहस्याऽर्थ है। योगसिद्धि के बलवान् अन्तरङ्गसाधन को प्रकाशित करके, अब अन्य साधनों को कहते हैं—"मनसैवेन्द्रियग्रामम्..." इत्यादि। इसका भाव यह है कि—समाधि करने से सम्यग्ज्ञान हुआ करता है, जिसकी प्राप्ति होने पर ही मोक्ष की सिद्धि होती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। इस प्रकार निश्चितमति वाले, काम और संकल्प से दूर रहने वाले मन से इन्द्रियसमूह की प्रवृत्तियों को रोककर, अर्थात् इन्द्रियों से मनःसम्बन्ध को रोककर (इन्द्रियों का और मन का जिस प्रकार सम्बन्ध न हो सके, इस प्रकार से यत्नयुक्त होना चाहिए।) (गी० ६/२४)

क्रमशः सर्वप्रथम बाह्यविषयों से, तदनन्तर इन्द्रियों से, उसके बाद अन्तःकरण में प्रकट होते रहने वाले विपरीतप्रत्ययों से भी धीरे-धीरे अन्तःकरण को उपरत (अलग) करे, अर्थात् व्यापारशून्य करे। केवल मोक्ष की ही इच्छा से, विषयों, इन्द्रियों और असत् प्रत्ययों (विचारों) से अन्तःकरण का सम्बन्ध न हो, इसलिए मन की बाह्य प्रवृत्तियों को योगी शान्त करे। इस प्रकार के मन को पुनः चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही निश्चल करके, आत्मसंस्थ मन वाला विद्वान् स्वयं बाहर-भीतर के किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे, अर्थात् बाह्यवस्तु की भावना न करे, किन्तु "सम्पूर्ण चराऽचर जगत् ब्रह्म ही है", इस प्रकार की भावना करे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—ब्रह्माऽऽकारवृत्ति से मन में अन्यभाव का उदय न होना ही 'योग' है। (गी० ६/२५)

इस प्रकार प्रसङ्गवश सकल शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों को संक्षेप से प्रदर्शित किया गया है।

शां० भा०—अथेदानीं प्रकृतमनुसरामः—यस्मात्प्रमाद एव सर्वाऽनर्थबीजम्, तस्मात् प्रमादमेवाऽहं मृत्युं ब्रवीमि। न यमम्। यमन्तु पुनरेके विषयविषान्धा अविद्याऽधिरूढाः स्वाऽऽत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं पश्यन्तो मृत्युमतो मयोक्तान्मृत्योः=प्रमादादन्यं=मृत्वन्तरं=वैवश्वतमाहुः, आत्मावासम्=आत्मनि=बुद्धौ वसतीत्यात्मावासस्तम्।

तथा चाऽऽह मनुः—

यमो वैवश्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।

तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

अमृतम्=अमरधर्माणम्, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मणि=स्वाऽऽत्मभूते रममाणम्=ब्रह्मनिष्ठमित्यर्थः। श्रूयते कठवल्लीषु—

'कस्तं महामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' इति। किञ्च पितृलोके राज्यमनुशास्तीति देवः। कथमनुशास्ति ? शिवः=सुखप्रदः, शिवानाम्=पुण्यकर्मणाम्, अशिवोऽसुखप्रदोऽ-

शिवानाम्=पापकर्मणाम् ॥१/६॥

भाष्याऽर्थप्रभा—प्रसंगवश सर्वशास्त्राऽर्थों के संक्षिप्त प्रदर्शनों के उपरान्त अब हम इस समय प्रकृतविचार का अनुसरण करने जा रहे हैं—जिस कारण से प्रमादस्वरूप आत्माऽज्ञान ही समस्त अनर्थों का मूल कारण है, इसलिए प्रमाद को ही मैं मृत्यु कहता हूँ, लोकव्यवहारप्रसिद्ध यमराज को मृत्यु नहीं कहता हूँ। किन्तु कुछ लोग जो कि विषयरूपी विष से अन्धे बने हुए हैं, अविद्या से आक्रान्त हैं, तथा अपने से व्यतिरिक्त (भिन्न) किसी दूसरे वस्तु को मृत्यु के रूप में देखते हैं, वे लोग मेरे द्वारा कहे हुए प्रमाद नामक मृत्यु से भिन्न विवस्वत् (सूर्य) के पुत्र यमराज को ही मृत्यु कहा करते हैं, परन्तु यह यम तो आत्मावास है। जो आत्मस्वरूप बुद्धितत्त्व में निवास करता है वह "आत्मावास" नाम से कहा जाता है।

जैसा कि इस मृत्यु के विषय में भगवान् मनुजी ने कहा है—

विवस्वान् पुत्र के रूप में ख्यात यम देवता हैं, जो कि तुम्हारे हृदय में स्थित होकर रहता है, यदि उस यम से तेरा कोई विवाद नहीं है,तो तुम गङ्गा एवं कुरुक्षेत्रतीर्थ में पापनिवारक प्रायश्चित्त करने के लिए नहीं भी जाते हो, तौ भी तुम्हारा कल्याण होना नहीं रुकेगा। यह तो भावाऽर्थ है अक्षराऽर्थ तो—वैवश्वत यम राजा हैं, जो कि तुम्हारे हृदय में विराजमान हैं, उस यम से यदि तुम्हारा विवाद नहीं है, तो ऐसी स्थिति में तुम्हें अपने पापनिवृत्ति के लिए गंगातीर्थ और कुरुक्षेत्रतीर्थ में नहीं जाना चाहिए। तथा यह यम, अमृत=अमरणधर्मा और ब्रह्मचर्य=अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म में रमण (विहार) करने वाला ब्रह्मनिष्ठ है।

इसी प्रकार 'कठोपनिषत्' में भी सुना जाता है—"उस हर्षयुक्त और हर्षरहित देव को मुझसे भिन्न और कौन जान सकता है?" तथा "वह देव पितृलोक के राज्य का शासन करता है। किस प्रकार शासन करता है? शिव अर्थात् पुण्यशीलों के लिए शिव होकर=सुखप्रदायक होकर, एवम् अशिवस्वरूप में, अर्थात् दुःखप्रदायक होकर पापकर्माओं के लिए शासन किया करता है ॥१/१६॥

(अब अग्रिम ग्रन्थ में कामाऽऽदिदोषों के माध्यम से प्रमाद का बन्धहेतुत्व कथन किया जा रहा है—)

शां० भा०—एवं तावत् "प्रमादं वै मृत्युम्" इति मृत्युरूपं निर्धारितम्। इदानीं तस्यैव कार्याऽऽत्मनाऽवस्थानं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—उपर्युक्त प्रकार से यहाँ तक के ग्रन्थ से "प्रमाद ही मृत्यु है" इस प्रकार से कहकर मृत्यु के स्वरूप का निर्धारण (निश्चय) किया गया। अनन्तर यहाँ

से पुनः उस मृत्यु की कार्यरूप से स्थिति किस प्रकार है, उसको बतलाया जा रहा है—

मू०— आस्यादेष निःसरते नराणां क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च मृत्युः ।

अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्न चाऽऽत्मनो योगमुपैति किञ्चित् ।।१/७।।

अन्वयः—क्रोधः, प्रमादः, च, मोहरूपः, एषः, मृत्युः, नराणाम्, आस्यात्, निःसरते, अतः, अहंगते, एव, विमार्गान्, चरन्, आत्मनः, किञ्चित्, योगम्, न, उपैति ।।१/७।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—क्रोधः, प्रमादः, च, मोहरूपः=क्रोध, अज्ञान और मोहस्वरूपी आत्माऽनवबोध, एषः=यह, मृत्युः=मृत्यु, नराणाम्=मनुष्याऽऽदि प्राणियों के, आस्यात्=अहङ्कारस्वरूप मुख से, निःसरते=प्रकट होता है । अतः अहंगते=इसलिए अहंकार के अधीन होकर के, एव=ही, विमार्गान्=शास्त्रनिषिद्धमार्गों का, चरन्=अनुसरण करते हुए, आत्मनः=परमात्मा के, किञ्चित् योगं=आंशिक सम्बन्धरूपी योग को भी, न उपैति=प्राप्त नहीं कर पाता है ।।१/७।।

भावाऽर्थप्रभा—यह मृत्यु मनुष्यों के अहंकाराऽऽत्मक मुख, अथवा कामरूपी मुख से उत्पन्न होता है, एवं उत्पन्न हुआ यह क्रोध, प्रमाद तथा मोह (अज्ञान) स्वरूप में परिणत हुआ करता है । जिसके परिणामस्वरूप यह प्राणी, अहंकार में विद्यमान अज्ञान के वशीभूत होता हुआ, शास्त्रविपरीतमार्गाऽनुसरण करने के कारण, परमाऽऽत्मा का कुछ भी योग प्राप्त नहीं कर पाता है ।।१/७।।

शां० भा०—यः प्रमादाऽऽख्योऽज्ञानम्=मृत्युः, स प्रथममास्याऽऽत्मना परिणमते । आस्यः=अभिमानाऽऽत्मकोऽहंकारः । तथा चोक्तम्—

सर्वाऽर्थाऽऽक्षेपसंयोगादसुधातुसमन्वयात् ।

आस्य इत्युच्यते घोरो ह्यहंकारो गुणो महान् ।।

एवमहङ्काराऽऽत्मना स्थित्वा ततोऽहङ्कारान्निःसरते=निर्गच्छति कामाऽऽत्मना । ततः कामः स्वविषये प्रवर्त्तमानः प्रतिहतः क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च भवति । ततोऽहंगतेन= अहंरूपाऽऽपन्नेन अहङ्काराऽऽद्यात्मना स्थितेन अज्ञानेन तदात्मभावाऽऽपन्नः "ब्राह्मणोऽहं-क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहममुष्यपुत्रोऽस्य नप्ता" इत्येवमात्मको रागद्वेषाऽऽदिसमन्वितश्चरन् विमार्गान्=श्रौतस्मार्तविपरीतान् मार्गान्, न चाऽऽत्मनः=परमा-ऽऽत्मनो योगं समाधिलक्षणमुपैति किञ्चिदपि ।

अथवा अविद्याकामकर्माणि संसारस्य प्रयोजकभूतानि । पूर्वत्र "मोहो मृत्युः सम्मतः" इत्यनेन अग्रहणाऽन्यथाग्रहणाऽऽत्मिका अविद्या दर्शिता । उत्तरत्र 'कर्मोदये" इति कर्म

वक्ष्यति ।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो प्रमादनामक आत्माऽनवबोध स्वरूप मृत्यु है, वह पूर्वकाल में (सर्वप्रथम) आस्यरूप में परिणमित हुआ करता है। "आस्य" यह अभिमानस्वरूप अहङ्कार का अपर नाम है । इसी प्रकार से शास्त्रों में कहा भी गया है—सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों के विनाश करने के कारण, तथा "असु" धातु से संयुक्त होने से 'आस्य" इस शब्द से अत्यन्त घोर अहङ्काराऽऽत्मकगुण कहा जाता है ।

इस प्रकार अहङ्काररूप से विद्यमान होकर पुन: यह अहङ्कार काम के रूप में अभिव्यक्त होता है । तदनन्तर अपने विषय में प्रवृत्त होता हुआ काम, किसी कारण बाधित होने पर क्रोध, प्रमाद एवं मोह (अज्ञान) स्वरूप हो जाया करता है । पुन: अहंकार में स्थित अहंरूप को प्राप्त हुआ, अर्थात् अहङ्काराऽऽदि रूप में परिणमित हुआ यह अज्ञान के अधीन होकर, अर्थात् अज्ञानस्वरूपता को प्राप्त होता हुआ, "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, इसका पुत्र हूँ, इसका नाती हूँ" इस प्रकार राग-द्वेष आदि दोषों से युक्त होकर, विमार्गों में, अर्थात् वेद-पुराणाऽऽदिकों के द्वारा उपदिष्ट मार्गों से विपरीत मार्गों से चलता हुआ यह प्राणी,आत्मा= अर्थात् परमाऽऽत्मा के समाधिस्वरूप योग को आंशिक रूप में भी प्राप्त नहीं कर पाता है ।

अथवा प्रकृतश्लोक के माध्यम से अविद्या, कामना तथा कर्म ये संसारसम्बन्ध को प्रकट करने वाले प्रयोजक हैं । (यह वार्ता कही जा रही है) इससे पूर्व के ग्रन्थ में "मोहो मृत्यु: सम्मतो य: कवीनाम् (१/४) इत्यादि वाक्यों के द्वारा अग्रहण (=आत्मवस्तु के अप्रकाशाऽऽत्मक अज्ञान एवं अन्यथा ग्रहणस्वरूपा अविद्या का वर्णन किया गया है । आगे चलकर पुन: कर्मोदये कर्मफलाऽनुरागा: (१/९) इत्यादि वाक्यके माध्यम से कर्म का वर्णन किया जायेगा ।

शां० भा०—अथेदानीं कामोऽभिधीयते—अस्यन्ते=क्षिप्यन्ते अनेन संसारे प्राणिन इत्यास्य:=काम: । अथवा—आस्यवदास्यं सर्वजग्धृत्वात् । तथा चोक्तं भगवता—"काम एष क्रोध एष:" इति । एष मृत्युरास्याऽऽत्मना स्थित्वा, तत: क्रोधाऽऽत्मना विपरिणमते । उक्तं च—"कामात् क्रोधोऽभिजायते" इति । ततोऽहंगतेनाऽहंकाराऽऽपन्नेनाऽहंकारममकार-फलकाऽऽरूढेन चिदाभासेन चरन् विमार्गान् न चाऽऽत्मनो योगमुपैति किञ्चित् ।।१/७।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस समय यहाँ पर काम का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है । जिसके द्वारा प्राणियों को अनर्थभूत इस संसारकूप में गिराये जाते हैं इसलिए आस्य=काम-स्वरूप सिद्ध होता है । अथवा भक्षण करने वाला होने से, यह काम मुख के समान 'आस्य' कहलाता है । श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा इस प्रकार कहा

गया है—यह ही अत्यन्त भक्षण करने के स्वभाववाला तथा अतिशय पापी काम नाम से जगत् प्रसिद्ध है और यह ही पुनः क्रोधरूप से परिणमित हुआ करता है, इत्यादि। यह मृत्युपूर्व काल में आस्याऽऽत्मक काम रूप सें वर्त्तमान होता हुआ, पुनः क्रोधरूप से परिणत हो जाता है। गीताजी में कहा भी गया है कि—"काम से क्रोध उत्पन्न होता है।" इत्यादि। पुनः अहंकारस्वरूप को प्राप्त होकर के अज्ञान के द्वारा, अर्थात् अहङ्कार और ममतास्वरूप दर्पण के ऊपर प्रतिफलित हुए चिदाभासरूप से विपरीत मार्ग पर चलता हुआ यह जीवाऽऽत्मा परमाऽऽत्मा का कुछ भी योग प्राप्त नहीं कर पाता है ॥१/७॥

शां० भा०—किञ्च—

और भी—

मू०— ते मोहितास्तद्वशे वर्त्तमाना इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति।

ततस्तं देवा अनु परिप्लवन्ते अतो मृत्युं मरणादभ्युपैति ।।१/८।।

अन्वयः—ते, मोहिताः, तद्वशे, वर्त्तमानाः, इतः, प्रेताः, पुनः, तत्र, पतन्ति, ततः, तम्, देवाः, अनुपरिप्लवन्ते, अतः, मरणाद्, (पुनः जन्म गृहीत्वा) मृत्युम्, अभ्युपैति ॥१/८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—ते=वे मनुष्याऽऽदि साधारण प्राणियाँ, मोहिताः=कामाऽऽदिविकारों के सम्बन्ध से भ्रमित हुए, तद्वशे वर्त्तमानाः=उन दोषों के अधीन होकर, इतः प्रेताः=इस वर्त्तमानशरीर से मुक्त होते हुए, पुनः तत्र पतन्ति=फिर उसी शरीरधारणाऽऽत्मक संसार-चक्र में पतित हुआ करते हैं। ततः=वहाँ से, तम्=उस प्राणी को, देवाः=प्राणाऽऽदि देवगण, अनुपरिप्लवन्ते=भरमाया करते हैं। अतः=इस क्रम से मरणाद् (पुनः जन्मगृहीत्वा)= मृत्यु प्राप्त करने के अनन्तर पुनः जन्म ग्रहण करके, मृत्युमभ्युपैति=मृत्यु को प्राप्त होता रहता है ॥१/८॥

शां० भा०—तेऽहंकाराऽऽदिरूपेण स्थितेनाऽज्ञानेन मोहिताः=देहाऽऽद्यात्मभावमापादिताः, तद्वशे=अहङ्काराऽऽद्यात्मना परिणतप्रमादाऽऽख्यमृत्युवशे, वर्त्तमाना इतः=अस्मात्, प्रेताः=धूमाऽऽदिमार्गेण गत्वा, तत्र=परलोके यावत् सम्पातमुषित्वा, पुनराकाशवायुवृष्टि-सस्याऽन्नशुक्रशोणिताऽऽदिक्रमेण देहग्रहणाय पतन्ति=निपतन्ति। श्रूयते च—"तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते।"

ततः=तदनन्तरं पुनर्देहग्रहणाऽवस्थायां तं देवाः=इन्द्रियाण्यनुसृत्य कर्माणि, परि=समन्तात्, प्लवन्ते=समन्ततः परिवर्त्तन्त इत्यर्थः। अतः=अस्मात् कारणाद्=इन्द्रिय-गुणाऽनुसरणान्मृत्युम्=मरणं याति। ततो मरणाज्जन्माऽभ्युपैति ततो मृत्युम्। एवं जन्ममरण-प्रबन्धाऽऽरूढो न कदाचिन्मुच्यत इत्यर्थः।

आत्माऽज्ञाननिमित्तत्वात् संसारस्य यावत् परमाऽऽत्मानमात्मत्वेन साक्षान्न जानाति तावदयं तापत्रयाऽभिभूतो मकराऽऽदिभिरिव रागद्वेषाऽऽदिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणो मोमुह्यमाणः संसरन्नवतिष्ठत इत्यर्थः ॥१/८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—वे मनुष्याऽऽदि प्राणियाँ अहङ्काराऽऽदिरूप से स्थित हुए आत्माऽज्ञान के द्वारा मोहित=अर्थात् शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों में आत्मतादात्म्य को प्राप्त कराए हुए एवं उसके अधीन हुए, अर्थात् अहङ्काराऽऽदिरूप में परिणति को प्राप्त उस प्रमाद नामक मृत्यु के अधीन हुए, इस लोक से मरकर जाने के उपरान्त धूमाऽऽदिमार्ग से भ्रमण करते हुए पतन होने तक परलोक में निवास करके, पुनः आकाश, वायु, वृष्टि, सस्य (=अन्न के पौधे), अन्न एवं शुक्र, शोणित आदि क्रम से, पुनः देहग्रहण करने के लिए इसी जगत् में पतित हुआ करते हैं। इस विषय के प्रकाशक श्रुति भी कहती है कि—"उस पर लोक में पतनकाल आने तक वहाँ रहकर वे पुनः इसी मार्ग में परावर्तित होते हैं।"

पुनः इसके अनन्तर शरीर धारण करने की दशा में उसके कर्मों का अनुसरण करते हुए उसे देव=इन्द्रियगण परिप्लवित किया करते हैं, परि=सर्वप्रकार से, प्लवन्ते= परिवर्तित किया करते हैं, अर्थात् भरमाते रहते हैं। अतः=इस कारण से, अर्थात् इन्द्रियों के गुणों का अनुसरण करने से, वह प्राणी मृत्यु को प्राप्त हुआ करता है। तथा उस मरण से पुनः दूसरे जन्म कों प्राप्त होकर पूर्ववत् मृत्यु को प्राप्त हुआ करता है। इसका तात्पर्य यह है कि—इस प्रकार से जन्म-मरण की परम्परा के अधीन हुआ यह प्राणी कदाऽपि मुक्त नहीं हो पाता है। अर्थात् जब तक यह जीव परमाऽऽत्मा को साक्षात् अपने आत्मा के रूप में अनुभव नहीं करता, तब तक यह दैहिक-दैविक-भौतिक तापत्रय से आक्रान्त होता हुआ मकर आदि के समान राग-द्वेष आदि दोषों से इधर-उधर आकर्षित हुआ मोहग्रसित होकर जन्म-मरणस्वरूप संसार में परवश होकर बना रहता है, यतः संसार-पात का कारण आत्मा का अज्ञान ही हुआ करता है ॥१/८॥

शां० भा०—एवं तावदविद्याकामयोर्बन्धहेतुत्वमभिहितम्। अथेदानीं कर्मणां बन्धहेतुत्वमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—पूर्वोक्तप्रकार तक के विचार से अविद्या और काम की बन्धन-कारणता का प्रतिपादन किया गया। अब यहाँ से कर्मों की बन्धनहेतुता का निरूपण किया जा रहा है—

मू०— कर्मोदये कर्मफलाऽनुरागास्तत्राऽनुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्।
सदर्थयोगाऽनवगमात्समन्तात् प्रवर्त्तते भोगयोगेन देही ॥१/९॥

अन्वयः—कर्मोदये,कर्मफलाऽनुरागाः, तत्र, अनुयान्ति, मृत्युम्, न, तरन्ति,

एवम्, सदर्थयोगाऽनवगमात्, भोगयोगेन, देही, समन्तात्, प्रवर्त्तते ॥१/९॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—कर्मोदये=कर्म के प्रारम्भ होने की दशा में, कर्मफलाऽनुरागाः= कर्मजनित फलों में आसक्तियुक्त प्राणी, तत्र=उसी कर्म फल के विषय में, अनुयान्ति=प्रवृत्त हुआ करते हैं। अत एव कर्मफलाऽऽसक्तप्राणी, मृत्युं न तरन्ति=मृत्युस्वरूप संसार को पार करपाने में असमर्थ हो रहे हैं। एवम्=इस प्रकार से,सदर्थयोगाऽनवगमात्=आत्मस्वरूप सद्वस्तु का सम्यग् ज्ञान न हो पाने के कारण, भोगेयोगेन=कर्मफलाऽनुभवाऽऽत्मक भोग को उद्देश्य बनाकर के ही, देही=जीवाऽऽत्मा, समन्तात्=सभी प्रकार के कर्मों में, प्रवर्त्तते=प्रवृत्त हुआ करता है ॥१/९॥

शां० भा०—अमृत्युः कर्मणा केचिदिति कर्मणाऽमृतत्वं भवतीति यन्मताऽन्तरमुपन्यस्तं तन्निराकरोति—न केवलं कर्मणा अमृतत्वं भवति अपि तु कर्मोदये=कर्मणामुत्पत्तौ, कर्मफलाऽनुरागाः सन्तस्तत्र=तस्मिन् कर्मफलेऽनुयान्ति। यस्मात्तत्रैवाऽनुयान्ति, अतो न तरन्ति मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणाऽऽत्मके संसारे परिवर्त्तन्त इत्यर्थः।

कस्मात् पुनः कर्मोदये कर्मफलाऽनुरागास्तत्रैव परिवर्त्तन्ते ? सदर्थयोगाऽनवगमात्। सदर्थेन योगः सदर्थयोगः=परमाऽऽत्मना योगः, तस्य=तदर्थयोगस्य एकत्वस्याऽनवगमात् स्वाऽऽत्मनश्चिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्मभावाऽनवगमादित्यर्थः। समन्तात्=समन्ततः प्रवर्त्तते भोगयोगेन=विषयरसबुद्ध्या देही। यथा ह्यन्धो निम्नोन्नतकण्टकस्थलाऽऽदिषु परिभ्रमति, एवमसावपि विवेकहीनः सर्वत्र विषयसुखाऽऽकाङ्क्षया परिभ्रमति ॥१/९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"अमृत्युः कर्मणा केचित्" (१/३) इस श्लोकं के माध्यम से जो "कर्म द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।" इस प्रकार के मतान्तर का उल्लेख किया गया है, इदानीं उस मत का खण्डन करते हैं,अर्थात् उक्त मत का निराकरण किया जा रहा है—कर्मों से केवल अमरत्व का लाभ नहीं होता है, इतना ही नहीं, बल्कि कर्मों के उदय अर्थात् कर्मों के उत्पन्न होने की दशा में प्राणी कर्मफल का अनुरागी होकर उस कर्मफल का ही अनुसरण करने लगता है, इसी कारण जीव मृत्यु को पार नहीं कर पाता है, अर्थात् पुनः पुनः जन्ममरणाऽऽत्मक संसार में ही फँसा रह जाता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि किस कारण से पुनः कर्म की उत्पत्ति होने पर प्राणी कर्मफल का अनुरागी होता हुआ, उसी कर्मफल के भोग में आसक्त हुआ, भ्रमर के समान संसारकान्तार में भटकता फिरता है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि—सदर्थ योग का ज्ञान न होने के कारण ही प्राणी कर्मफल का भोगेच्छु होकर, भोग में भटकता रहता है। अर्थात् सद्वस्तु के साथ जो योग है, वह 'सदर्थयोग' के नाम से कहा जाता है। अर्थात् सदर्थभूत परमाऽऽत्मा के साथ जो योग होता है, वह सदर्थयोग है। उस सदर्थस्वरूप परमाऽऽत्मा के साथ जो योग अपनी आत्मा के अभेदाऽऽत्मक एकत्व का

ज्ञान न होने के कारण, अर्थात्—सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप से कैसे अभिन्नरूप में अपनी आत्मा का ज्ञान न होने से देही (मनुष्याऽऽदिकों के रूप में वर्त्तमान जीव) विषयभोग के अधीन हुआ, अर्थात् विषयरसबुद्धि के कारण सर्वयोनियों के शरीर में भटकता रहता है। जिस प्रकार अन्धा पुरुष नीचे-ऊँचे एवं कण्टक (काँटे) से युक्त अरण्याऽऽदि दुरूह स्थानों में निरर्थक भ्रमण किया करता है, उसी प्रकार अद्वैताऽऽत्म-विज्ञानरूपी नेत्र से रहित हुआ विवेकहीन प्राणी सुखप्राप्ति की कामना से सर्वयोनियों के शरीरों में भटकता फिरता है ॥१/९॥

शां० भा०—किञ्च=और भी

मू०— तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां मिथ्याऽर्थयोगेऽस्य गतिर्हि नित्या।
मिथ्याऽर्थयोगाऽभिहताऽन्तरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥१/१०॥

अन्वयः—तत्, वै, इन्द्रियाणाम्, महामोहनम्, हि, अस्य, मिथ्याऽर्थयोगे, नित्या, गतिः, मिथ्याऽर्थयोगाऽभिहताऽन्तरात्मा, समन्तात्, विषयान्, स्मरन्, उपास्ते ॥१/१०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तद्=इष्टविषयाऽनुभवाऽऽत्मक भोग, वै=ही, इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों का, महामोहनम्=सबसे बड़ा भ्रमजाल है, हि=वह इस कारण से कि, अस्य=इस जीवाऽऽत्मा की, मिथ्याऽर्थयोगे=असत्यभूत विषयों के सम्पर्क सिद्धि के लिए, नित्या गतिः=सर्वदा प्रवृत्ति हुआ करती है। मिथ्याऽर्थयोगाऽभिहताऽन्तरात्मा=असत्यस्वरूप विषयों के सम्बन्ध से अभिघाताऽऽत्मक चोट का अनुभव करने वाला जीवाऽऽत्मा, समन्तात्=सर्वदेशों में, विषयान्=भोग्यवस्तुओं का ही, स्मरन्=चिन्तन करता हुआ, उपास्ते=उन-उन विषयों में आसक्त हुआ करता है ॥१/१०॥

भावाऽर्थप्रभा—वह ही कर्मफलभोग की आसक्ति से इन्द्रियों को पूर्णरूप से विमोहित करने वाला महामोह है, क्योंकि असत्यस्वरूप पदार्थ के प्रति इन प्राणियों की निश्चित प्रवृत्ति होती है। इस कारण से यह जीवाऽऽत्मा, उन मिथ्या पदार्थों के संयोग से अपने स्वाभाविक ब्रह्मभाव से च्युत होता हुआ, भ्रष्ट होकर विषयों का स्मरण करता है, और स्मृतिविषयों में ही तल्लीन होकर उसका सेवन करने लग जाता है ॥१/१०॥

शां० भा०—यद् रागाऽभिभूतस्य इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवर्त्तनम्, तन्महामोहनम्। एतदुक्तं भवति—यस्य विषयेषु अवास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणि विषयेषु न प्रवर्त्तन्ते। तस्य विषयेषु प्रवृत्त्यभावात् प्रत्यगात्मन्येव प्रवृत्तिः, ततश्च मोहनिवृत्तिः। यस्य विषयेषु वास्तवबुद्धि-स्तस्येन्द्रियाणां पराग्भूतेषु विषयेषु प्रवृत्तत्वान्न स इमं सदद्वितीयं प्रत्यग्भूतं परमाऽऽत्मान-मात्मत्वेन साक्षाज्जानाति। तथा चोक्तम्—"स्त्रीपिण्डसम्पर्ककलुषितचेतसो विषयविषान्धा ब्रह्म न जानन्ति।" इति।

ततश्च महामोहेन पुनर्विषयेषु प्रवृत्तिः ।

तथा चाऽऽह भगवान् मनुः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—राग-द्वेष-मोहाऽऽदि दोषों से आच्छन्न जीव की इन्द्रियों के विषयों में जो होने वाली प्रवृत्ति है, वही महामोह (कहा जाता) है ।इस विचार का तात्त्विक रहस्य यह व्यक्त होता है कि—जिस जीव की विषयों में अवास्तविक बुद्धि प्रकट हुआ करती है उस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त नहीं हुआ करती हैं, एवं विषयों में प्रवृत्त न होने के कारण पुनः उसकी इन्द्रियाँ प्रत्यगात्म विषय में ही प्रवृत्त होती हैं, अर्थात् तत्त्वज्ञपुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से परावृत्त होती हुईं प्रत्यगात्मा के प्रति ही प्रवृत्त होती हैं जिसके चलते प्रत्यगात्मदर्शी पुरुष के आत्माऽनवबोधस्वरूप मोह की पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है, किन्तु जिस सांसारिक पुरुष की इन्द्रिय के विषयों में, वास्तविक बुद्धि उत्पन्न होती है, वह पुरुष इन्द्रियों के बाह्यविषयों में प्रवृत्त होते रहने के कारण इस सत्स्वरूप अद्वितीय तथा प्रत्यक्स्वरूप परमाऽऽत्मतत्त्व को सद्यः अपनी आत्मा के रूप में निश्चय नहीं कर पाता है । जैसा कि इस विषय में कहा गया है—"जिसका मन स्त्रीशरीर के सम्बन्ध से दूषित हो चुका है, विषयरूपी विष से अन्धे हुए वे पुरुष ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व को जान पाने में असमर्थ होते हैं ।"

इस प्रकार महामोह से ग्रसित होने के कारण विषयाऽनुरागी जीव के इन्द्रियों की निरन्तर विषयों में ही प्रवृत्ति होती रहती है । इस विषय को लेकर भगवान् मनुजी ने भी इसी प्रकार अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं—"विषयभोगों की इच्छा कभी भी उन विषयों के सेवन से समाप्त नहीं हुआ करती है, किन्तु अग्नि में, घृताऽऽदि स्वरूप हव्यपदार्थों के प्रक्षेप से जिस प्रकार अग्नि की निवृत्ति न होकर अग्नि की केवल वृद्धि ही उत्तरोत्तर होती है, उसी प्रकार विषयसेवन विषयभोगेच्छा को शान्त न करके, उसकी अभिवृद्धि में ही कारण हुआ करता है ।"

शां० भा०—ततश्च मिथ्याऽर्थैरविद्याकल्पितैः शब्दाऽऽदिविषयैर्योगो भवति । तस्मिन्=मिथ्याऽर्थयोगे, अस्य=देहिनो गतिः=संसारगतिर्नित्या=नियता । प्रसिद्धं ह्येतत्—

स्वाऽऽत्मभूतं परमाऽऽत्मानमनवगम्य विषयेषु प्रवर्त्तमानाः=पराभूतास्तिर्यगादियोनिं प्राप्नुवन्तीति । तथा च बह्वृचब्राह्मणोपनिषदि—"या वैता इमाः प्रजास्तिस्रोऽत्यायमायंस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः" इति । वक्ष्यति च—"कामाऽनुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति" इति ।

कस्मात् पुनर्मिथ्याऽर्थयुक्तस्य गतिर्हि नित्येति ? तत्राऽऽह—मिथ्याऽर्थयोगाऽभिहतान्तरात्मा । मिथ्याभूतविषयसंयोगेनाऽभिहताऽन्तरात्मा यस्य स: अभिहतस्वाभाविकब्रह्मभाव: स्मरन् शब्दाऽऽदिविषयान् तानेवोपास्ते, न परमाऽऽत्मानं समन्तात्=समन्तत: ॥१/१०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—उसके अनन्तर मिथ्या वस्तुओं से, अर्थात् अज्ञान द्वारा कल्पित शब्दाऽऽदिविषयों से बाह्यद्रष्टा जीव के इन्द्रियों का सम्बन्ध हुआ करता है । इन्द्रियों के माध्यम से उन मिथ्यावस्तुओं के साथ पुरुष का संयोग होने पर इस जीवाऽऽत्मा की संसारसम्बन्धविषयिणी व्यापिकीभूता प्रवृत्ति होती है । यह बात तो सर्वजन विदित ही है कि प्राणी अपने आत्मस्वरूप परमाऽऽत्मा को न जानकर विषयों में प्रवृत्त होते हुए, बहिर्मुख होता हुआ, तिर्यग् आदि अधमयोनि के शरीर को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार से ऋग्वेदीय 'ब्राह्मणोपनिषद्' में भी कहा गया है—"जिन इन तीन प्रसिद्ध प्रजाओं ने धर्म का उल्लंघन किया था, धर्म का उल्लंघन करने वाले वे प्रजागण, ये पक्षी, वङ्गा:=वन के वृक्ष, वगधा:=ओषधियाँ, एवम् इरपादा:=सर्पाऽऽदि योनियों को प्राप्त हुए, तथा इस विषय को आगे भी इस ग्रन्थ में कहेंगे कि—"काम का अनुसरण करने वाला पुरुष कामनाओं के चक्कर में ही विनष्ट हो जाता है ।"

तो पुन: इस प्रकार किसलिए कहा जाता है कि असत्य वस्तुओं के प्रति इसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है ? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—असत्स्वरूप विषयों के संयोग से अभिघात (चोट) को प्राप्त हुआ जीवाऽऽत्मा, अर्थात् मिथ्याविषयों का संयोग होने से जिस पुरुष के अन्तरात्मा में अभिघात उत्पन्न हो गया, स्वाभाविक ब्रह्मभाव से पतित हुआ ऐसा पुरुष, स्त्री आदि विषयों का स्मरण करता हुआ, सब प्रकार से उन्हीं विषयों का सेवन करने लगता है, परमाऽऽत्मा की उपासना नहीं कर पाता है ॥१/१०॥

शां० भा०—तत: किमिति चेत्? तत्र यद्भवति तच्छृणु—

भाष्याऽर्थप्रभा—"इससे क्या होने वाला है ?" ऐसा यदि कहो, तो ऐसी अवस्था में जो हो सकता है, उसे सुनो—

मू०— अभिध्या वै प्रथमं हन्ति चैनं कामक्रोधौ गृह्य चैनं च पश्चात् ।

एतान् बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ।।१/११।।

अन्वय:—प्रथमम्, एनम्, अभिध्या, वै, च, पश्चात्, एनम्, कामक्रोधौ, गृह्य, हन्ति, च, एतान्, बालान्, मृत्यवे, प्रापयन्ति, नु, धीरा:, धैर्येण, मृत्युम्, तरन्ति ॥१/११॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—प्रथमम्=सर्वप्रथम, एनम्=इस जीवाऽऽत्मा को, अभिध्या=विषय-स्मरण, वै=ही, नष्ट कर देता है च=और, पश्चात्=उसके अनन्तर, एनम्= इस

जीवाऽऽत्मा को, पुनः, कामक्रोधौ गृह्य हन्ति=काम एवं क्रोध ये दोनों पकड़कर विनष्ट करते हैं, च= पुनः, एतान् बालान्=इन मन्दमतिवालों को, मृत्यवे=मृत्यु के लिए, प्रापयन्ति=पहुँचाते हैं, नु=परन्तु, धीराः धैर्येण=इन्द्रियों के विषयप्रवृत्तिरूपी वेग को सहन करने में धीर-वीर पुरुष अपने धीरतारूपी गुण के कारण, मृत्युं तरन्ति=मृत्यु को पार कर जाते हैं ॥१/११॥

भावाऽर्थप्रभा—सर्वप्रथम इस जीव को विषय की चिन्ता नष्ट कर देती है, इसके अनन्तर इसे पुनः काम और क्रोध नष्ट करते रहते हैं। ये विषयस्मरण, काम-क्रोधाऽऽदि अन्तःकरण के दोष मन्दमति वाले को मृत्यु प्राप्त करा देते हैं। परन्तु धीरतासम्पन्न बुद्धिमान् पुरुष तो धैर्यगुण के कारण मृत्यु को पार कर जाते हैं ॥१/११॥

शां० भा०—अभिध्या=विषयध्यानं प्रथमं हन्ति=विनाशयति=स्वरूपात्प्रच्युतं करोति, ततो विषयध्यानाऽभिहतमेनं विषयसन्निधौ शीघ्रं प्रतिगृह्य कामश्च हन्ति। ततः कामाऽभिहतमेनं प्रतिगृह्य क्रोधश्च हन्ति।

तदेतेऽभिध्याऽऽदय एतान्=अभिध्याकामक्रोधवशंगतान् बालान्=अविवेकिनो मूढान् मृत्यवे प्रापयन्ति=क्षिपन्ति। श्रूयते च कठवल्लीषु—

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा,
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।।इति।।

धीरास्तु पुनर्धैर्येण विषयान् जित्वा परमाऽऽत्मानमात्मत्वेनावगम्य तरन्ति मृत्युम्। श्रूयते च—

"निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते इति।।"१/११।।

भाष्याऽर्थप्रभा—सांसारिकपदार्थ की दृष्टि वाले जीव को सर्वप्रथम तो विषयध्यान-स्वरूप अभिध्या नष्ट करती है, अर्थात् अपने आत्मस्वरूप से च्युत किया करती है। उसके अनन्तर विषयचिन्ता द्वारा नष्ट हुए उस प्राणी को शीघ्र ही विषय के समीप में पकड़ करके काम नष्ट किया करता है, और उसके अनन्तर पुनः काम द्वारा नष्ट हुए जीव का क्रोध विनाश कर देता है।

ये अभिध्या आदि आत्मस्वरूपनाशक दोष, अभिध्या, काम, क्रोध के अधीन हुए इन आत्म-अनात्म विषय में विवेकशून्य हुए बालक के समान मोहग्रसित पुरुषों को मृत्यु के साथ सम्बन्ध करा देते हैं, अर्थात् अभिध्या आदि दोष आत्मज्ञानरहित जीवों को मृत्यु

के पाश से बाँध देते हैं। कठवल्लियों (कठोपनिषत्) में भी ऐसा सुना जाता है कि— "अज्ञान से आवृत्त हुए मूढ पुरुष बाहर के भोगों का ही अनुसरण किया करते हैं, अतः वे मूढाऽऽत्मा मृत्यु के विशाल पाश से आबद्ध हो जाते हैं, किन्तु जो आत्मविषयक बुद्धिसम्पन्न हैं वे अमरत्वस्वरूप आत्मतत्त्व को निश्चित रूप से जानकर इस नाशवान् पदार्थों में से किसी को ग्रहण करने की इच्छा नहीं किया करते हैं।"

किन्तु बुद्धियुक्त पुरुष तो धीरता को धारण करते हुए उसके द्वारा समस्त विषयों को जीतकर परमाऽऽत्मतत्त्व को अपने आत्मस्वरूप के रूप में अनुभव करते हुए मृत्यु के पाश से विमुक्त हो जाते हैं। जैसा कि 'कठोपनिषत्' में सुना गया है—आत्मतत्त्व के रूप में परमाऽऽत्मस्वरूप का अनुभव करके जीव मृत्यु के मुख से विनिर्मुक्त हो जाता है ॥१/११॥

(आगे के ग्रन्थ से विवेकयुक्तपुरुष मृत्यु की मृत्यु है, इस तथ्य को उद्घाटित किया जा रहा है)

शां० भा०—कथं पुनर्धीरास्तु धैर्येण विषयान् जित्वा मृत्युं तरन्ति ? इत्यत आह—

भाष्याऽर्थप्रभा—बुद्धिसम्पन्न धीरपुरुष अपनी धीरता गुण के माध्यम से विषयों को अपने अधीन करके किस प्रकार मृत्यु के मुख से मुक्त हुआ करते हैं ? इसके समाधानाऽर्थ आगे का ग्रन्थ कहा जा रहा है—

मू०— योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्निहन्यादनाचारेणाऽप्रतिबुद्ध्यमानः ।
स वै मृत्युं मृत्युरिवाऽत्ति भूत्वा ह्येवं विद्वान् योऽभिहन्तीह कामान् ।।१/१२।।

अन्वयः—यः, अभिध्यायन्, उत्पतिष्णून्, निहन्याद्, अनाचारेण, अप्रतिबुध्यमानः, यः, विद्वान्, एव, इह, कामान्, अभिहन्ति, सः, वै, मृत्युः, इव, भूत्वा, मृत्युम्, अत्ति ॥१/१२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो आत्मज्ञानी पुरुष, अभिध्यायन्=आत्म-अनात्मविषयक विचार करने वाला, उत्पतिष्णून्=उत्पन्न एवं नष्ट होने वाले पदार्थों का, निहन्यात्=परित्याग करता है, एवम्, अनाचारेण=अनात्मपदार्थों में महत्त्वबुद्धि न रखने के कारण, अप्रतिबुध्यमानः=उन विषयों का स्मरण न करता हुआ, यः विद्वान्=जो विवेकशीलपुरुष, एव=इस प्रकार से ही, इह=इस संसार में, कामान्=कामनाओं को, अभिहन्ति=विनष्ट करता है, सः वै=वह विद्वान् वास्तविक रूप से, मृत्युः इव=मृत्यु के समान, भूत्वा=होकर, मृत्युम् अत्ति=मृत्यु का ही भक्षण कर लेता है ॥१/१२॥

भावाऽर्थप्रभा—पूर्व के श्लोक से यह ज्ञात हुआ था कि धीर पुरुष मृत्यु को पार

कर जाता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि कैसे मृत्यु को पार कर लेता है ? इसके समाधानाऽर्थ आगे का श्लोक उपस्थित होता है—इसका सरल भाव है कि जो विद्वान् पुरुष उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं को मिथ्या एवं अनर्थकारी समझकर, उनका सर्वथा त्याग किया कराता है, एवं उन सांसारिक वस्तुओं में आदर भाव न होने के कारण, उसका स्मरण नहीं किया करता है, तथा जो ऐसा समझकर विषयों की कामनाओं को भी नष्ट कर देता है, वह निश्चय ही मृत्यु का भी ग्रासक होकर मृत्यु के समान ही मृत्यु का भी भक्षण किया करता है ॥१/१२॥

शां० भा०—योऽभिध्यायन्, अनित्याशुचिदुःखानुविद्धतया उत्पत्तिष्णून् उत्पत्योत्पत्य पतन्तीत्युत्पतिष्णवो विषयास्तान्निहन्यात् परित्यजेत्। अनाचारेण अनादरेण अमेध्यदर्शन इव अप्रतिबुध्यमानः पुनःपुनरचिन्तयन् स वै पुरुषो मृत्योरेव मृत्युर्भूत्वा मृत्युरिवात्ति मृत्युम्। उक्तं च—'विषयप्रतिसंहार यः करोति विवेकतः। मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वानात्मवित्कविः'। इति ॥१/१२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो विवेकशील व्यक्ति अनित्य, अपवित्र, एवं दुःखों से बिंधा हुआ होने के कारण, उत्पन्न हो-होकर नष्ट होने वाले विषय हैं। उन विषयों का उसी रूप में चिन्तन करते हुए, चिन्तन विषयीभूत उन विषयों का परित्याग किया करता है। एवम् अपवित्र वस्तु को देखने के समान, अनाचार=अनादर अर्थात् उनमें औदासीन्यभाव उत्पन्न होने से, पुनः उन विषयों का चिन्तन करना छोड़ देते हैं। वैसा पुरुष निश्चय ही मृत्यु का भी मृत्यु होकर मृत्यु के सदृश ही मृत्यु को अपना ग्रास बना लेता है। जैसा कि शास्त्रों में कहा भी गया है—"जो विवेक सम्पादन द्वारा अतात्त्विक विषयों का नाश करने वाला होता है, वह विद्वान् आत्मज्ञ, क्रान्तदर्शी पुरुष मृत्यु का भी मृत्यु कहा गया है ॥१/१२॥

शां० भा०—एवमनित्याऽऽदिरूपेण विद्वान् सन् अनादराऽऽदिना अभिहन्ति कामान्। यः पुनरनादराऽऽदिना नाऽभिहन्ति स किं करोति ? इत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार अनात्मभूत सांसारिक विषयों को अनित्य, अशुचि (अपवित्र) एवं दुःखाऽनुविद्ध रूप से चिन्तन करता हुआ विवेकशील विद्वान्, अनादराऽऽदि-पुरस्सर उन विषयों का परित्याग करता है, किन्तु जो सांसारिक पुरुष, अनादर, तुच्छ, आदि की भावना से उसका त्याग करने में असमर्थ होता है, वह पुरुष क्या करता है? इस विषय को अग्रिम श्लोक से व्यक्त किया जा रहा है—

मू०— कामाऽनुसारी पुरुषः कामान् अनु विनश्यति।

कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किञ्चित् पुरुषो रजः ॥१/१३॥

अन्वयः—-कामाऽनुसारी,कामान्, अनु विनश्यति, पुरुषः, कामान्, व्युदस्य, यत् किञ्चित्, रजः, धुनुते ॥१/१३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—कामाऽनुसारी=कामना के अनुसार चलने वाला, आत्म-अनात्म विवेक से रहित, सांसारिक पुरुष, कामान्=कामनाओं के, अनु=साथ-साथ, विनश्यति= विनष्ट हो जाया करता है, किन्तु इसके विपरीत, पुरुषः=विवेकसम्पन्न जो पुरुष है वह, कामान्=विषयविषयिणी भोगेच्छा का, व्युदस्य=परित्याग करके, यत्किञ्चित्=जो कुछ भी अर्जित, रजः=संसारसाधक पुण्यपापाऽऽदि कर्म हैं, उन कर्मों को, धुनुते=अन्तःकरण से साफ कर डालता है, अर्थात् विनष्ट कर देता है ॥१/१३॥

भावाऽर्थप्रभा—कामनाओं के पीछे-पीछे चलने वाला विवेकशून्य पुरुष अर्थात् विषयाऽऽसक्त लम्पटपुरुष उन विषयभोगों के नष्ट होने के साथ ही साथ नष्ट हो जाया करता है। किन्तु जो विवेकशील पुरुष है, वह भोगेच्छा का परित्याग करने के साथ ही, जो कुछ भी भोगने योग्य पाप-पुण्य कर्म हैं, शेष बचे उन समस्त कर्मों का प्रक्षालन करने में समर्थ होता है। इसका भाव यह है कि जिस-जिस क्रम से वासनाओं का विनाश होता है, उसी क्रम से आत्मा में प्रकाश विकसित होने लगता है, तथा प्रकाश की मात्रा जितने-जितने बढ़ने लगते हैं, उतने मात्रा में विषयाऽन्धकार का स्वरूप मिटने लगता है। इस प्रकार विषयाऽन्धकार के पूर्णरूप से विनष्ट हो जाने की स्थिति में विद्वान् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥१/१३॥

शां० भा०—कामेति। यस्तु पुनर्विषयाऽभिध्यानेन कामाऽनुसारी भवति स कामान् अनु विनश्यति=कामविषये नष्टे कामान् अनुकामैः सह विनश्यति। अनित्याः कामगुणाः प्रतिक्षणं विनाशाऽन्विताः, तद्वत्कामी विशीर्णो भवति।

यस्तु पुनर्विषयदोषदर्शनेन कामान् परित्यजति, स कामान् व्युदस्य=परित्यज्य विवेकबुद्ध्या धुनुते=ध्वंसयति यत्किञ्चिदिह जन्मनि जन्माऽन्तरे च उपार्जितं रजः=पुण्यपापाऽऽदिलक्षणं कर्म ॥१/१३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो विवेकहीन पुरुष विषयों का ध्यान करता हुआ कामनाओं (भोगेच्छाओं) के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाला होता है, वह कामनाओं के साथ ही नष्ट हो जाता है, अर्थात् इष्टविषय के नष्ट हो जाने की दशा में, विनष्टविषय के साथ ही साथ वह पुरुष भी नष्ट हो जाता है। इच्छाविषयीभूत पदार्थ अनित्य हैं, तथा उन पदार्थों का प्रत्येक क्षण में विनाश होता रहता है। इन्हीं विनाशशील वस्तुओं के समान उन वस्तुओं की कामना रखने वाला पुरुष भी विनष्ट हो जाया करता है।

किन्तु, जो जीव विषयों में दोषदृष्टि सम्पादन द्वारा विषयभोग विषयिणी कामनाओं

का परित्याग कर देता है, वह उन कामनाओं का त्याग करके वर्त्तमान जन्म में, तथा जन्माऽन्तर में जो कुछ रजस्=पुण्यपापाऽत्मक सञ्चित कर्म होता है, उन सभी को विवेकशाली बुद्धि के द्वारा ध्वंस करने में सर्वथा समर्थ हो जाता है ॥१/१३॥

(शरीर में आसक्ति पतन का कारण है। अब इसका प्रकाशन किया जा रहा है)

शां० भा०—कथं पुनरस्य देहस्य काम्यमानस्य हेयत्वम्? इत्याशङ्क्याऽऽह—

भाष्याऽर्थप्रभा—पुनः किस प्रकार से कामना विषयीभूत इस शरीर की हेयता (त्याज्यता) सिद्ध हो सकती है ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए आगे का श्लोक प्रस्तुत किया जा रहा है—

मू०.- देहोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
गृध्यन्त एव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः ।।१/१४।।

अन्वयः—भूतानाम्, अयम्, देहः, अप्रकाशः, नरकः, प्रदृश्यते, श्वभ्रम् उन्मुखाः, गच्छन्तः, गृध्यन्तः एव, धावन्ति ॥१/१४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—भूतानाम्=जीवों का, अयं देहः=प्रत्यक्षरूप से अनुभूयमान यह शरीर, अप्रकाशः=अन्धकारस्वरूप है, तथा नरकः=नरक के समान दुःखदायी, प्रदृश्यते= दृष्टिगोचर होता है। इसलिए जो लोग इस शरीर को पाने की इच्छा करता है वह प्राणी श्वभ्रम्=गर्त (गड्ढे) की तरफ जाने के लिए, उसके सम्मुख, गच्छन्तः=जाते हुए, गृध्य-न्तः=विषयाऽऽकाङ्क्षी लोलुप जन, एव=ही, धावन्ति=स्त्री, शरीर आदि विषयों की ओर दौड़ते हैं ॥१/१४॥

भावाऽर्थप्रभा—मनुष्याऽऽदि जीवों का यह शरीर वास्तविक रूप से अन्धकाराऽऽत्मक और नरक के तुल्य दुःख का खजाना है। विवेकशून्य पुरुष पुनः उसी शरीर में आसक्तियुक्त हुआ सुखपूर्वक रहता है। अर्थात् दुःखप्रद इस शरीर में सुख भोग की कामना से निवास करता हुआ विषयलोलुप होकर भागदौड़ लगाए रहता है, उसका विषयों में दौड़ लगाना कुछ उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार अन्धा पुरुष गड्ढे की ओर उन्मुख होकर दौड़ लगाते हुए स्वयं विनाश को प्राप्त होता है ॥१/१४॥

शां० भा०—देह इति। योऽयं भूतानां देहो दृश्यते सोऽप्रकाशः=तमोऽचिद्घनः, केवलं नरकः=श्लेष्माऽसृक्पूयकृमिविण्मूत्रपूर्णत्वात्। तथा चाऽऽह भगवान् मनुः—

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसक्षतजलेपगम्।
चर्माऽवनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ।।

जराशोकसमाविष्टं रोगाऽऽयतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूताऽऽवासमिमं त्यजेत् ।।इति।।

एवमत्यन्तबीभत्सितं स्त्र्यादिदेहं कमनीयबुद्ध्या गृध्यन्तो=अभिकाङ्क्षत एव धावन्ति=अनुधावन्ति । गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः, यथा—अन्धाः कूपाऽऽदिकं विवेक्तुमशक्ताः कूपाऽऽदिषून्मुखाः पतन्ति,एवं स्त्र्याद्यभिकाङ्क्षन्तो विषयविषान्धा उन्मुखाः पतन्ति नरकेष्वित्यर्थः ॥१/१४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—प्रत्यक्षदृश्यमान जो यह प्राणियों का शरीर दृष्टिगोचर होता है, वह पुनः कफ, रक्त, पीब, कीड़ा, विष्ठा और मूत्र से समन्वित होने के कारण वह अप्रकाश अर्थात् अन्धकार मय (जडस्वरूप) तथा केवल दुःखदायी नरकरूप है ।

भगवान् मनुजी भी इस शरीर के विषय में इस प्रकार कहते हैं—''जिसमें अस्थिस्वरूप कड़ियाँ तथा स्नायुरूप बन्धन है, मांस और शोणित से लिपा हुआ, तथा चमड़े से ढंका, मल-मूत्र से भरा हुआ, इसीलिए दुर्गन्ध से युक्त है, एवं वृद्धाऽवस्था और शोक से व्याप्त, रोगों का निवासस्थान, भूख, प्यास, ठण्ढी-गर्मी आदि से भयभीत, प्रायः रजोगुणयुक्त, विनाशशील, पृथिवी आदि पाँचभूतों से निर्मित जीवों के आवासस्वरूप, इस शरीर का इस प्रकार ब्रह्मज्ञान द्वारा त्याग किया जाना चाहिए, कि जिस त्याग के उपरान्त पुनः इसका सम्बन्ध न हो सके ।''

इस प्रकार से शरीर के अत्यन्त घृणाऽऽस्पद होने पर भी सांसारिक जन स्त्री आदि के शरीर की रमणीयता (सुन्दरता) की बुद्धि से ग्रहणेच्छा करते हुए ही इस शरीर की ओर दौड़ लगाते हैं, अर्थात् प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त हुआ करते हैं, किन्तु जिस प्रकार नेत्रविहीनपुरुष कूप-गर्त (गड्ढा) आदि स्थलों का निश्चय कर पाने में असमर्थ होने के कारण, अत एव दुःखस्थान कूप, गड्ढा आदि की ओर ही जाते हुए, उनमें पतित हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री आदि शरीर की इच्छा करने वाले विषयरूपी विष से अन्धे हुए संसाराऽऽसक्त प्राणी नरक के समान महाकष्टप्रद उन शरीरों की ओर प्रवृत्त होते हुए दुःखस्थान नरकों में गिरते हैं ॥१/१४॥

(विषयी जीवों के जीवन की निरर्थकता का प्रकाशन)

शां० भा०—य एवं गृध्यन्त एव धावन्ति तेषां देहो निरर्थक इत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—जो इस प्रकार की कामना करते हुए विषयों में दौड़ लगाते हैं, उनका शरीर धारण किया जाना निरर्थक है । इसी अभिप्राय को प्रकाशित करने के लिए आगे का श्लोक प्रारम्भ हो रहा है—

मू०—अमन्यमानः क्षत्रिय! कश्चिदन्यं नाऽधीयते तार्णं इवाऽस्य व्याघ्रः ।

क्रोधाल्लोभान्मोहभयाऽन्तरात्मा स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।।१/१५।।

अन्वयः—क्षत्रिय! अन्यम्, कश्चिद्, अमन्यमानः, न, अधीयते, अस्य, तार्णः, व्याघ्रः, इव, क्रोधात्, लोभात्, मोहभयात् यः, एषः, अन्तरात्मा, सः, वै, त्वच्छरीरे, मृत्युः ।।१/१५।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—क्षत्रिय! हे राजन्! (जो आत्माऽनात्म विवेकशून्य) अन्यम्=इन अनात्मभूत विषयों से भिन्न रूप में स्थित हुआ, कश्चिद्=किसी परमाऽऽत्मस्वरूप को, अमन्यमानः=अङ्गीकार न करता हुआ, न अधीयते=उस आत्मतत्त्व के विषय में अध्ययन=चिन्तन नहीं करता है, अस्य=उसका (शरीर), तार्णः व्याघ्रः इव=मूर्तिकार द्वारा बनाया जाने वाला घास से निर्मित बाघ के शरीर के समान (निरर्थक हुआ करता) है। क्रोधात्, लोभात्, मोहभयात्=क्रोध, लोभ, अज्ञान एवं भय से युक्त, यः एषः, अन्तरात्मा=जो यह अन्तरात्मा है, सः वै=वह, अर्थात् उस प्रकार का अन्तरात्मा ही, त्वच्छरीरे=तुम्हारे शरीर में, मृत्युः=मृत्यु है ।।१/१५।।

भावाऽर्थप्रभा—हे राजन्! विषयों के प्रति आसक्तियुक्त चित्त वाला पुरुष उन्हीं विषयों में विमोहित होते रहने के कारण, विषयाऽतिरिक्त किसी अन्य परमाऽऽत्मतत्त्व को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हो पाता है, इसीलिए परमाऽऽत्मसम्बन्धी शास्त्र का चिन्तन नहीं कर पाता है, ऐसी स्थिति में विषयपरायण पुरुष के द्वारा धारण किया गया वह शरीर कल्याणकारक न होने से, व्यर्थ होता है। और वैसी दशा में क्रोध, लोभ, अज्ञान एवं भय से आच्छादित जो यह अन्तरात्मा है, वह ही तुम्हारे शरीर में विद्यमान मृत्यु है, उससे भिन्न कोई और मृत्यु नाम की वस्तु नहीं है ।।१/१५।।

शां० भा०—अमन्यमान इति। यः स्त्र्यादिकमभिकाङ्क्षन्ननुधावति, स विषयविषान्धस्तद्व्यतिरिक्तं स्वाऽऽत्मभूतं परमाऽऽत्मानममन्यमानो=अप्रतिबुध्यमानो नाऽधीयते=तद्विषयकमध्यात्मशास्त्रं नाऽधिगच्छति, तस्याऽस्य विषयविषाऽन्धस्य षडङ्गवेदविदुषोऽपि देहस्तृणनिर्मितव्याघ्र इव निरर्थको भवति। तथा च भगवान् वशिष्ठः—

चतुर्वेदोऽपि यो विप्रः सूक्ष्मं ब्रह्म न विन्दति ।

वेदभारभराऽऽक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः ।। इति ।

न केवलं देहो निरर्थकः—य एवंभूतः स एव तस्य मृत्युरित्याह—क्रोधाल्लोभान्मोहभयाऽन्तरात्मा इति। क्रोधलोभाभ्यां हेतुभ्यां मोहभयसमन्वितोऽन्तरात्मा त्वच्छरीरे य एष तवाऽऽत्मा दृश्यते स एव तव मृत्युः। यः पुनरजितेन्द्रियः क्रोधलोभाऽऽदिसमन्वितो विषयेषु प्रवर्त्तते, स एव तस्य मृत्युः, विनाशहेतुत्वात्। उक्तञ्च—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।इति।।१/१५।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो अविवेकी पुरुष स्त्री-पुत्र आदि की कामना से उसको प्राप्त करने के लिए, प्रयत्न किया करता है, वह विषयरूपी विष से अन्धा हुआ, स्त्री आदि विषयों से भिन्नरूप में विद्यमान अपने अन्तरात्मस्वरूप परमाऽऽत्मा को, जीवन में अङ्गीकार न कर पाने के कारण, परमाऽऽत्मतत्त्व के प्रकाशक अध्यात्मशास्त्र का चिन्तन-मनन भी नहीं कर पाता है। विषयरूपी विष से अन्धे बने हुए व्याकरणाऽऽदि छहों अङ्गों के सहित सम्पूर्ण वेदों को जानने वाले विद्वानों के भी शरीर, घासों से बनाए गये बाघ के शरीर के समान निरर्थक ही होते हैं। भगवान् वशिष्ठजी ने भी ऐसा ही कहा है—

"जो ब्राह्मण चारों वेदों का ज्ञाता होकर भी सूक्ष्म परब्रह्म का अनुभव नहीं करता है, वह अध्ययन द्वारा प्राप्त किये हुए वेदों के भार से दबा हुआ ब्राह्मण के रूप में गधा ही है।"

अनात्मज्ञ का केवल शरीर ही निरर्थक नहीं होता है, किन्तु जो इस प्रकार का विवेकहीन पुरुष है, वह स्वयं अपना मृत्यु भी हुआ करता है। इस तथ्य को मूल ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है—"क्रोधाल्लोभान्मोहभयाऽन्तरात्मा" इसका रहस्य प्रकट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—तुम्हारे शरीर में जो यह मोहाऽऽत्मक अज्ञान और भय से युक्त अन्तरात्मा अनुभव विषय हो रहा है, क्रोध और लोभस्वरूप हेतु के कारण वही अन्तरात्मा तुम्हारी मृत्यु है। जो पुरुष अजितेन्द्रिय हुआ करता है,तथा क्रोध एवं लोभ से युक्त हुआ विषयों में प्रवृत्त होता है, अपने विनाश का हेतु होने के कारण विषयों में प्रवृत्त होने वाला ही पुनः उसकी मृत्यु है। भगवान् कृष्ण जी ने गीताजी में स्पष्टरूप से इस तथ्य का प्रकाशन इस प्रकार से किया है—अपनी आत्मा ही अपना बन्धु है, और अपनी आत्मा ही अपना शत्रु है।" ॥१५॥

(मृत्युनाश के उपाय का प्रदर्शन)

शां० भा०—तर्हि केनोपायेन मृत्योर्विनाश इत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—तो पुनः इस मृत्यु का विनाश किस साधन से हो सकता है? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि—

मू०—एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः ।

विनश्यते विषये तस्य मृत्युर्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ।।१/१६।।

अन्वयः—एवम्, जायमानम्, मृत्युम्, विदित्वा, ज्ञानेन, तिष्ठन्, मृत्योः, न, बिभेति, तस्य, विषये, मृत्युः, विनश्यते, यथा, मृत्योः, विषयम्, प्राप्य, मर्त्यः ॥१/१६॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—एवम्=उपर्युक्त रीति से जो पुरुष काम, क्रोध, लोभ एवं मोहस्वरूप अज्ञान से, जायमानम्=उत्पन्न होने वाली, मृत्युम्=मृत्यु को, विदित्वा=जानकर, अर्थात् आत्मतत्त्व में शरीराऽध्यास (शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों की भ्रान्ति) स्वरूप मृत्यु को ही मृत्युरूप में निश्चय करके, ज्ञानेन=आत्मविषयक यथाऽर्थज्ञान द्वारा, तिष्ठन्=अपने स्वरूप में स्थित होता हुआ, मृत्योः=मृत्यु से, न बिभेति=भय नहीं किया करता है। तस्य=उस पुरुष का, विषये=सम्मुख होने पर, मृत्युः विनश्यते=मृत्यु स्वयमेव नष्ट हो जाती है। यथा मृत्योः विषयं प्राप्य=जिस प्रकार मृत्यु के (विषयम्=) समीपता को, प्राप्त करके, मर्त्यः=अज्ञानीपुरुष अपने आप नष्ट होने वाला होता है ॥१/१६॥

शां० भा०—एवमिति। एवं क्रोधाऽदिरूपेण जायमानं प्रमादाऽऽख्यं मृत्युं= जननमरणाऽऽदिसर्वाऽनर्थबीजं विदित्वा क्रोधाऽऽदीन् भूतदाहीयान् दोषान् परित्यज्याऽक्रोधाऽऽदीन् सम्पाद्य ज्ञानेन=चित्सदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मना तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः। तथा च श्रुतिः—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इति ॥

कस्मात् पुनर्ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योरित्याह—विनश्यते तस्य=ज्ञानिनो विषये=गोचरे परमाऽऽत्मनि साक्षात् क्रियमाणे प्रमादाऽऽख्योऽज्ञानम् मृत्युः। यथा मृत्योर्विषयं संसारमागतो मृत्युनाऽभिभूतो नष्टो भवति मर्त्यः, एवमात्मवेदिनो विषयमागतोऽज्ञानं मृत्युर्नष्टो भवति। उक्तञ्च ज्ञानमहादधौ—

ज्ञानसंस्थानसद्भावो ज्ञानाऽग्निर्ज्ञानवज्रभृत्।

मृत्युं हन्तीति विख्यातः स वीरो वीतमत्सरः।" इति ॥१/१६॥

भाष्याऽर्थप्रभा—उपर्युक्त प्रकार से काम, क्रोध, लोभ एवं मोहाऽऽदिरूप से उत्पन्न हुई प्रमादनामक मृत्यु को जन्म-मरणाऽऽदिस्वरूप समस्त अनर्थों का बीजस्वरूप जानकर, प्राणियों को जलाने वाले क्रोधाऽदि दोषों का परित्याग करके, एवम् उसके विरोधी अक्रोधाऽऽदिस्वरूप दोषाऽभाव का सम्पादन करके, ज्ञान अर्थात् सच्चिदानन्दाऽद्वितीय ब्रह्मभाव से वर्त्तमान हुआ पुरुष पुनः मृत्यु से भयभीत नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार श्रुति भी कहती है—

"ब्रह्माऽऽनन्द का अनुभव करने वाला पुरुष किसी से भी भयाऽऽक्रान्त नहीं होता है।"

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्माऽऽत्मज्ञानरूप से स्थित हुआ पुरुष मृत्यु से किस कारण नहीं डरा करता है? इस पर मूल में कहा गया है—"विनश्यते..." इत्यादि। तस्य=उस आत्मज्ञानी के ज्ञान का विषयस्वरूप जो परमाऽऽत्मतंत्त्व, उसका साक्षात्कार कर लेने पर, उस आत्मज्ञानी की प्रमादसञ्ज्ञक अज्ञानस्वरूप मृत्यु नष्ट हो

जाती है। जिस प्रकार मृत्यु के विषयस्वरूप संसार को प्राप्त हुआ मरणधर्मा प्राणी, मृत्यु से आक्रान्त हुआ विनष्ट हो जाता है। उसी प्रकार आत्मज्ञानी के सम्मुख उपस्थित अज्ञानरूपा मृत्यु भी नष्ट हो जाया करती है। इस विषय को लेकर "ज्ञानमहोदधि" नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है कि—ज्ञानाऽऽत्मक अधिष्ठान में वर्त्तमान रहने वाले ज्ञानाऽग्निस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप वज्र को धारण करने वाले जिस पुरुष के विषय में "इस पुरुष ने मृत्यु का विनाश कर दिया है।" इस प्रकार की प्रसिद्धि हो, इस संसार में वही मत्सरशून्यवीर होता है।" ॥१/१६॥

(ज्ञानी के कर्मत्याग में धृतराष्ट्र की शङ्का का प्रदर्शन)

शां० भा०—एवं तावत् "कर्मोदये" इत्यादिना कर्मणां बन्धहेतुत्वमुक्त्वा, "ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः" इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमभिहितम्। तत्र चोदयति धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार से यहाँ तक के ग्रन्थ से "कर्मोदये कर्मफलाऽनुरागाः" इस श्लोक के माध्यम से कर्मों में संसारबन्धन की कारणता का प्रतिपादन करके, पुनः "ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः" इस वाक्य के द्वारा आत्मज्ञान को ही मोक्ष का हेतु प्रदर्शित किया। अब इस विषय में राजा धृतराष्ट्र शङ्का उपस्थित करते हैं—

(धृतराष्ट्र उवाच)—

मू०— यानेवाऽऽहुरिज्यया साधुलोकान् द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान्।
तेषां पराऽर्थं कथयन्तीह वेदा एतद्विद्वान् नैति कथं नु कर्म ।।१/१७।।

अन्वयः—धृतराष्ट्र उवाच, द्विजातीनाम्, इज्यया, यान्, पुण्यतमान्, सनातनान्, लोकान्, आहुः, वेदाः, इह, तेषाम्, पराऽर्थम्, कथयन्ति, तु, विद्वान्, कर्म, कथम्, न, एति ॥१/१७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र ने कहा—, द्विजातीनाम्=ब्राह्मणाऽऽदि वर्णों को, इज्यया=यज्ञाऽऽदि कर्म के माध्यम से, यान् पुण्यतमान् सनातनान् लोकान् आहुः= जिन प्रबल पुण्यों से प्राप्त होने वाले श्रेष्ठतम लोकों की प्राप्ति को कहते हैं, वेदाः=वेद पुनः, इह= इस संसार में, तेषाम्=उन्हीं पुण्यतम लोकों की प्राप्ति को, पराऽर्थम्=परमपुरुषाऽर्थ (मोक्ष), कथयन्ति= कहते हैं, तु=तो पुनः ऐसी स्थिति में, विद्वान्=विवेक सम्पन्नपुरुष, कर्म=यागाऽऽदि कर्म को, कथं न एति=किसलिए स्वीकार नहीं करते हैं? ॥१/१७॥

भावाऽर्थप्रभा—राजा धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! वेदों ने यज्ञ के द्वारा ब्राह्मणाऽऽदि वर्णों को, जिन पुण्यतम तथा अविनाशी लोकों की प्राप्ति कही गयी है, उन्हीं

को वेद परमपुरुषाऽर्थ बतलाते हैं। ऐसा अनुभव करके भी ब्रह्मवेत्ता इन यज्ञाऽऽदि कर्मों को सम्पादित क्यों नहीं करता है? ॥१/१७॥

शां० भा०—यानिति। ननु कथं कर्मणां बन्धहेतुत्वम्? यावता यानेवाऽऽहुरिज्यया=ज्योतिष्टोमाऽऽदिना साधुलोकान्=साधुभिः=धार्मिकैरारूढान् पुण्यतमान्=पवित्रान् सनातनान्=नित्यान्। तेषाम्=ब्रह्मलोकपर्यन्तानां पराऽर्थम्=परमपुरुषाऽर्थत्वं कथयन्ति, इह=अस्मिन् संसारमण्डले वेदाः। एतद्लोकानां परमपुरुषाऽर्थत्वं विद्वान् कथं नु साधनं कर्म नैति=न गच्छति=नाऽनुतिष्ठतीत्यर्थः। अथवा, एतद् ब्रह्मलोकपर्यन्तानां लोकानां साधनभूतं कर्म विद्वान्=ब्रह्मवित् कथं नैति=नाऽनुतिष्ठतीति ॥१/१७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—कर्मों की बन्धनहेतुता किसके आधार पर स्वीकार की जाती है? क्योंकि श्रुति ने ज्योतिष्टोमाऽऽदिस्वरूप यज्ञों के द्वारा जिन पुण्यतम=पवित्र एवं सनातनाऽऽत्मक अविनाशी साधुलोकों की=साधुओं के द्वारा अर्थात् धार्मिक पुरुषों के द्वारा प्राप्त किये गये लोकों के प्राप्ति की बात कही है, उन ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकों को ही वेद यहाँ=इस संसारमण्डल में पराऽर्थ=परमपुरुषाऽर्थ के रूप में कहते हैं। ब्रह्मलोकपर्यन्त तक के परमपुरुषाऽर्थ को जानता हुआ भी पुरुष उन दिव्य लोकों की प्राप्ति के साधनीभूत ज्योतिष्टोमाऽऽदिस्वरूप शास्त्रविहित कर्मों के सम्पादनाऽऽत्मक अनुष्ठान किसलिए नहीं करता है? अथवा उसका अभिप्रायार्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि—आत्मतत्त्व को जानने वाला विद्वान् ब्रह्मलोक तक के समस्त दिव्य लोकों की प्राप्ति के साधनीभूत यागाऽऽदिस्वरूप कर्म का आचरण क्यों नहीं करना चाहता है? अर्थात् उसकी उपेक्षा क्यों करता है? ॥१/१७॥

(सनत्सुजात जी का समाधान-''ज्ञानीपुरुष को कर्माऽनुष्ठान की आवश्यकता, या अपेक्षा नहीं होती है,'' इस तथ्य का निरूपण)

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राऽऽह भगवान् सनत्सुजातः—

भाष्याऽर्थप्रभा—उपर्युक्त प्रकार से धृतराष्ट्र द्वारा पूछे गये प्रश्न का भगवान् सनत्सुजात समाधान कहते हैं—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र तथाऽर्थ जातं च वदन्ति वेदाः।

स नेह आयाति परं पराऽऽत्मा प्रयातिमार्गेण निहन्त्यमार्गान्।।१/१८।।

अन्वयः—सनत्सुजात उवाच, एवम्, हि, अविद्वान्, तत्र, उपयाति, च, तथा, वेदाः, अर्थजातम्, वदन्ति, सः, पराऽऽत्मा, इह, न, आयाति, मार्गेण, अमार्गान्,

निहन्ति, परम्, प्रयाति ॥१/१८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजातउवाच=सनत्सुजात जी ने कहा, एवं हि=इस प्रकार से तो, अविद्वान्=अज्ञानी ही, तत्र=कर्मसाधन में, उपयाति=प्रवृत्त हुआ करता है। च=और, तथा=उन्हीं अज्ञानियों के उद्देश्य से, वेदाः=वेद, अर्थजातम्=अनेक प्रकार के उपायों को, या उन कर्मों के विविध प्रयोजनों को भी, वदन्ति=प्रकाशित करते हैं, सः=वह ज्ञानीपुरुष पुनः, पराऽऽत्मा=परमात्मा का स्वरूप होकर परमाऽऽत्मा को ही प्राप्त हो जाता है, इस कारण से वह आत्मज्ञ, इह=इस कर्ममार्ग में, न आयाति=नहीं आता है, अर्थात् कर्ममार्ग का अनुसरण नहीं करता है, किन्तु वह पुरुष, मार्गेण=ज्ञानमार्ग से, अमार्गन्=ज्ञान विरोधी कर्ममार्गों को, निहन्ति=रोकता हुआ, परम्=ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप को, प्रयाति=प्राप्त किया करता है ॥१/१८॥

भावाऽर्थप्रभा—श्री सनत्कुमार जी राजा धृतराष्ट्र के प्रश्न का समाधान करते हुए बोले—इस कर्मसम्पादन के मार्ग से तो अज्ञानीपुरुष ही प्रवृत्त होता है, अर्थात् श्रुतियों में यज्ञाऽऽदिकर्मों के माध्यम से स्वर्गाऽदिलोकों की प्राप्ति प्रतिपादित हुई है। वह मार्ग केवल सांसारिक पदार्थों में आसक्त विवेकहीन पुरुषों के लिए ही उपदिष्ट हुआ है, क्योंकि अबुधजन अज्ञान के वशवर्त्ती होने से, आत्मतत्त्व के साक्षात्कार करने में असमर्थ हुआ करता है। किन्तु इस संसार में जो निष्काम पुरुष हैं, जब उन्हें कर्मफल की वाञ्छा ही नहीं, तो पुनः वह कर्मफलप्राप्ति के साधनीभूत कर्ममार्ग में क्यों प्रवृत्त हो? अतः उन ज्ञानियों के उद्देश्य से श्रुति में ज्ञानमार्ग का उपदेश किया गया है, अतः आत्मज्ञानीपुरुष (स्त्री, नपुंसकाऽऽदि सभी जीव) ज्ञानमार्ग के माध्यम से अन्य सभी संसारगामी मार्गों की उपेक्षा करके, परमाऽऽत्मस्वरूप होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है ॥१/१८॥

शां० भा०—एवमिति। सत्यम्, एवमेव ब्रह्मलोकाऽदिसाध्यं सुखं परमाऽर्थं मन्यमानो विषयविषाऽन्धो ह्यविद्वानुपयाति तत्र=तस्मिन् ब्रह्मलोकाऽऽदिसाधनभूते कर्मणि न विद्वान्, अविद्याऽऽदिदोषदर्शनात्। तथा च बृहदारण्यके—

"अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।

तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः।" इति॥

तथाऽर्थजातं च प्रयोजनजातं च तस्यैवाऽविदुषो वदन्ति वेदाः। यस्मादविदुष एव वदन्ति न विदुषः, तस्मान्नेह स विद्वान् ब्रह्मलोकाद्यनित्यसुखे, तत् साधने वा कर्मणि आयाति=प्रवर्तते। किं तर्हि कुरुते ? तत्राऽऽह—परमाऽऽत्मानमात्मत्वेनाऽवगम्य पराऽऽत्मा सन्=ब्रह्मैव सन् परं प्रयाति। मार्गेण निहन्ति अमार्गान् संसारहेतुभूतानात्मनो विरुद्धमार्गान्=धर्माऽधर्मोपासनारूपान्।

अथवा, "एवं हि विद्वानुपयाति तत्र" इति पाठे सगुणब्रह्मविद्वान् तत्र=ब्रह्मलोकादावुपासनाफलमुपयाति=प्राप्नोति । तथाऽर्थजातं च अस्य वदन्ति वेदाः । कीदृशं वदन्ति ? सः=विद्वान् इह=अस्मिन् लोके कर्मीव नाऽऽयाति=न जायते, किन्तु मार्गेण=ब्रह्मोपासनया अमार्गान्=विरुद्धमार्गान् निहन्ति । एवं तत्र गत्वा संसारहेतून् अमार्गान् निहत्य पराऽऽत्मा=ब्रह्माऽऽत्मा सन् कालेन परं ब्रह्म प्रयातीत्यर्थः ॥१/१८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—ज्ञानी कर्म की अपेक्षा नहीं करता है, यह बात सत्य है, किन्तु जिस प्रकार आत्मज्ञानी कर्ममार्ग की उपेक्षा नहीं करते उसी प्रकार अज्ञानी, ब्रह्मलोकाऽऽदि से प्राप्त होने वाले भोगों में पारमार्थिकसुख मानने वाला, विषयरूपी विष से अन्धा अज्ञानी पुरुष ही उस ब्रह्मलोकाऽऽदिकों की प्राप्ति के साधनीभूत यागाऽऽदिस्वरूप शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त हुआ करता है । पुनः वहाँ विद्वान्पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है । इस विषय को 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में भी इस प्रकार प्रकाशित किया गया है—प्रबल अन्धकार से आच्छन्न आनन्द (आनन्दशून्य वाले) लोक हैं, आत्मज्ञान से विहीन तथा ब्रह्माऽऽत्मविज्ञान की योग्यता से रहित जो जीव हैं, वे इस वर्त्तमान लोक में प्राणत्याग करने के उपरान्त उन्हीं आनन्दशून्य (दुःखमय एवं प्रगाढ अज्ञानाऽन्धकारयुक्त कर्मफलभोगोपयोगी) लोक को प्राप्त होते हैं ।"

उसी आत्मज्ञानविहीन मनुष्याऽऽदि प्राणियों के लिए वेद विभिन्न या अनन्त प्रकार के मायिक साधनों, एवं उन साधनों से सिद्ध होने वाले जीवों के भोगने योग्य अपरिमित प्रयोजनों को प्रकाशित करते हैं । जिस कारण से वेद आत्मज्ञानविहीन पुरुषों के लिए ही नानाविध साधनों एवं प्रयोजनीय साध्यों का विधान करते हैं, आत्मज्ञानियों के लिए नहीं, इस कारण से वह आत्मज्ञानी इस ब्रह्मलोकाऽऽदिकों में प्राप्त होने वाले अनित्य सुखों, तथा उन सुखों के प्रापक साधनस्वरूप तत्तत् वेदाऽऽदिशास्त्रविहित कर्मों के सम्पादन में प्रवृत्त नहीं हुआ करता है । यदि अनित्य सुखसाधक कर्मों में विद्वान् प्रवृत्त नहीं होता है, तो पुनः वह इसके अतिरिक्त क्या करता है? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए कहा जाता है—वह विद्वान् परमाऽऽत्मा को अपने आत्मरूप से प्रात्यक्षिकरूप में अनुभव करके ब्रह्मरूप से स्थित हुआ ही परमाऽऽत्मस्वरूप हो जाता है, तथा आत्मस्वरूपप्रापक मार्गाऽऽरोहण के माध्यम से विरुद्धमार्गों को अवरुद्ध कर देता है, अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए, आत्मप्राप्ति के विरोधी अनात्मभूत संसार की प्राप्ति का कारणीभूत धर्माऽधर्म, एवम् उपासनास्वरूप विरुद्धमार्गों का विधान (बाध) कर देता है, अर्थात् विरोधी मार्गों को रोक देता है ।

अथवा "एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र" इस प्रथमचरण के स्थान पर "एवं विद्वानुपयाति तत्र" इस प्रकार का पाठभेद माना जाय तो परिवर्तित पाठ से सम्बन्धित अर्थ का स्वरूप

इस प्रकार होगा—सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाला पुरुष उस ब्रह्मलोकाऽऽदि में अपनी सगुण ब्रह्मोपासना का फल प्राप्त किया करता है, एवं तत्तल्लोक में फलप्राप्ति के साधनीभूत उपकरणों को वेद प्रकाशित करते हैं, अर्थात् सगुणब्रह्म के उन-उन लोकों में विद्यमान उपासकों के अभीष्ट तत्तद् अर्थों का वेद वर्णन किया करते हैं।

प्रश्न—उन-उन लोकों में स्थित किस प्रकार के अभीष्टाऽर्थ का वर्णन वेद करते हैं? इस पर कहते हैं कि—वह सगुण ब्रह्मोपासक कर्ममार्गाऽऽनुयायी के समान पुनः पुनः इस अशाश्वत् दुःखालयरूपी संसार में कथमपि नहीं आता है, अर्थात् कर्ममार्गी सांसारिक पुरुषों के समान सगुण ब्रह्मोपासकविद्वान् इस लोक में पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता, अपि तु सगुणब्रह्म की उपासना के माध्यम से, वह अमार्गों को, अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के विरोधी मार्गों को नष्ट कर देता है। इस प्रकार उपासक ब्रह्माऽऽदिकों के तत्तद् लोकों में आकर संसारसम्बन्ध के कारणीभूत विरुद्धमार्गों को नष्ट करके परमाऽऽत्मस्वरूप के रूप में अपना अनुभव करता हुआ, कालान्तर में पुनः परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, ऐसा इस श्लोक का तात्पर्य है॥१/१८॥

(अब आगे के ग्रन्थ से ईश्वर के जगत् निर्माण में प्रवृत्त होने का प्रयोजन कहा जा रहा है—)

शां० भा०—एवं तावत् प्रमादाऽऽख्यस्याऽज्ञानस्य मृत्युत्वमप्रमादस्य स्वरूपाऽवस्थानलक्षणस्याऽमृतत्वम् "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इत्यादिना दर्शयित्वा "आस्यादेष निःसरते नराणाम्" इत्यादिना "स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः" इत्यन्तेन तस्यैव कार्याऽऽत्मना परिणतस्य सर्वाऽनर्थहेतुत्वं प्रदर्शयित्वा, कथमस्य मृत्योर्विनाशः? इत्याशङ्क्य "एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः" इत्यात्मज्ञानेन मृत्युविनाशं दर्शयित्वा "यानेवाहुरिज्यया" इत्यादिना ब्रह्मलोकाऽऽदेः पुरुषाऽर्थत्वमाशङ्क्य "एवं ह्यविद्वान्" इत्यादिना तेषामविद्यावद्विषयत्वेनाऽपुरुषाऽर्थत्वमुक्त्वा "परं परात्मा प्रयाति मार्गेण" इति जीवपरयोरेकत्वमुक्तम्। तदसहमानश्चोदयति धृतराष्ट्रः।

भाष्याऽर्थप्रभा—उपर्युक्त प्रकार से "प्रमाद वै मृत्युमहं ब्रवीमि"="प्रमादाऽऽत्मक आत्माऽज्ञान ही मृत्यु है" इत्यादि वाक्य से प्रमादनामक ब्रह्माऽऽत्माऽज्ञान का मृत्यु होना और निरुपाधिक आत्मतत्त्व में अवस्थित होनारूप अप्रमाद को मृत्यु के अभावरूप में दर्शाकर "आस्यादेष निःसरते"=यह मृत्यु, अज्ञानरूपी अहंकाराऽऽत्मक मुख से प्रकट होता है।" इत्यादि वाक्य से लेकर "स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः" "काम-क्रोध-लोभ-मोह से ग्रसित तुम्हारे शरीर के अन्तर्गत जो आत्मा है, वही तुम्हारी मृत्यु है।" यहाँ तक के वाक्य से कार्यरूप में परिणमित उस मृत्यु को ही सम्पूर्ण अनर्थों का कारण प्रदर्शित

करके, पुनः मृत्यु के विनाश विषय में इस प्रकार की शङ्का उत्थापित की गयी कि— उस मृत्यु का विनाश किस प्रकार से हो सकता है? और उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए मूलग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है कि—"एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा, ज्ञानेन तिष्ठन् न बिभेति मृत्योः" (="इस प्रकार के मृत्यु को क्रोधाऽऽदिरूप से उत्पन्न हुआ जान कर पुरुष ज्ञानरूप से स्थित हुआ पुनः मृत्यु से भयभीत नहीं होता है।") इस वाक्य के द्वारा आत्मज्ञान से मृत्यु का नाश दिखाते हुए, पुनः "यानेवाहुरिज्यया" (श्रुतियों ने ज्योतिष्टोमाऽऽदि यज्ञों के द्वारा ब्राह्मणाऽऽदिकों को जिन पुण्यतम एवं नित्यभूत ब्रह्माऽऽदि लोकों की प्राप्ति बतलायी है।) इत्यादि वाक्य द्वारा ब्रह्मलोकाऽऽदिकों में परमपुरुषाऽर्थ की आशङ्का उठाकर "एवं ह्यविद्वान्' (=इस प्रकार तो आत्मज्ञानविहीन संसारकामी पुरुष ही संसारसाधक-कर्मों के सम्पादन में प्रवृत्त होते हैं) इत्यादि वचनों के द्वारा उपर्युक्त शङ्का का निवारण करते हुए उस वाक्यप्रतिपाद्य को अज्ञानीविषयक निर्धारित करते हुए, कर्माऽर्जित उन ब्रह्मलोकाऽऽदिकों को आविद्यक रूप से अपुरुषाऽर्थत्व प्रकाशित करके, "परं पराऽऽत्मा प्रयाति मार्गेण" (परमब्रह्मस्वरूप होकर के जीवाऽऽत्मा ज्ञानमार्ग से उस आत्मा में लीन हो जाता है।) इस वाक्य से ज्ञानमार्गद्वारा मोक्ष का उपदेश किया गया है। उसे सहन न करते हुए राजा धृतराष्ट्र शंका करते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र ने कहा—

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।

किं वाऽस्य कार्यमथवासुखं च तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ।।१/१९।।

अन्वयः—धृतराष्ट्र उवाच, हे! विद्वन्, चेत्! इदम्, सर्वम्, अनुक्रमेण, सः, असौ, अजम्, पुराणम्, कः, नियुङ्क्ते, वा, अस्य, किम्, कार्यम्, च, अथवा, सुखम्, तत्, यथावत्, मे, ब्रूहि ।।१/१९।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र उवाच= महाराज धृतराष्ट्र ने कहा—(हे) विद्वन्=आत्मज्ञ! चेत्=यदि, इदम्=प्रत्यक्षदृश्यमान तथा अनुमीयमान, सर्वम्=संसार, अनुक्रमेण=एक-एक करके सब कुछ, सः=ब्रह्मस्वरूप ही पर्यवसित होता है तो पुनः, कः असौ=ब्रह्म से व्यतिरिक्त कौन वह पुरुष है, जो जन्माऽऽ-दिरहित तथा सर्वविकारशून्य कूटस्थ ब्रह्म को, (जगत्रूप से ब्रह्म की परिणति के लिए, या पुनः विवर्तरूप में स्थित होने वाले जगत् की उपस्थिति के लिए)" नियुङ्क्ते=प्रेरित करता है। वा=अथवा, अस्य=इस निरञ्जन ब्रह्म को, किं कार्यम्=जगत्सृष्टिरूप कार्य को करने की क्या आवश्यकता थी? च=और, अथवा=क्या, सुखम्=सुख था, यह सब, यथावत्=यथाऽर्थरूप से समस्त जिज्ञासित पदार्थों को, मे=मेरे लिए, ब्रूहि=प्रकाशित करें ।।१/१९।।

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र कहते हैं कि—यदि क्रमिकरूप से वह परमाऽऽत्मा ही यह दृश्यमान और अनुमीयमान जगत्स्वरूप हो गया है, तो पुनः उस जन्माऽऽदिरहित अविनाशीपुरुष को नियुक्त कौन कर रहा है ? एवं इस प्रकार से जगत्सृष्टिकार्यसम्पादन में उस ब्रह्म का क्या प्रयोजन है? और यदि ब्रह्म ऐसा न कर अपने निर्विकाररूप में ही रहे तो उसे क्या दुःख है? हे आत्मज्ञ! आप इस जिज्ञासा का समुचित समाधान करें ॥१/१९॥

शां० भा०—ननु यदि स एव सत्यादिलक्षणः परमाऽऽत्मा क्रमेणाऽऽकाशाऽऽदि-धरित्र्यन्तं सृष्ट्वा, तदनुप्रविश्याऽन्नमयाद्यात्मना स्थितः संसरति चेत्!, कोऽसौ तं सत्याऽऽदि-लक्षणम् अजं पुराणं संसारे नियुङ्क्ते=प्रेरयति । किमन्येन, स्वयमेवेति चेत्, किं वाऽस्य= नानायोनिषु प्रवर्त्तमानस्य कार्यम्=प्रयोजनम्? अथवा नानायोनिष्वप्रवर्त्तमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वे महिम्नि स्थितस्य, संसाराननुप्रवेशेऽसुखम्, अनर्थजातं वा किं भवति? हे विद्वन्! मे ब्रूहि सर्वं यथावत् । तथा च ब्रह्मविदामेकः पुण्डरीको भगवान् याज्ञ्यवल्क्यस्तत एव सर्वस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैव जीवाऽऽत्मत्वमभ्युपगम्य—"यद्येवं स कथं ब्रह्मन्! पापयोनिषु जायते । ईश्वरश्च कथं भावैरनिष्टैः सम्प्रयुज्यते" इति । "कोऽसौ नियुङ्क्ते" इत्यनेन भगवतोक्तमेव ब्रह्मजीववादपक्षं वावदूकचोद्यं स्वयमेव स्पष्टमुक्तवान् ॥१/१९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—प्र०—सच्चिदानन्दस्वरूप परमाऽऽत्मा ही क्रमिकरूप से आकाश से लेकर धरती पर्यन्त महाभूतों की रचना करके, तथा उन भूतों में अनुप्रविष्ट होकर अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय कोश के रूप में स्थित हुआ जन्म-मरणाऽऽदिरूप संसार के रूप में प्राप्त हो रहा है, ऐसा यदि कोई (सिद्धान्तवादी) कहे?, तो पुनः उसे इसका भी उत्तर देना ही होगा कि वह कौन है? जो इस सच्चिदानन्दस्वरूप जन्ममरणाऽऽदि विवर्जित अज तथा निर्विकाराऽऽत्मना अवस्थित पुराणस्वरूप परमाऽऽत्मा को इस संसाराऽऽत्मक जगत् में प्रेरित कर रहा है? क्या? उस परमाऽऽत्मा को उससे भिन्न कोई (प्रकृत्यादि) प्रेरित कर रहा है? यदि नहीं, तो पुनः प्रश्न उठता है कि दूसरा यदि प्रेरक नहीं है, तो क्या वह संसारसम्बन्ध के लिए स्वयं अपने-आप प्रवृत्त हुआ करता है?, यदि हाँ तो वहाँ पुनः जिज्ञासा होती है कि इन नाना योनियों में प्रवृत्त होने वाले उस परमाऽऽत्मा की प्रवृत्ति में क्या प्रयोजन है?, अथवा अनन्त योनियों के शरीर के ग्रहणाऽर्थ प्रवृत्त न होने वाले, तथा मौन धारण कर अपने स्वरूप में स्थित हुए परमाऽऽत्मा का संसरणाऽर्थ प्रवृत्त न होने की दशा में सुख की उपलब्धि नहीं हो पाती है?, या अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पाती है? हे आत्मतत्त्व के ज्ञाता!, ये सारी बातें मुझे स्पष्टरीति से बतलाइए । तथा ब्रह्मवेत्ताओं में एक कमलस्वरूप भगवान् याज्ञ्यवल्क्य जी ने भी उसी ब्रह्म से सकल जगत् की सृष्टि को कहकर पुनः उसी ब्रह्म का जीवभाव होना भी स्वीकार करके इस प्रकार कहा है कि यदि ब्रह्म ही कार्य-कारणाऽऽत्मना स्थित है, तो हे ब्रह्मन्!

वह पापयोनियों में भी किस प्रकार उत्पन्न हुआ करते हैं?, तथा सर्वप्रकार से समर्थ होने पर भी परमात्मा अनिष्ट भावस्वरूप कार्यों से कैसे युक्त हो जाते हैं?'' इस प्रकार से कहते हुए ''कोऽसौ नियुङ्क्ते'' इस वाक्य के द्वारा श्री भगवान् के कहे हुए ब्रह्म-जीववाद पक्ष में वादी द्वारा शङ्का प्रस्तुत की गई है उसका यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख किया गया है ॥१/१९॥

(जीवसृष्टि अनादि एवं मायिक है—आगे इसी का प्रकाशन किया जा रहा है।)

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राऽऽह भगवान्—

भाष्याऽर्थप्रभा—इससे धृतराष्ट्र द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् सनत्कुमार जी कहते हैं—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।

तथाऽस्य नाऽधिक्यमपैति किञ्चिदनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥१/२०॥

अन्वयः—सनत्सुजात उवाच—,अत्र, विभेदयोगे, महान्, दोषः, हि, अनादियोगेन, नित्याः, भवन्ति, अस्य, किञ्चित्, आधिक्यम्, न, अपैति, अपि, च, अनादियोगेन, पुंसः, भवन्ति ॥१/२०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच=सनत्कुमार जी बोले, अत्र=इस प्रश्न के विषय में उत्तर यह है कि—विभेदयोगे=ब्रह्माऽऽत्म-स्वरूप में अनेकता की कल्पना की अवस्था में, महान् दोषः=प्रबलदोष उपस्थित होता है, हि=क्योंकि, अनादियोगेन=अनादिभूत माया के योग से, नित्याः भवन्ति=नित्यभूत जीव प्रकट होते हैं, किन्तु वह मायासम्बन्ध, अस्य=इस ब्रह्माऽऽत्मा की, आधिक्यम्= महिमा को या महत्ता को, किञ्चिद्=थोड़ा भी, न अपैति=दूर करने में समर्थ नहीं होता है। अपि च=और भी, अनादियोगेन=अनादिभूतमाया के सम्बन्ध से ही, पुंसः भवन्ति= जीवगण व्यक्त होते हैं ॥१/२०॥

भावाऽर्थप्रभा—भगवान् सनत्सुजात जी समाधान की दिशा निर्धारित करते हुए कहा कि—हे राजन्! आपके द्वारा जो प्रश्न किया गया है, उस प्रश्न के विषय में महान् दोष है, वह दोष यह है कि—प्रत्यक्षाऽऽदि मायिकअनुभव के आधार पर यदि ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप में अनेकता को स्वीकार किया जाय, तो जिस प्रकार अवयवी या अवयवों के समुदाय में से कुछ अंश को पृथक् कर लिया जाता है तो अवयवी या समुदाय में न्यूनता प्रकट होती है, इसी प्रकार यदि कारण ब्रह्म से जगदात्मना अवस्थित कार्यतत्त्व का भेद या पार्थक्य होना वास्तविक रूप से सिद्ध होने लगे, तो पुनः कारण अंशी में महत्ता की न्यूनता अवश्य आएगी, अतः जीव और जगत् को ब्रह्म से भिन्नरूप में तात्त्विकरूप से स्वीकार न किया जाना चाहिए और जीवाऽऽत्मा आदि का परमाऽऽत्मा

के साथ प्रतीत होने वाले मायिकभेद की सिद्धि के लिए, अनादि भ्रमाऽऽत्मिका माया को श्रुति-पुराणाऽऽदि के अनुसार स्वीकार किया जाना परमाऽऽवश्यक है।

इस माया का आश्रयण कर परमाऽऽत्मा अपनी आत्मा से निर्विकार रहते हुए ही जलचन्द्रवत् भ्रममूलक वैवर्तिक सृष्टि करने में सफल होते हैं। अतएव "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (=परमाऽऽत्मा अनन्तकार्योद्भावकशक्ति विशिष्टमायाद्वारा संसार के अनन्तरूपों को धारण करते हैं।) इत्यादि श्रुतियाँ सार्थक होती हैं। अवास्तविक (भ्रममूलक) जगत् रचना होने से न तो परमेश्वर में वास्तविक रूप से कार्य-कारण पार्थक्यप्रयुक्त अनेकता की पारमार्थिकरूप से सिद्धि हो सकती है, और न ही कार्योत्पत्ति के कारण उपादान कारण में ही सविकारता, न्यूनता, या उसकी महत्ता में किसी प्रकार की कमी आती है। इस प्रकार माया (अविद्या) के सम्बन्ध से ही जीवाऽऽदिकों की सृष्टि एवं देहाऽऽदिकों के पुनः-पुनः सम्बन्ध भ्रमविषयरूप से व्यक्त होते रहते हैं। इस प्रकार यहाँ फलित हुआ कि माया सम्बन्धमात्र की दशा में, ब्रह्म जीव जगत्‌रूप में, तथा शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों के रूप में अनन्तरूप से भासित हुआ करता है, तथा विद्यादशा में पुनः उसकी एकता, अखण्डता, निर्विकारता सतत् बनी रहती है॥१/२०॥

शां० भा०—दोष इति। यद्येवं चोदयत एषोऽभिप्रायः—नियोज्यनियोक्तृत्वाऽऽदि भेददर्शनादेकस्य कूटस्थस्य तदसम्भवाद् भेदेन भवितव्यमिति। तत्र यदि ब्रह्मण एव नानात्वमभ्युपगम्यते चेत्? तदा तस्मिन् भेदयोगे ब्रह्मणो नानात्वयोगे दोषो महान्। को दोषः? अद्वैतिनो ह्यतथावादिनोऽवैदिका भवेयुः, वेदहृदयं परमाऽर्थमद्वैतं च बाध्यं स्यात्। किञ्च नानारूपेण परिणतत्वादनित्याऽऽदिदोषोऽस्थूलाऽऽदिवाक्यविरोधश्च प्रसज्येत।

अथोच्यते नाऽस्माभिर्ब्रह्मणो नानात्वमभ्युपगम्यते, अपि तु जीवपरयोर्भेदोऽभ्युपगम्यत इति। अत्राऽपि महान् दोषः, यतो विनाशं प्राप्नोति। श्रूयते च—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।" "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशुः", "अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोकाः भवन्ति" "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद" इति।

भाष्याऽर्थप्रभा—पूर्वपक्ष यदि उपर्युक्त प्रकार से शङ्का करने वाले के शङ्काग्रन्थ का यह अभिप्राय हो कि—नियोज्य एवं नियोजकत्वाऽऽदि भेद लोकव्यवहार में, एवं शास्त्र की परिपाटी में निश्चित रूप से देखा जाता है, और एक कूटस्थ नित्यभूत ब्रह्माऽऽत्मतत्त्वों में वैसा हो पाना सम्भव नहीं है। अतः अखण्ड एवं कूटस्थ ब्रह्म में भेद होना चाहिए, अब यदि भेदविषयक विचार को लेकर आगे बढ़ते हुए भेद के आश्रयरूप से ब्रह्मतत्त्व को ही स्वीकार करना चाहेंगे, तो ऐसी स्थिति ब्रह्म में नानात्व (अद्वैतस्वरूपविघातक

अनेकस्वरूपता) के सम्बन्ध होने पर महादोष उपस्थित होगा। वह महान् दोष क्या है? जब ब्रह्म की अनेकरूपता सिद्ध होने लगेगी तो ब्रह्म को अखण्ड अर्थात् एक मानने वाले अद्वैतवेदान्ती अब मिथ्यावादी होने लग जायेंगे, तथा वेदमार्ग से विमुख होने वाले वेद-विरोधी सिद्ध होंगे और वेद का रहस्याऽर्थभूत पारमार्थिकस्थान में सुशोभित जो आत्माऽद्वैत है, उस आत्माद्वैत का बाध होने लगेगा। इसके अतिरिक्त अनेकरूप में परिवर्तित होने से ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप में अनित्यत्वाऽऽदिदोषों की प्रसक्ति (प्राप्ति) तथा "ब्रह्म अस्थूल है, अनणु है, अह्रस्व है, अदीर्घ है...." इत्यादिस्वरूपश्रुतिवाक्यों से विरोध उपस्थित होने लगेगा।

अवान्तरीय वा, एकदेशीय समाधान अब यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि हम ब्रह्म की अनेकता को स्वीकार नहीं करने जा रहे हैं कि जिसके चलते उपर्युक्त दोष की आपत्ति होगी, किन्तु जीव और ब्रह्म की अनादिकालिक निर्विकारसत्ता को मानकर उन दोनों का ही भेद मानते हैं और ऐसी स्थिति में ब्रह्म तो अपने स्वरूप में अपने समान अकेले ही हैं, जिसके कारण उसके अद्वैतस्वरूप का लोप नहीं हो सकता है, किन्तु ऐसी अवस्था में भी महान् दोष की आपत्ति निवृत्त नहीं हो सकती है, जिसके चलते जीव ब्रह्म को भिन्न रूप में अनुभव करने वाले का विनाश उपस्थित होगा, इस विषय में श्रुति भी कहती है कि—"जब यह जीवाऽऽत्मा इस ब्रह्म में आंशिकरूप से भी भेद स्वीकार करता है, तब उस भेद बुद्धि रखने वाले को भय प्राप्त होता है।" "जो इस संसार में अनेक के समान परमार्थभूत एक आत्मवस्तु को देखता है, वह मृत्यु से छूटकर मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।" एवं "जो व्यक्ति किसी अन्य देवता को, ये आराध्यदेव मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ" इस प्रकार की भेदविषयिणी बुद्धि रखकर आराध्य देवता की उपासना करता है, वह उस ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व को नहीं जानता है, यथा पशु नहीं जानता है।" "जो पुरुष ब्रह्माऽऽत्मा को अपने से भिन्नरूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के ज्ञानी अन्य स्वामी के अधीन होते हैं तथा विनाशशीललोकों को प्राप्त होते हैं।" "जो अपने से व्यतिरिक्त सभी को अपनी आत्मा से भिन्न जानते हैं इस प्रकार के भेदाऽनुभव का सभी जन तिरस्कार किया करते हैं।"

शां० भा०—अथवा, जीवपरयोर्भेदेऽभ्युपगम्यमाने "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "अयमात्मा ब्रह्म", "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म", "य आत्मा सर्वान्तरः", "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः", "अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्", "इदं सर्वं यदयमात्मा", "एष त आत्मा सर्वान्तरः" "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि", "स वा एष महानज आत्मा जरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं वै ब्रह्मेति" इत्येवमादि-श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणविरुद्धभाषितत्वाद् वैदिकत्वं नाम महान् दोषो भवति।

कथं तर्हि त्वत्पक्षे जीवेश्वरादिव्यवहारभेदः ?

कथं वा तेषां नित्यत्वमिति ?

तत्राह—''अनादियोगेन भवन्ति नित्याः'' इति। अनादिरविद्याख्या माया। तथा चोक्तं भगवता—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादी उभावपि' इति। 'इयं हि साक्षाज्जगतो योनिरेका सर्वात्मिका सर्वनियामिका च। माहेश्वरी शक्तिरनादिसिद्धा व्योमाभिधाना दिवि राजतीव॥'' इति च।

अथवा, यदि आप भेददर्शी के अनुसार जीव और ब्रह्म के मध्य में भेद को स्वीकार किये जाने पर तो ''तुम ब्रह्म हो'', ''मैं ब्रह्म हूँ'', ''यह आत्मा ब्रह्म है'', ''जो साक्षात् अपरोक्ष स्वरूप में वर्त्तमान हुआ ब्रह्म है'', ''जो सबका अन्तर्यामी आत्मा है'', ''यह तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप आत्मा है'', ''यह जो शरीर में प्रत्यक्ष उपलभ्यमान आत्मा है, यही शरीराऽधिष्ठित आत्मा परोक्षभूत वह ब्रह्म है'', ''यह आत्मा अमृतस्वरूप है'', ''यह ब्रह्म है, तथा यही सब कुछ है'', ''यह तुम्हारी आत्मा सबसे अन्तरतम (सबसे अधिक समीप में स्थित) है। ''हे भगवन् जो आप हो, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही आप हो'', '' वही यह महान् जन्माऽऽदिविकारशून्य आत्मा वृद्धाऽवस्था से रहित, अमर और अभयस्वरूप है, अभय ही ब्रह्म है, अभयस्वरूपता ही ब्रह्म है।'' इत्यादि इसी प्रकार की श्रुति-स्मृति, इतिहास एवं पुराण वाक्यों के विरुद्ध कहे जाने के कारण इस मत में अवैदिकत्वस्वरूप महान् दोष उपस्थित होता है॥

तो पुनः किस प्रकार से तुम आत्माऽभेदवादी (आत्माऽद्वैतवादी) के पक्ष में जीव-ईश्वराऽऽदिस्वरूप व्यावहारिकभेदनिष्पन्न होगा? और किस प्रकार से उन जीवों की नित्यता सिद्ध होगी ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि—अनादि योग के कारण ही आत्मा अनादि सिद्ध होते हैं। अनादि पुनः अविद्या नाम से प्रसिद्ध माया को कहा जाता है। इस विषय को लेकर गीता जी में श्री भगवान् कृष्ण जी इस प्रकार कहते हैं कि—प्रकृति (माया) और पुरुष (जीवाऽऽत्मा) इन दोनों को अनादि जानो'' यहाँ पर ऐसा ही एक अन्य शास्त्रीय वचन भी उपलब्ध होता है—यह आकाश नाम वाली अनादिसिद्धा (अनादिस्वरूपा) महेश्वरसम्बन्धिनी शक्ति ही, जो कि दिव्य (स्वर्ग) लोक में विराजमान होता हुआ-सा, इस संसार की साक्षात् हेतु है, तथा यह एक होते हुए भी सर्वस्वरूपिणी एवं सर्वजागतिक वस्तु की नियामिका है।''

शां० भा०—तद्योगेन=अनादिमायायोगेन भवन्ति जीवाऽऽदयो नित्याः अद्वितीयस्याऽपि परमाऽऽत्मनो मायया बहुरूपत्वमुपपद्यते एवेत्यर्थः। श्रूयते च एकस्यैव

बहुरूपत्वम्—"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते", "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः", "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति", "एको देवो बहुधा निविष्टः", "एकः सन् बहुधा विचारः", "त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः", अजायमानो बहुधा विजायते" इति ।

तथा च मोक्षधर्मे—

एक एव हि भूताऽऽत्मा भूते-भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।इति।।

तथा च याज्ञ्यवल्क्यः—

आकाशमेकं हि यथा घटाऽऽदिषु पृथग् भवेत् ।

तथाऽऽत्मैकोऽप्यनेकश्च जलाऽऽधारेष्विवांऽशुमान् ।।इति।।

तथा च कावषेयगीतासु—

एकश्च सूर्यो बहुधा जलाऽऽधारेषु दृश्यते ।

आभाति परमाऽऽत्माऽपि सर्वोपाधिषु संस्थितः ।।

ब्रह्मसर्वशरीरेषु बाह्ये चाऽभ्यन्तरे स्थितम् ।

आकाशमिव कुम्भेषु बुद्धिगम्यो न चाऽन्यथा ।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—उसके योग से, अर्थात् उस अनादिभूता माया के योग से जीव आदि भी नित्य सिद्ध होते हैं। इसका भाव यह है कि—अद्वितीय होने पर भी माया सम्बन्ध के कारण परमाऽऽत्मस्वरूप का अनेक रूप होना सम्भव ही है। श्रुति भी कहती है कि—"वह परमेश्वर संसार के प्रत्येक वस्तु के आकार में आकारित होता हुआ सांसारिक वस्तु के अनुसार अनेक स्वरूप में हो गया है", मायाशक्तियों से परमेश्वर एक होते हुए भी अनेक रूपों में चेष्टा किया करते हैं, अर्थात् बहुत से रूपों को धारण किया करते हैं", "समस्त भूतों में एक ही देव छिपा हुआ है", "एक होते हुए भी ब्राह्मण लोग (परमेश्वर मननध्यानाऽऽदिपराऽऽयण विद्वान् जन उस अद्वैताऽऽत्मा को बहुत प्रकार से कहते हैं", "एक होते हुए भी वे अनेक प्रकार के कल्पना के विषय बनते हैं," "एक ही देवता इस नानाऽऽत्मक संसार में नाना प्रकार से सन्निविष्ट हैं, अर्थात् नाना आकारों में अनुभव विषय बनता है", "एक होते हुए भी वह अनेक रूप से चेष्टा करता है", "तुम परमाऽर्थरूप से एक हो, किन्तु मायावृत्ति का आश्रयण करते हुए अनेक वस्तुओं में अनुप्रविष्ट हो रहा है", "वह परमेश्वर वास्तविक रूप से न उत्पन्न होते हुए ही माया का आश्रयण करके अनेक रूप में अभिव्यक्त हुआ करता है।

महाभारत के मोक्षधर्म में भी इस प्रकार कहा गया है—एक ही सर्वभूतों की आत्मा प्रत्येक प्राणियों में व्याप्त होकर विराजमान रहता है। जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान वही परमेश्वर बिम्बरूप से एक और प्रतिबिम्बरूप से अनेक रूपों में दर्शन का विषय बनता है।''

तथा याज्ञ्यवल्क्य जी भी कहते हैं कि—

''जिस प्रकार एक ही आकाश घट, मठ आदि के उपाधि से उपहित होकर अनेक के समान हो जाता है, तथा इसी प्रकार आकाशस्थ सूर्य के एक होने पर भी विभिन्न प्रकार के जलपरिपूर्ण घट आदि पात्र स्वरूपआधारों में प्रतिबिम्बभाव से आश्रित विभिन्न रूप में दृष्टिगोचर होने वाले एक अखण्ड सूर्य हुआ करता है, उसी प्रकार एक ही अखण्डाऽद्वितीय ब्रह्मस्वरूप आत्मा अनन्त योनियों के मायिक शरीररूप उपाधियों से उपहित हुआ शरीरों के भीतर और बाहर में स्थित हुआ अनेक प्रकार से घटाऽऽदिकों में प्रतिबिम्बभाव से विद्यमान आकाश के समान अनुभवविषय हुआ करता है।

शां० भा० —तथा चाऽऽह परमेश्वरः—

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।

एकः सन् भिद्यते शक्त्या मायया सर्वभावतः ।।इति।।

यस्मादेकस्यैव मायया बहुरूपत्वम्, तस्मात् स एव कारणाऽऽत्मा परमेश्वरः कार्याऽऽत्मानं=जीवाऽऽत्मानं नियुङ्क्ते=कृतप्रयत्नाऽपेक्षः सन् मायया, न परमाऽर्थतः संसरति संसारयति वा। तथा चोक्त कावषेयगीतासु—

''न जायते न म्रियते न बध्यो न च घातकः।

न बद्धो बन्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः ।।

पुरुषः परमाऽऽत्मा तु यत्ततोऽन्यदसच्च तत् ।।इति।।''

तथा चाह भगवान् परमेश्वरः—

''अहं प्रशास्ता सर्वस्य मायाऽतीतस्वभावतः।''

''न चाऽप्ययं संसरति न च संसारयेत् प्रभुः।'' इति।।

किञ्च मायानिमित्ते भेदेऽभ्युपगम्यमानेऽस्य परमाऽऽत्मनः कार्यकारणाऽऽत्मना अवस्थितस्याऽपि आधिक्यं=स्वरूपाऽऽधिक्यं नाऽपैति किञ्चित् किञ्चिदपि, मायाऽऽत्मकत्वात् संसारस्य पूर्ववत् कूटस्थ एव भवतीत्यर्थः। यस्मादेवं तस्मादनादियोगेनाऽनाद्यविद्यायोगेन भवन्ति पुंसः=पुमांसो=जीवा बहवो भवन्ति ॥

अथवा पुंसः=पुरुषस्य पूर्णस्य परमाऽऽत्मनो या माया अनादिसिद्धा तद्योगे बहवो

भवन्ति। तथा चैतत् सर्वमनुगीतासु स्पष्टमाह भगवान्—

"अज्ञानगुणरूपेण तत्त्वरूपेण च स्थितम्।
ममत्वे यदि संसारो नोच्छिद्येत कथञ्चन।।
अविद्याशक्तिसम्पन्नः सर्वयोनिषु वर्त्तते।
तत्त्याज्यं सर्वविदुषां मोहनं सर्वदेहिनाम्।।
तन्नाशेन महानात्मा राजते नाऽत्र संशयः।
अहङ्कारस्य विजये ह्यात्मा सिद्धो भविष्यति।।
सिद्धे चाऽऽत्मनि निर्दुःखी पूर्णबोधो भविष्यति।
पूर्णबोधं पराऽऽनन्दमनन्तं लोकभावनम्।।
भजत्यव्यभिचारेण परमाऽऽत्मानमच्युतम्।
तद्भक्तस्तत् प्रसादेन ज्ञानाऽनलसमन्वितः।।
अखिलं कर्म दग्ध्वाऽन्यैर्विष्णवाख्यममृतं शुभम्।
प्राप्नोति सर्वसिद्धाऽर्थमिति वेदाऽनुशासनम्।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार से भगवान् परमेश्वर ने भी कहा है—"आत्मा नित्य, सर्वगत, कूटस्थ तथा अखिल दोषों से रहित है। उसके एक होने पर भी मायावश वह अपने समस्त जागतिकभाव पदार्थों की दृष्टि से मायाशक्ति से भिन्न हो जाता है।" जिस कारण से एक ही ब्रह्म की, माया के द्वारा अनेकता सिद्ध होती है, इसलिए वह कारणस्वरूप परमेश्वर ही कार्यस्वरूप जीवाऽऽत्मा को, उसके किये हुए पूर्व कर्म की अपेक्षा रखते हुए, माया से प्रेरित किया करते हैं। इस प्रकार वह परमेश्वर पारमार्थिकरूप से न तो स्वयं जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है और न ही स्वाऽतिरिक्त जीवाऽऽत्मा को ही जन्म-मृत्यु को प्राप्त कराता है। इसी प्रकार कावषेय गीता में भी कहा गया है—

"परमपुरुष परमाऽऽत्मा न तो जन्म ग्रहण करता है, न मृत्यु प्राप्त करता है, न किसी के द्वारा वह मारा जाता है, और न ही किसी को मारता है, न वह बन्धन में आता है और न किसी को बाँधने वाला ही होता है, न स्वयं मुक्त है और न दूसरे को मुक्ति देने वाला होता है। तथा जो कुछ उससे भिन्न है वह असत् है।" तथा भगवान् परमेश्वर कहते हैं कि—मैं मायाशक्ति से समस्त जगत् का नियन्त्रक हूँ, किन्तु वास्तविकरूप में माया से सर्वथा निर्लिप्त होकर विराजमान हूँ। वहाँ पर यह भी कहा गया है कि—"माया सम्पर्क से सर्वथा रहित प्रभु न तो स्वयं संसार को प्राप्त होता है और न किसी अन्य (जीव) को ही संसारसम्बन्ध कराता है।"

इस प्रकार से माया निमित्त से कार्य-कारणाऽऽत्मकस्थितिहेतुक भेद स्वीकार किये जाने पर कार्यकारणरूप में दो प्रकार से परमाऽऽत्मा के स्थित होने की दशा में भी इस परमात्मा की अधिकता, अर्थात् स्वरूपगत महत्ता की स्वल्पमात्रा में भी हानि नहीं होती है । इसका अभिप्राय यह है कि जागतिक सृष्टि के मायिक होने के कारण यथा भ्रम से रस्सी में सर्प की उपस्थिति होने पर भी भ्रमकार्य के उपादानभूत रस्सी में कार्योत्पत्तिप्रयुक्त न्यूनता उपस्थित नहीं होती है, उसी प्रकार यह ब्रह्म भ्रमजन्य जगत्कार्य के उपादानस्वरूप होने पर भी इनके स्वरूप में कूटस्थता (नित्यता) निर्विकारता आदि में किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है । जिस कारण से आविद्यकजगत् की ब्रह्म से उत्पत्ति होने पर भी वास्तविकरूप में ब्रह्म अद्वितीय, निर्विकार ही रहता है इसीलिए अनादियोग से अर्थात् अनादि, अविद्या के योग से जीव अनेक हो गये हैं ॥

अथवा पुंसः=पूर्ण पुरुष की, अर्थात् परमाऽऽत्मा की जो अनादिसिद्धामाया है उस परमाऽऽत्मसम्बन्धीमाया के योग से अनेक जीव हो जाते हैं । उस विषय को समस्त रूप से अनुगीता में स्पष्टरूप से श्री भगवान् ने इस प्रकार से कहा है—

''ममता के रहने की दशा में यह संसार अज्ञान द्वारा उत्पन्न हुआ हो, अथवा वास्तविकरूप से, अर्थात् तात्त्विकरूप से उत्पन्न हुआ हो, किसी भी प्रकार से ममतामूलक संसार नष्ट नहीं हो सकता है ।

प्राणी अविद्यारूपी शक्ति से समन्वित होकर ही सभी योनियों में रहता है । अतः सभी योनियों के शरीरधारी आत्मज्ञविद्वानों को मोहकारिणी उस अविद्या का त्याग करना चाहिए । उस अविद्यामय अहंकार का नाश होने से सर्वव्यापकीभूत आत्मा अतिशय शोभायमान होता है, इस विषय में सन्देह की सम्भावना नहीं । अहंकार पर विजय होने के उपरान्त ही आत्मवस्तु का इतरभिन्नरूप में निश्चय हो पाता है । आत्मवस्तु का निश्चय हो जाने पर पुरुषः दुःखरहित तथा आत्मविषयक साक्षात्कारसम्पन्न पूर्णबोध वाला हो जाता है, वह परमाऽऽनन्दस्वरूप, अनन्त एवं ब्रह्माऽऽदिलोकों की रचना करने वाले अविनाशी परमात्मा को व्यवधान शून्य हुआ भजता है । भगवान् का भक्त उस ब्रह्मज्ञानी की कृपा से ज्ञानरूपी अग्नि से समन्वित हुआ करता है । वह पूर्वोपार्जित समस्त कर्मों को ध्वस्त करके, सर्वविध कामनाओं की प्राप्ति के साथ ही साथ भगवान्विष्णु नामक शुभ अमृततत्त्व को प्राप्त कर लेता है जो सर्वप्रकार के पदार्थों को प्राप्त कराने वाला है, इस प्रकार का अनुशासक वेदवचन है ।

शां० भा०—तथा हि भगवान् परमगुरुः पराशर आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वं दर्शयति—

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमाऽर्थतः ।
तदेवाऽर्थरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ।।
ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे ।।
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानाऽऽत्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ।।
ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाऽब्धिधराऽऽदिभेदाञ्जानीहि विज्ञान विजृम्भितानि ।।
यदा तु शुद्धं निजरूपिसर्वकर्मक्षये ज्ञानमयास्तदोषम् ।
तदा हि सङ्कल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः ।।
वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकरूपम् ।
यच्चाऽन्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत्तथा तस्य कुतो हि तत्त्वम् ।।
मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः ।
जनैः स्वकर्मस्तिमिताऽऽत्मनिश्चयैरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्रवस्तु ।।
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित् क्वचित् कदाचिद् द्विज ! वस्तुजातम् ।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम् ।।
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषदोषाऽऽदिनिरस्तसङ्गम् ।
एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ।।
सद्भाव एष भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतत्तु यत् संव्यवहारभूतमत्राऽपि चोक्तं भुवनाऽऽश्रयं ते ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार से परमगुरु भगवान् पराशर जी ने भी आत्मवस्तु से पृथक् समस्त जागतिकपदार्थों की असत् स्वरूपता (भ्रमविषयता) को इस प्रकार प्रदर्शित किया है—जो पारमार्थिकरूप से अत्यन्त निर्मल ज्ञानस्वरूप परमेश्वर है, वही ज्ञानस्वरूप परमेश्वर भ्रमज्ञान का विषय होता हुआ सांसारिक पदार्थरूप में अवस्थित होता है। यह दृश्यमानजगत् यद्यपि पारमार्थिक (वास्तविक) रूप से एक अखण्डज्ञानस्वरूप ही है, तथापि इस ज्ञानाऽऽत्मक अखिल संसार को अज्ञानीजन घट-पटाऽऽदिस्वरूप अर्थ के आकार में अनुभव करता हुआ एवं मोहाऽन्धकाररूपी जल में डूबता हुआ सा भ्रमित

होता रहता है, अर्थात् आत्माऽनुभवविहीनपुरुष प्रकाशाऽऽत्मा का निजरूप में अनुभव न कर आत्मभ्रमजन्य नानारूपाऽऽत्मकजगत् को रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि के समान भ्रमविषय के रूप में स्थित घट-पटाऽऽदिस्वरूप सांसारिक वस्तु का अनुभव किया करता है, जिसके कारण भ्रान्तपुरुष अज्ञानाऽऽत्मक बाढ़ में बहता हुआ भटकता रहता है, किन्तु हे परमेश्वर! जो जीव, ज्ञानी एवं शुद्धाऽन्त:करण वाले हैं, वे समस्त संसार को ज्ञानमय एवं आपका स्वरूप ही प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं। क्योंकि यह जगत् ज्ञानस्वरूप विश्वमूर्ति भगवत्रूप ही है उससे भिन्न घट-पटाऽऽदिवस्तुस्वरूप नहीं हैं इसलिए तुम पर्वतों, समुद्रों तथा पृथिवी आदि के भेदों से भिन्न हुए इन वस्तुओं को विज्ञानाऽऽत्मक परमेश्वर का ही विवर्तस्वरूप कार्य समझो। जिस समय समस्त पूर्वजन्मार्जित संसारबन्धन कारक कर्मों का विनाश हो जाता है सर्व पापपुण्याऽऽत्मक कर्मविनाश की स्थिति आने पर प्राणी का भोगलोकाऽऽत्मक यह संसार दोषरहित, अपना विशुद्ध आत्मस्वरूप निर्मलज्ञानरूप हो जाता है, संसाराऽवस्था में होने वाले संकल्प वृक्ष के फलस्वरूप एक वस्तुओं में अपर वस्तुओं के जो भेद पाए जाते हैं, वे भेद ज्ञानकालिकअवस्था में प्रविष्टि पाए जनों के नहीं होते हैं। जो आदि, मध्य एवम् अन्तरहित एवं निरन्तर एकस्वरूप है, इस प्रकार की वह कौन सी वस्तु है? और किस आधार में विराजमान है? हे ब्राह्मण! और जो अपने पूर्वस्वरूप से च्युत होकर भिन्नस्वरूप हो जाया करता है, और पुन: अपने पूर्वकालिक स्वरूप को प्राप्त नहीं हो पाता है, उन वस्तुओं में वस्तुत्वस्वरूप वास्तविकत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकता है?, अर्थात् वह प्रमाज्ञान का विषयस्वरूप सत्य कैसे सिद्ध हो सकता है? अनादिकालिक निज पाप-पुण्याऽऽत्मक कर्मों के कारण जिन व्यक्तियों के आत्मविषयकनिश्चय तिरोहित हो चुके हैं, उन मनुष्यों के द्वारा पृथिवी घटाऽऽकार रूप में अनुभवविषय बनती है। पुन: घट से कपालिका, कपालिका से चूर्ण और चूर्ण से अणुरूप ज्ञात हुआ करता है। किन्तु यहाँ पर इसको बताओ कि इन परिवर्तनशील वस्तुओं में परमाऽर्थस्वरूप वस्तु क्या है? अर्थात् घट से लेकर चूर्ण पर्यन्त तक एक मृत्तिका ही वास्तविकरूप से सत्य है।

इस कारण से हे ब्राह्मण! विज्ञान से व्यतिरिक्त कहीं पर भी किसी भी अवस्था में कोई भी वस्तु का समुदाय वास्तविक रूप से नहीं होता है। एक विज्ञान ही अपने कर्मभेद के कारण विभिन्नरूप में परिणत हुए चित्तों के द्वारा अनेकरूपता को प्राप्त हो रहा है।

वह ज्ञान विशुद्ध, निर्मल, नि:शोक, निखिल दोषों आदि के सम्बन्ध से विवर्जित अद्वैतस्वरूप सभी अवस्थाओं में एक परमोत्कृष्ट, संसारदशा में सबका नियन्त्रक वह वासुदेव है, जिससे भिन्न और कुछ भी नहीं है।

उपर्युक्त प्रकार से मेरे द्वारा आपके प्रति सद्वस्तु का कथन किया गया है कि— जिस प्रकार से एकमात्र ज्ञानाऽऽत्मस्वरूप ही सत्य है और ज्ञान से व्यतिरिक्त भ्रमविषयत्वेन भासमान समस्त वस्तु मिथ्या है। यह जो समस्त व्यवहार का हेतुभूत तीनों भुवनों के

अवयवसंस्थान हैं भुवनाऽन्तरवर्ती उन सभी वस्तुओं का भी मेरे द्वारा उपर्युक्त वर्णनों के माध्यम से ही वर्णन कर दिया गया।

शां० भा० — परमाऽर्थतस्तु भूपाल! संक्षेपाच्छ्रूयतां मम।
एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेःपरः।।
जन्मवृद्ध्यादिरहितो ह्यात्मा सर्वगतोऽव्ययः।
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः।।
न योगवान् न युक्तोऽभूत्रैव पार्थिव योक्ष्यति।
तस्याऽऽत्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि तत्।।
विज्ञानं परमाऽर्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः।
तदेतदुपदिष्टं ते संक्षेपेण महामते!।।
परमाऽर्थसारभूतं यत्तदद्वैतमशेषतः।
सितनीलाऽऽदिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः।।
भ्रान्तदृष्टिभिरात्माऽपि तथैकःसन् पृथक्कृतः।
एकः समस्तं यदिहाऽस्ति किञ्चित्,
तदच्युतो नाऽस्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतत्,
आत्मस्वरूपं त्यजभेद मोहम्।।
इतीरितस्तेन स राजवर्यः,
तत्याज भेदं परमाऽर्थदृष्टिः।
स चाऽपि जातिस्मरणाऽऽप्तबोधः,
तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप।।
ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः,
वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वम्,
यदस्ति यन्नाऽस्ति च विप्रवर्य!।।
विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।
द्रष्टव्यमात्मनस्तस्मादभेदेन विचक्षणैः।।

विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ।।
तद्भावभावमापन्नस्तदासौ परमाऽऽत्मना ।
भवत्यभेदी भेदश्च तस्याऽज्ञानकृतो भवेत् ।।
ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते ।
ज्ञानाऽऽत्मकमिदं सर्वं न ज्ञानाद् विद्यते परम् ।।
विद्याऽविद्ये च मैत्रेय ज्ञानमेवोपधारय ।। इति ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—हे भूपाल! पारमार्थिकस्वरूप का तो संक्षेप से मुझसे श्रवण करो, जो एक, व्यापक, समस्वरूप, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृतितत्त्व से भी सूक्ष्म एवं जन्म, वृद्धि, ह्रास, विनाश आदि परिणामों से रहित सबका आत्मस्वरूप, सर्वत्र उपलब्ध, अव्ययाऽऽत्मा है, उत्कृष्टज्ञानस्वरूप है। हे नृप! इस प्रकार का वह सर्वदेश-काल-वस्तु-व्यापक परमाऽऽत्मा, असत्स्वरूप नाम-जाति आदि उपाधियों के साथ न तो योगवाला, वर्त्तमानकाल में है, न उनसे युक्त था और आगे कभी होने वाला होगा। वह परमाऽऽत्मा अपने और अन्य सबके शरीर में रहते हुए भी एक अखण्डस्वरूप ही हुआ करता है। यह परमार्थिक रूप से विज्ञानरूप है, द्वैतवादी तो असत्यदृष्टिवाले हैं। हे महामते! उस परोक्षभूत इस आत्मा का तुम्हारे प्रति संक्षेप से उपदेश दिया गया। जो परमाऽर्थ का सारभूत है,वह सर्वथा अद्वैतस्वरूप आत्मा ही है, जिस प्रकार एक ही आकाश, श्वेत एवं नील आदि रूपों के भेद से भ्रमज्ञान का विषय होकर विविधरूप में प्रतीत हुआ करता है। उसी प्रकार भ्रान्तदृष्टिवाले मनुष्यों के द्वारा आत्मवस्तु के एक होने पर भी, उसको अपनी भ्रान्तिवश अनेक रूपों में विभक्त कर रखा है। इस संसार में जो कुछ है,वह सभी वस्तु वास्तव में अच्युतस्वरूप ही है। उस अच्युत से पृथक् कुछ भी नहीं है। वही अच्युताऽऽत्मा मैं हूँ, वही तुम हो और वही परमेश्वर पुनः सर्वप्राणियों का आत्मस्वरूप है। अतः इस तत्त्व को जानकर तुम भेदाऽऽत्मक अज्ञान का, अखण्डैकाऽऽत्मचिन्तन के माध्यम से परित्याग करो।

भगवान् पराशर जी के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर परमाऽर्थदृष्टिसम्पन्न वह नृपश्रेष्ठ संसाराऽऽत्मभेददृष्टि को अपनी बुद्धि से हटा दिया। इस प्रकार से वह राजा भी पूर्वजन्म की स्मृति के द्वारा अखण्डाऽऽत्मबोध को प्राप्त कर उसी जन्म में अपवर्गाऽऽख्य-मोक्ष को प्राप्त किया।

नक्षत्रों का समूह विष्णुस्वरूप है चतुर्दशभुवन वा अखिलभुवन विष्णुस्वरूप ही है, अरण्य विष्णु है, पर्वत विष्णु है, दिशाएँ विष्णु हैं, नदियाँ विष्णु हैं तथा समुद्र भी

विष्णुरूप है। हे द्विजश्रेष्ठ! इस संसार में जो कुछ भी है एवं जो कुछ नहीं है, वे सबके सब केवल विष्णुस्वरूप ही है। यह निखिल संसार सर्वस्वरूप विष्णु का ही विस्तारमात्र है। अत: विवेकसम्पन्न विद्वानों के द्वारा उस विष्णुस्वरूप आत्मा से अभेदरूप में यावत् चेतन-अचेतन स्वरूप संसार को देखा जाना चाहिए।

भेदोत्पादकअज्ञान के सर्वथा नष्ट हो जाने के उपरान्त अपनी आत्मा और ब्रह्म के मध्य अविद्यमान मिथ्याभूत भेद की बुद्धि कौन विवेकशील उत्पन्न करेगा?, क्योंकि विशुद्ध आत्मविज्ञान की लब्धिदशा में, अर्थात् विद्यासम्बन्ध की प्राप्तिवेला में यह जीवाऽऽत्मा स्वरूप से अभिन्न हो जाता है। इस प्रकार जब जीवाऽऽत्मा का परमाऽऽत्मा के साथ वास्तविक भेद होता नहीं, किन्तुं भ्रमज्ञानमूलक ही भेद हुआ करता है, तो अविद्या दशा में उस भेद की भ्रामक सत्ता भले ही प्रतीत हो, किन्तु विद्याऽवस्था में दोनों की अभिन्नता की दशा ही प्रकट हुआ करती है। इस प्रकार भेदविषय अज्ञानकल्पित ही पर्यवसित होता है।

तत्त्वज्ञान ही नित्यमुक्तस्वरूप परब्रह्म है, तथा भेद को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही संसार बन्धन का कारण हुआ करता है। यह चराऽचर दृश्यमान जगत् ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञानाऽऽत्मक ब्रह्म से भिन्न इस संसार में कुछ भी नहीं है। हे मैत्रेय! विद्या और अविद्या—इन दोनों को ज्ञानरूप में ही निश्चय किया जाना चाहिए।

शां० भा०—तथा चैतत् सर्वं स्पष्टमाह भगवान् सनत्सुजातो ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयगीताप्रसङ्गे—

वेदान् पठध्वं विधिवद् व्रतानि,
कृत्वा विवाहं च मखैर्यजध्वम्।
उत्पाद्य पुत्रान् वयसो विरामे,
देहं त्यजध्वं नियतास्तपोभि: ।। इति ।।
किमद्य नश्चाऽध्ययनेन कार्यम्,
किमर्थवन्तश्च मखैर्यजाम: ।।
प्राणं हि वाऽप्यनले जोहवीम:,
प्राणाऽनले जोहवीमीति वाचम् ।। इति ।।

कृतकृत्यत्वेन यज्ञाऽऽद्यनुष्ठानेनाऽऽत्मन: प्रयोजनाऽभावं दर्शयित्वा "स्वर्गात्तु वेश्यागृहसन्निवेशात् पुण्यक्षयाऽन्ते पतनं स्यादवश्यम्। मनुष्यलोके विजरा विदु:खम्..." इति यज्ञाऽऽदिसाध्यस्य लोकस्याऽनित्यत्वाऽऽदिदोष दुष्टत्वेन हेयत्वं दर्शयित्वा यजुर्वेदोपनिषदि "सत्यं परं परम्" इत्यारभ्य सत्यादीनां माहात्म्यं दर्शयित्वा "न्यास:" "तानि वा एतान्यवराणि तपाँसि न्यास एवाऽत्यरेचयत्' इत्यन्तेन नित्यसिद्धनिरतिशयाऽऽनन्दब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य तत्साधनत्वेनाऽपरादनित्यफलसाधनाद् यज्ञाऽऽदे: सर्वस्मादुत्कृष्टत्वं संन्यासस्योक्तं

तत्रैव श्रूयते—

न कर्मणा न प्रजया धनेन,
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायाम्,
विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ।।
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चिताऽर्थाः,
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु पराऽन्तकाले,
परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।। इति ।।

तथा च बृहदारण्यके सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति—एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।'' इति ।

शां० भा०—तथा च भगवान् वासुदेवः सर्वकर्मसन्न्यासं दर्शयति—

निराशीर्यतचित्ताऽऽत्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्विषम् ।।
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वाऽऽरम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।
मानाऽपमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्राऽरिपक्षयोः ।
सर्वाऽऽरम्भ परित्यागी गुणाऽतीतः स उच्यते ।।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जिताऽऽत्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाऽधिगच्छति ।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। इति ।।

तथा चाऽनुगीतासु कर्मणि प्रयोजनाऽभावं दर्शयति भगवान्—

नैव धर्मी न चाऽधर्मी न चैव हि शुभाऽशुभी ।
यः स्यादेकाऽऽसने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन् ।। इति ।।
प्रवृत्तिलक्षणोयोगो ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ।। इति ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार भगवान् सनत्सुजात जी ने ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत कावषेयगीता के प्रसङ्ग में उपर्युक्त विचार से सम्बन्धित समस्त विषयों को स्पष्टरूप से इस प्रकार कहते हैं—मानव प्रथम वेदाऽध्ययन करें, पुन: शास्त्र के नियमाऽनुसार ब्रह्मचर्याऽऽदि व्रत का आचरण करते हुए विवाह करें, विवाह के अनन्तर शास्त्राऽज्ञानुसार यज्ञाऽनुष्ठान करें, अनन्तर पुत्र को उत्पन्न करके आयु के अन्तिम चरण में तपस्या आदि के माध्यम से आत्मविषयक अनुसन्धान में नियुक्त हुए शरीर का त्याग करें। इसी प्रकार एक यजुर्वेदीय उपनिषद् कहा गया है कि—अब हम लोगों को वेदाऽध्ययनाऽऽदि से क्या काम है, किस प्रयोजन से युक्त होकर हम यज्ञों को सम्पादित करें, तथा किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुन: प्राणवायु को अग्नि में हवन करें तथा प्राणवायुरूपी अग्नि में वाणी का हवन करें। इस प्रकार व्यक्त किये हैं। एवं ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से कृतकृत्य हो जाने के कारण यज्ञों के सम्पादन से प्रयोजनाऽभाव को दिखाकर, 'जो कामभोग को प्राप्त कराने वाले वेश्या के घर के सदृश है उस स्वर्गलोक से पुण्य नाश होने के उपरान्त अवश्य ही पतन होगा....'' इस प्रकार अनित्यत्वाऽऽदि दोषों से दूषित होने के कारण यज्ञाऽऽदिकों से सिद्ध होने वाले लोकों के हेयत्व=त्याज्यत्व को दर्शाया गया है। पुन: ''सत्यं परं परम्'' इस वाक्य से आरम्भ करके ''तानि वा एतान्यवराणि तपाँसि न्यास एवाऽत्यरेचयत्'' इस वाक्य तक नित्यसिद्ध एवं निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के साधनस्वरूप सन्न्यास जो ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं, उन साधनों से सर्वथा भिन्न अनित्यभूतसंसाराऽऽत्मक फल के साधन यज्ञ आदि हैं उन सभी साधनों से श्रेष्ठरूप में सन्न्यास के साधकीभूत साधनों को कहा गया है। यह बात वहीं पर सुनी जाती है।

वहीं ऐसी श्रुति भी है—ज्ञानी त्यागशील जन न कर्म से, न संतति से, अथवा न धन के द्वारा ही अमरत्व रूप मोक्ष को प्राप्त किये हैं, अपितु आत्मज्ञानमूलक त्याग से ही अमृतत्व प्राप्त किये हैं। वह परमोत्कृष्ट स्वर्गीय पद बुद्धिरूप गुहा में छिपा हुआ विराजमान रहता है, जिसमें योगीजन प्रवेश करते हैं। जिन्होंने वेदान्तसम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान के द्वारा वस्तु का सम्यक् प्रकार से निश्चय कर लिया है, तथा जो योगीजन संन्यासयोग से शुद्धचित्त हो गए हैं, वे सब कल्प का अन्त होने पर ब्रह्मलोक में उस परामृत को पाकर सब प्रकार से मुक्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार बृहदारण्यक में भी सम्पूर्ण कर्मों का त्याग दिखलाते हैं—''इस आत्मा को जान-समझ कर ब्रह्मवेत्ता लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से उठकर फिर भिक्षाटन करते हैं।

इसी क्रम में भगवान् वसुदेवनन्दन ने भी समस्त कर्मों का परित्याग ही दिखलाया है—''जो सब प्रकार की कामनाओं से रहित, संयतचित्त और सब प्रकार के संचय को

छोड़ने वाला है, वह पुरुष केवल देहयात्रार्थ कर्म करता हुआ भी दोषग्रस्त नहीं होता है। मेरा जो भक्त सभी प्रकार की अपेक्षाओं से रहित, पवित्र, कुशल, उदासीन, संतापशून्य और सब प्रकार के आरम्भ का त्याग करने वाला है, वह मुझे प्रिय है। जो न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न किसी प्रकार की इच्छा करता है एवं सब प्रकार के शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग करने वाला और मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। जो मान और अपमान में समान रहता है, शत्रु और मित्र दोनों पक्षों में तुल्य है तथा सब प्रकार के आरम्भों का त्याग करने वाला है, वह गुणातीत कहा जाता है। जिसकी बुद्धि सब जगह अनासक्त है तथा जो जितेन्द्रिय और निःस्पृह है, वह पुरुष संन्यास के द्वारा उत्कृष्ट नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। सब धर्मों को त्याग करे तू एकमात्र मेरे शरण हो जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक न कर।" इत्यादि।

इसी प्रकार अनुगीता में भी भगवान् आत्मनिष्ठ मनुष्य के लिए कर्म में प्रयोजन का अभाव दिखलाते हैं—"जो एक आसन में कुछ भी चिन्तन न करता हुआ चुपचाप आत्मा में लीन हो गया है, वह न धर्मवान् है, न अधर्मवान्, तथा न शुभकर्म करने वाला है, न अशुभ कर्म करने वाला।" तथा यह भी कहा है—"योग प्रवृत्तिरूप है और ज्ञान निवृत्तिरूप। अतः ज्ञान हो जाने पर बुद्धिमान् को इस लोक में संन्यास अर्थात् विसमत्व का त्याग कर देना चाहिए।"

शां० भा०—तथा च शान्तिपर्वणि शुकं प्रत्युपदिष्टवान् भगवान् व्यासः—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥
एषा वै विहिता वृत्तिः पुरस्ताद् ब्रह्मणा स्वयम्।
एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः॥
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम्।
तद्भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा॥ इति॥

तथा च सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति भगवान् नारदः—

संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विपुलं तपः।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव हि॥
शक्यं त्वेकेन मुक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः।
पिण्डमात्रमुपाश्रित्य चरितुं सर्वतोदिशम्॥

हित्वा गुणमयं पाशं कर्म हित्वा शुभाशुभम् ।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः ।।

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः ।

अशोकस्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ।। इति ।।

तथा शान्तिपर्व में भगवान् व्यास ने शुकदेव जी को इस प्रकार उपदेश किया है— "जीव कर्म के द्वारा ही बन्धन में पड़ता है एवं ज्ञान से मुक्ति को प्राप्त करता है। इसलिए तत्त्वज्ञानी योगीजन कर्म में प्रवृत्त नहीं होते। पूर्वकाल में स्वयं ब्रह्माजी ने ही इस वृत्ति का विधान किया है। प्राचीन सत्पुरुष महर्षियों ने भी इसका अनुष्ठान किया है, जो सर्वोत्तम पारिव्राज्य, अर्थात् आत्मज्ञानियों के द्वारा प्राप्त होने योग्य आत्मस्वरूप (ब्रह्मात्म-स्वरूप) रूप उत्तमस्थान है, उस ओर प्रवृत्त होना चाहिए। अतः तुम इसी प्रकार अभ्यास करके इसी में स्थित हो जाओ एवं वेदान्त श्रवण करो।"

तथा भगवान् नारद भी समस्त कर्मों का संन्यास ही प्रदर्शित करते हैं—"सारे कर्मों को त्यागकर, महान् तप को भी त्यागकर, विभिन्न प्रकार की विद्याओं को त्यागकर, तथा अन्य सभी का त्याग करके, सभी प्रकार से मुक्त और कृतकृत्य हुए पुरुष को केवल शरीरमात्र का आश्रय लेना चाहिए। गुणकृत बन्धन को काटकर, शुभ एवं अशुभ कर्मों से मुक्त होकर एवं सत्य तथा मिथ्या दोनों का त्यागकर सब दिशाओं में अकेले ही विचरण करना चाहिए। इस प्रकार के आचरण से वह निर्गुण हो जाता है। हे तात! परिग्रह का त्याग कर तुम जितेन्द्रिय बनो, तथा इस लोक एवं परलोक में शोकहीन, तथा भयशून्य स्थान पर स्थित हो जाओ।"

इसी प्रकार—

शां० भा०—तथा च सर्वकर्मसंन्यासिन एव ज्ञानेऽधिकारः,

नेतरस्येत्याह भगवान् बृहस्पतिः—

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतः सुखी ।

रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानमाप्नुयात् ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—तथा, "इन्द्रियों का विषयों में लिप्त होने के कारण मनुष्य दुःखी होता है एवं संयत हो जाने पर उन्हीं इन्द्रियों के द्वारा वह सुख को प्राप्त करता है। राग से युक्त मनुष्य प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है और विरक्त मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है।" इस वाक्य द्वारा भगवान् बृहस्पति ने भी यही कहा है कि सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करने वाले का ही ज्ञान में अधिकार है, अन्य किसी का नहीं।

शां०भा०—तथा चाश्वमेधिके ब्रह्मणा सम्यगुक्तं मुनीन् प्रति सर्वाश्रमिणां सर्वकर्म-संन्यासेऽधिकार इति—

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ वा पुनः ।

य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ।।

एतत्तु ब्राह्मणं वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ।

एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः ।। इति ।।

यस्मादेवं तस्माद्विदुषो मुमुक्षोश्च सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारः ।।१/२०।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार आश्वमेधिकपर्व में ब्रह्माजी ने भी मुनिजनों के प्रति सभी आश्रमों वालों का सर्वकर्म-संन्यास में अधिकार बतलाया है—"गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो, या वानप्रस्थ हो, जो मोक्ष के पद पर स्थित, अथवा आसीन होना चाहता हो, उसे भिक्षारूप उत्तम वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए। इसी को "ब्रह्मवेत्ताओं का आचार" कहा गया है, यही ऐकान्तिक सुख है, यही विरक्तों की गति है, एवं यही सनातन धर्म है।"

क्योंकि ब्रह्मज्ञानी के विषय में इसी प्रकार का आचरण शास्त्र में कहा गया है, इसलिए ज्ञानी तथा मोक्षकामी का सर्वकर्मसंन्यास में ही अधिकार है।

शां०भा०—एवं तावदेकस्यैव पारमात्मनोऽनादिमायायोगेन बहुरूपत्वमुक्तम्। इदानीं यदीश्वरस्य जगत्कारणत्वं तदपि मायोपाधिकमित्याह—

य एतद्वा भगवान् स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम् ।

तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते, तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ।।१/२१।।

अन्वयः—एतत् वा, यः, भगवान्, स, नित्यः, विकारयोगेन, विश्वं, करोति, च, तथा, तच्छक्तिः, इति, मन्यते स्म, तथा च अर्थयोगे, वेदाः, भवन्ति ।।१/२१।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—एतत् वा=अथवा, यः=जो, भगवान्=ऐश्वर्य सम्पन्न है, स=वह, नित्यः=नित्य स्वरूप हैं, विकारयोगेन=विकार के सम्बन्ध से, विश्वं=विश्व को, करोति=बनाता है, च=और, तथा=उस प्रकार की रचना, तच्छक्तिः=उसकी शक्ति ही है, इति=ऐसा, मन्यते स्म=माना जाता रहा है, तथा च अर्थयोगे=इस शक्तिग्रह के विषय में, वेदाः=वेद भी, भवन्ति=प्रमाण होते हैं ।।१/२१।।

भावाऽर्थप्रभा—भगवान् सनत्सुजात कहते हैं कि नित्य ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा नित्य शाश्वत अविकारी होकर भी, मिथ्याभूत माया के माध्यम से, ईक्षणादिपूर्वक समस्त विश्व का रचना करता है। जगत् की इस रचना को, अथवा जो कुछ भी स्थावर-जंगम दिखलाई पड़ता है, वह उस परमात्मा की शक्ति ही है। माया के सम्बन्ध से ही वह जगत्

का उपादान कारण है, वेद भी "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि वाक्यों से इस सिद्धान्त में प्रमाणभूत हैं ॥१/२१॥

शां० भा०—य एतद्वा परमार्थभूतो भगवान् ऐश्वर्यादिसमन्वितः परमेश्वरो नित्यः स विकारयोगेन ईक्षणादिपूर्वकं विश्वं करोतीति, तथा तत्सर्वं तच्छक्तिर्देवात्मशक्तिर्माययैव करोति न परमात्मा अपूर्वादिलक्षण इति स्म मन्ये। न स्वतश्चित्सदानन्दाद्वितीयस्य कारणत्वम्, किन्तु मायावेशवशादित्यर्थः।

भाष्याऽर्थप्रभा—ये जो परमार्थभूत ऐश्वर्यादिसमन्वित भगवान् हैं, वे नित्य परमेश्वर ही विकार के योग से, अर्थात् ईक्षणादिपूर्वक जगत् की रचना करते हैं, तथा इस प्रकार उनकी शक्ति, अर्थात् उसे परमात्मा की शक्ति माया ही यह सब करती है, अपूर्व अनपरादिरूप परमात्मा कुछ नहीं करता—ऐसा मेरा मानना है। तात्पर्य यह है कि उस सच्चिदानन्दाद्वितीय परमात्मा का जगत्कारणत्व स्वतः नहीं है, बल्कि माया का सम्पर्क होने के कारण है।

शां० भा०—किं तर्ह्यस्य तथाभूतशक्तियोगे प्रमाणमिति चेत्, तत्राह—तथार्थयोगे। तस्य परमात्मनो जगदुपादानभूतमायार्थयोगे च भवन्ति वेदाः। तस्य माया सद्भावे वेदाः प्रमाणं भवन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते", "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्", "मायिनं तु महेश्वरम्", "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इति।

तथा चाह भगवान् वासुदेवः—

दैवी ह्येषां गुणमयी मम माया दुरत्यया।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्॥

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्॥ इति॥

तथा च—

माया तवेयमज्ञातपदार्थानतिमोहिनी।

अनात्मन्यात्मविज्ञानं यया मूढोऽधिरोहति॥

इयमस्य जगद्धातुर्माया कृष्णस्य गह्वरी।

धार्यधारकभावेन यया सम्पीडितं जगत्॥

अहो स्म दुस्तरा विष्णोर्माययेयमतिगह्वरी।

यया मोहितचित्तस्तु न वेत्ति परमेश्वरम्॥ इति॥१/२१॥

तो पुन: इस प्रकार की इस शक्ति का योग होने में प्रमाण क्या है? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—उसकी अर्थवत्ता में, अर्थात् जगत् की उपादानभूता परमात्मा की उस माया के अस्तित्व में वेद प्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि उस माया की सत्ता में वेद प्रमाण हैं; जैसा कि श्रुति कहती है—''माया से इन्द्र अर्थात् ईश्वर अनेक रूप होकर चेष्टा करते हैं'', ''इससे मायी परमात्मा इस जगत् की रचना (सृष्टि) करते हैं'', ''मायी को महेश्वर मानें'', ''अपने गुणों से छिपी हुई भगवान् की अपनी शक्ति को'' इत्यादि।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—''मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी दुस्तर है'', ''मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण भूतों का स्वामी होकर भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर, अपनी ही माया से जन्म (प्रकट) होता हूँ'', ''मुझ साक्षी के द्वारा प्रकृति, चराचर को उत्पन्न करती है'' इत्यादि।

तथा ऐसा भी कहा गया है—''जिसके स्वरूप का ज्ञान नहीं है, ऐसी आपकी यह माया अत्यन्त मोह में डालने वाली है, जिसके द्वारा मोहित हुआ पुरुष अनात्मा में आत्म-बुद्धि कर बैठता है। यह इस जगद्विधाता भगवान् श्रीकृष्ण की रहस्यमयी माया ही तो है, जिसके प्रभाव से संसार आश्रित और आश्रयभाव को प्राप्त होकर पीड़ित हो रहा है। अहो! भगवान् श्रीकृष्ण की यह माया अत्यन्त रहस्यमयी एवं दुस्तर है, जिससे मोहित-चित्त हुआ प्राणी परमात्मा को नहीं जानता'' ॥१/२१॥

धर्म और अधर्म में कौन किसका घातक है?

एवं तावत् ''प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि'' इत्यादिना मृत्यो: स्वरूपं तस्य कार्यात्मनावस्थानं तन्निमित्तं चानेकार्थं दर्शयित्वा केन तर्ह्यस्य विनाश इत्याशङ्क्य 'एवं मृत्यु जायमानम्'' इत्यादिना आत्मज्ञानादेवाभयप्राप्तिं दर्शितां श्रुत्वा प्रासङ्गिके चोद्यद्वये परिहृते, कर्मस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्र:—

इस प्रकार यहाँ तक ''प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि'' इत्यादि वाक्य से मृत्यु का स्वरूप बताकर फिर उसकी कार्यरूप से स्थिति और उससे होने वाले बहुत से अनर्थ दिखाए गये। उसमें ''तो फिर इसका नाश किससे होगा'' ऐसी शंका करके ''एवं मृत्यम्'' (इस प्रकार मृत्यु को अज्ञान से उत्पन्न होने वाला समझकर ज्ञानस्वरूप से स्थित हुआ मनुष्य पुन: मृत्यु से नहीं डरता) इत्यादि वाक्य द्वारा आत्मज्ञान से ही दिखलायी हुई अभयप्राप्ति के विषय में तात्त्विक विचार को सुनने के पश्चात् प्रसङ्गत: प्राप्त दो शङ्काओं के निराकृत हो जाने पर भी कर्म का स्वरूप जानने हेतु धृतराष्ट्र ने कहा—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

यस्माद्धर्मनाचरन्तीह केचित् तथाधर्मान् केचिदिहाचरन्ति।

धर्म: पापेन प्रतिहन्यते वा उताहो धर्म: प्रतिहन्ति पापम्॥१/२२॥

अन्वयः—केचित्, इह, धर्मान्, आचरन्ति, तथा, केचित्, इह, अधर्मान्, आचरन्ति, यस्माद्, पापेन, धर्मः, प्रतिहन्यते, वा, धर्मः, पापम्, प्रतिहन्ति ॥१/२२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—केचित्=कुछ लोग, इह=इस जगत् में, धर्मान्=धर्मों का, आचरन्ति= आचरण करते हैं, तथा=उसी प्रकार, केचित्=कुछ लोग, इह=संसार में, अधर्मान्= अधर्मों का, पाप का, आचरन्ति=आचरण करते हैं, यस्माद्=जिस कारण से, पापेन धर्मः प्रतिहन्यते=पाप से धर्म नष्ट हो जाता है?, वा=अथवा, धर्मः=यागादिस्वरूपधर्म, अथवा यागादिजन्यधर्म, पापम्=पाप को, प्रतिहन्ति=नष्ट कर देता है ॥१/२२॥

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र ने पूछा—हे सनत्सुजात! इस लोक में कुछ प्राणी धर्म का आचरण करते हैं और कुछ अधर्म का। मुझे यह जानने की इच्छा है कि उन दोनों का परिणाम क्या है? क्या धर्म से पाप अभिभूत होता है, अथवा पाप से धर्म प्रतिहत होता है?

शां० भा०—यस्माद् धर्मान् अग्निहोत्रादीन् आचरन्ति इह लोके केचित् तथा अधर्मान् इह आचरन्ति। किं तेषां धर्मः पापेन प्रतिहन्यते? उताहो स्विद् धर्मः प्रतिहन्ति पापम्? अथवा तुल्यबलेनान्यतरेणान्यस्य विनाशः? इति ॥१/२२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस प्रकार इस लोक में कोई मनुष्य अग्निहोत्रादि धर्मों का आचरण करता है और कोई मनुष्य पापाचारण करता है, तो क्या उनका धर्म पाप से पराजित हो जाता है? अथवा धर्म ही पाप को पराजित कर देता है? अथवा समान शक्ति वाले होने से किसी भी एक से दूसरे का पराभव हो जाता है? ॥१/२२॥

अज्ञानी को दोनों का फल भोगना होता है; किन्तु आत्मज्ञानी के द्वारा सम्पादित ज्ञानाग्नि से दोनों नष्ट हो जाते हैं।

शां० भा०—अविदुष उभयोरनुभव एव नान्यतरेणान्यतरस्य विनाशः। विदुषः पुनरुभयोरपि ज्ञानाग्निना विनाश इत्युत्तरमाह—

इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं कि अज्ञानी को तो धर्म और अधर्म इन दोनों का केवल अनुभव ही हुआ करता है, किसी भी प्रकार से इन दोनों में परस्पर एक से दूसरे का नाश नहीं होता; किन्तु विद्वान् पुरुष से सम्बन्धित इन दोनों ही प्रकार के सांसारिक सुख-दुःख कारणीभूत धर्माऽधर्मों का ज्ञानाग्नि से नाश हो जाता है।

मू०—सनत्सुजात उवाच—

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम्।
यथान्यथा पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥१/२३॥

अन्वयः—तस्मिन्, स्थितः, अपि, विद्वान्, हि, उभयम्, नित्यम्, ज्ञानेन, प्रतिहन्ति, अन्यथा, देही, यथा, आगत,पुण्यं, उपैति, तथा, पापम् ॥१/२३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तस्मिन्=उस पाप-पुण्य में, स्थितः=रहता हुआ, अपि=भी, विद्वान्= ज्ञानी, हि=निश्चय ही, उभयम्=पाप और पुण्य दोनों को, नित्यम्=सर्वदा, ज्ञानेन=ज्ञान द्वारा, प्रतिहन्ति=नष्ट कर देता है, यह बात, सिद्धम्=सिद्ध है, अन्यथा= अज्ञानवश, देही=देहाभिमानी, जीवात्मा,यथा=जैसे, आगतम्=भविष्य के, पुण्यं=पुण्य को, उपैति=प्राप्त करता है,तथा=उसी प्रकार, पापम्=पाप को भी, (उपैति=प्राप्त किया करता है।) ॥१/२३॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात ने कहा, राजन्! उस पाप-पुण्य मे स्थित रहता हुआ ज्ञानी अपने ज्ञान द्वारा दोनों को ही नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह है कि धर्म और अधर्म अर्थात् पाप और पुण्य दोनों ही अज्ञानजनित हैं। अज्ञान के रहते हुए ही इनकी सत्ता रहती है। परन्तु आत्मज्ञान से देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर देहाभिमानजनित पाप-पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं। आत्मकल्याण का परम पुरुषार्थ ज्ञान ही है। उसके अभाव में देहाभिमानी जीवात्मा भविष्य के धर्म और अधर्म के फलस्वरूप पुण्य और पाप को प्राप्त करता है ॥२३॥

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

तस्मिन्=पुण्यापुण्यात्मके कर्मणि स्थितोऽपि=कुर्वन्नपि उभयं=पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म नित्यं=नियमेन विद्वान् ज्ञानेन प्रतिहन्ति=विनाशयति। कथमेतदवगम्यते ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति? तत्राह—सिद्धं=प्रसिद्धं ह्येतच्छ्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु। तथा च श्रुतिः—"भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादि। "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति, "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति, "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति। "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्" इति। "यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" इति।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् सनत्सुजात ने वक्तव्य दिया—विद्वान् पुरुष उस धर्माधर्मरूप कर्म में स्थित रहने पर भी, अर्थात् धर्माधर्मरूप दोनों प्रकार के कर्म को करते रहने पर भी अपनी ज्ञान-शक्ति द्वारा नित्य-नियमानुसार उसका नाश कर देता है। परन्तु यह कैसे जाना जाता है कि विद्वान् ज्ञान के द्वारा उनका नाश कर देता है? इस बात पर कहते हैं—यह वचन सिद्ध है, अर्थात् श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में प्रसिद्ध है। जैसा कि श्रुति कहती है—"इसके हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है", "जिस प्रकार कमल के पत्ते को जल का स्पर्श नहीं होता", "जिस प्रकार अग्नि में प्रवेश कराने से सींक का रोआँ जल जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञानी के सभी

पाप जलकर भस्म हो जाते हैं'', ''इस प्रकार ज्ञानी पुरुष पाप-पुण्य दोनों को मूल से ही समाप्त कर पूर्णतया निर्मल होकर उत्कृष्ट समता को प्राप्त हो जाता है'', ''घोड़ा जिस प्रकार से बालों को झाड़ता है, उसी प्रकार वे ज्ञानीपुरुष ज्ञान के द्वारा पाप-पुण्यरूपी कर्म बन्धन से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाते हैं'' इत्यादि। और ''हे अर्जुन! जिस तरह बढ़ी हुई अग्नि ईंधन को जला देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को, तथा कर्म-बन्धन को भस्म कर देती है।''

शां० भा०—अथान्यथा=ज्ञानविहीनश्चेत् पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति तत्फलं चोपभुङ्क्ते। कथमेतदवगम्यत इति चेत्, तत्राह—सिद्धं=प्रसिद्धं ह्येतदपि श्रुतिस्मृतीतिहास-पुराणादिषु। तथा च श्रुतिः—

''इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेन भूत्वेमं
लोकं हीनतरं वा विशन्ति'' ।।इति।।

''अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।''

इति। तथैव वासुदेवः—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गगतिं प्रार्थयन्ते।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।।इति ।।१/२३।।

भावाऽर्थप्रभा—इसके विपरीत यदि मनुष्य ज्ञान से रहित होता है, तो वह देहधारी जीव पुण्यकर्मानुसार पुण्य प्राप्त करता है, एवं पाप कर्मों के होने पर पाप को प्राप्त होता है और तदनुसार उसका फल भी भोगता है। यदि यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि ऐसा किस प्रकार ज्ञात होता है? तो उत्तर में यह कहते हैं कि यह सिद्ध है अर्थात् यह वक्तव्य भी श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में प्रसिद्ध है। जैसा कि श्रुति कहती है—''अत्यन्त मूर्ख मनुष्य इष्ट और पूर्त्तादि को ही सर्वोपरि और सर्वोत्तम मानकर किसी और श्रेष्ठ कर्म के विषय में कुछ नहीं जानते। वे अपने शुभ कर्मों से स्वर्गलोक में रहकर, फिर इसी लोक में लौट आते हैं, अथवा इससे भी निकृष्टतर लोक में प्रवेश करते हैं।'' ''वे आनन्दशून्य लोक घोर अन्धकार से व्याप्त हैं; जो आत्मघाती अर्थात् अनात्मज्ञ

मनुष्य होते हैं, वे मरने पर उन्हीं लोकों में गमन करते हैं'' इत्यादि। अनात्मज्ञ पुरुषों को प्राप्त होने वाले लोक अज्ञानजनित होने के कारण चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म की अपेक्षा से आनन्दशून्य और अन्धकारपूर्ण बताये गये हैं। इसी सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—''त्रयीधर्म में स्थित हुए सोमपान करने वाले पापहीन पुरुष मेरा यज्ञों से पूजन कर, स्वर्गीय गति के लिए प्रार्थना करते हैं, और वे प्रार्थीजन उस महान् स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर, पुण्य का क्षय होने पर पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं ॥१/२३॥

शां० भा०—किमविदुषोऽनुभव एवोभयोः, उतान्यतरेणान्यतरस्य विनाश इति, तत्राह—

अज्ञानी को इन दोनों का मात्र अनुभव ही हुआ करता है, अथवा इनमें से किसी एक के द्वारा दूसरे का नाश हो जाता है? इस प्रकार का प्रश्न पूछने पर कहते हैं—

गत्वोभयं कर्मणा भुज्यतेऽस्थिरं शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा।

धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो बलीयानिति तस्य विद्धि।। १/२४।।

अन्वयः—स, कर्मणा, शुभ्रस्य, पापस्य, अस्थिरम्, उभयं, गत्वा, भुज्यते, च, अपि, पुनः वही कर्मणा, भ्रमते, इह, धर्मेण पापं, प्रणुदति, तस्य, वलीयान्, इति, विद्धि ॥१/२४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—स=वह, अज्ञानी, कर्मणा=कर्म से, शुभ्रस्य=शुभ पुण्य का एवं, पापस्य=पाप के, अस्थिरम्=क्षणिक, उभयं=दोनों फलों को, गत्वा=प्राप्त करके, भुज्यते=भोग करता है, च अपि=पुनः वही, कर्मणा=पापपुण्यजनक कर्म सं, भ्रमते=कर्मों से भ्रान्त रहता है किन्तु विद्वान्, इह=इस लोक में, धर्मेण पापं=धर्म द्वारा पाप को, प्रणुदति=नष्ट करता है, अतः तस्य=उसका धर्म, वलीयान्=श्रेष्ठ है, इति विद्धि=ऐसा जानो ॥१/२४॥

भावाऽर्थप्रभा—देहाभिमानी अज्ञान के कारण शुभाशुभ करता हुआ दोनों के क्षणिक फलों का उपभोग करता है, अर्थात् धर्माधर्म का आचरण करते हुए, वह पाप-पुण्यरूप कर्मों को प्राप्त करता है। इन कर्मों का क्षय, ज्ञान द्वारा सम्भव है, अन्यथा कर्मों के रहते हुए, वह बार-बार संसारचक्र में फँसता रहता है। परन्तु इन दोनों में धर्म श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुष धर्म का आचरण करते हुए पाप कर्मों का क्षय करता रहता है। इस प्रकार पाप कर्मों के उदय न होने के कारण उसका हृदय अत्यन्त निर्मल होता जाता है और कर्मों में लिप्त नहीं होता। अतः इन दोनों में धर्म श्रेष्ठ है—ऐसा जानना चाहिए। धर्म ज्ञानमार्ग में बाधक नहीं, अपितु वह मुक्ति के लिए मार्ग को प्रशस्त करा देता है ॥१/२४॥

शां० भा०—गत्वा परलोकं प्राप्य उभयं पुण्यापुण्यसाध्यं फलम्, पुण्यापुण्यलक्षणेन

कर्मणा भुज्यतेऽस्थिरम्। श्रूयते च बृहदारण्यके—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति" इति। "अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति।" इति च छान्दोग्ये।

स चापि सोऽपि विद्वान् धर्मेण कर्मणा पापं प्रणुदति=विनाशयति इह लोके विद्वान् वक्ष्यमाणलक्षणो विनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन्। तथा च वक्ष्यति—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या

ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्।

पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चा-

त्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा।।

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-

नथाऽन्यथा स्वर्गफलानुकाङ्क्षी।

अस्मिन् कृतं तत्परिगृह्य सर्व-

ममुत्रभुङ्क्ते पुनरेति मार्गम्।।इति।।

येषां धर्मे च विस्पर्धा न तद्विज्ञानसाधनम्।

येषां धर्मे न च स्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—तथा वह विद्वान् भी, जो, आगे कहे जाने वाले लक्षणों से युक्त, तथा कर्मों का विनियोग जानने वाला है, वह ईश्वर के लिए कर्म करता हुआ इस लोक में, धर्ममय कर्म द्वारा पाप को नष्ट कर देता है। ऐसा ही आगे कहा गया है—"उसके लिए ही ये तप और यज्ञ कहे गये हैं", इनके द्वारा यह विद्वान् पुण्य प्राप्त करता है, और पुनः पुण्य के माध्यम से पाप का नाश कर, वह ज्ञानालोक से प्रकाशित हो जाता है। विद्वान् ज्ञान के द्वारा आत्मा को प्राप्त कर लेता है। नहीं तो वह स्वर्गफल का इच्छुक होकर, इस लोक में किये हुए समस्त कर्मों को लेकर, परलोक में उनके फलों को भोगता है, और पुनः संसार-मार्ग में ही पतित हो जाता है।" तथा "जिनकी धर्म में स्पर्धा होती है, उनके द्वारा सम्पादित धर्म-अनुष्ठान ज्ञान का साधन नहीं हुआ करता; किन्तु जिनकी धर्म में स्पर्धा की भावना नहीं होती, उनके लिए वही धर्मानुष्ठान ज्ञान का साधन हुआ करता है" इत्यादि।

शां० भा०—यश्चैवं विनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठति तस्य विदुषो धर्मः पापाद् बलीयान् इति विद्धि=विजानीहि। तस्य पुनः केवलकर्मिणो न बलीयान्; तस्योभयोरनुभव एव नान्यतरेणा-न्यतरस्य विंनाशः।।१/२४।।

भावाऽर्थप्रभा—अत: जो कर्म का विनियोग जानने वाला पुरुष ईश्वर के लिए कर्म करता है, उस ज्ञानी का धर्म उसके पाप की तुलना में अधिक बलवान् होता है—ऐसा तुम जानो; किंतु जो केवल कर्मी तु, उसका धर्म बलवान् नहीं होता। उस पुरुष को दोनों का अनुभव होता है, किसी एक के द्वारा दूसरे का नाश नहीं होता ॥१/२४॥

अधिकारादि भेद से धर्म की स्वर्गादिसाधनता तथा ज्ञानसाधनता

शां० भा०—केषां तर्हि स्वर्गादिसाधनम्? केषां वा चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनम्? इति, तत्राह श्लोकद्वयेन—

तो फिर, धर्म किनके लिए स्वर्ग आदि की प्राप्ति का साधन है, और किन लोगों के लिए चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान का साधन है? ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर इन दो श्लोकों से उत्तर दिया जाता है—

मू०— येषां धर्मेषु विस्पर्धा बले बलवतामिव।

ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य स्वर्गे यान्ति प्रकाशताम्॥१/२५॥

अन्वय:—येषाम्, बले, बलवताम्, इव, धर्मेषु, विस्पर्धा, ते, इत:, प्रेत्य, स्वर्गे, प्रकाशताम्, यान्ति ॥१/२५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—येषाम्=जिनकी, बले=बल में, बलवताम्=बलवानों के, इव=समान, धर्मेषु=धर्म में, विस्पर्धा=विशेष स्पर्धा है, ते=वे ब्राह्मण, इत:=इस लोक से, प्रेत्य=मृत्यु को प्राप्त होकर, स्वर्गे=स्वर्ग में, प्रकाशताम्=ज्योतिर्मयता को, यान्ति=प्राप्त होते हैं।

भावाऽर्थप्रभा—अब यह दिखा रहे हैं कि एक ही प्रकार का वह धर्माचरण किस प्रकार के साधक को स्वर्गादि प्राप्त कराता है, और किसे परमार्थज्ञान की प्राप्ति में सहायता करता है? जो विषय-परायण हैं, वे स्वर्ग के रमणीय पदार्थों के उपभोग की लालसा से, उसकी प्राप्ति के साधन ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का अनुष्ठान स्पर्धा के साथ करते रहते हैं। वे एक-दूसरे के ऐश्वर्य को देखकर उससे भी अधिक प्राप्त करने के लिए होड़ लगाते हैं। जैसे कि एक शक्तिशाली पुरुष दूसरे के बल को देखकर उससे भी अधिक बलिष्ठ होने की इच्छा रखता है, और उसे जीतकर उसके सुख को प्राप्त करता है। इस प्रकार वे स्पर्धा रखते हुए यज्ञादि कर्मों द्वारा मृत्युलोक से स्वर्ग में जाकर ज्योतिर्मयता को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य है कि वे पुण्यकर्मों के क्षय होने पर पुन: मर्त्यलोक को प्राप्त करते हैं। कहा भी है—

''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'' (गी०)॥१/२५॥

शां० भा०—येषां विषयपराणां स्वर्गादावुर्वश्यादिभोगश्रवणात् तत्साधनभूतज्योति-

ष्टोमादिधर्मेषु विस्पर्धा=संघर्षो वर्तते—अस्मादहमुत्कृष्टतरं धर्मं कृत्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति । बले बलमतामिव, यथा बलवतो राज्ञो बलवन्तं राजानं दृष्ट्वा अहमस्मादपि बलवत्तां सम्पाद्यैनं जित्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति संघर्षो वर्तते तद्वत् । ते फलसङ्गसहिता ब्राह्मणा यज्ञादिकारिण इतः प्रेत्य=धूमादिमार्गेण गत्वा स्वर्गे नक्षत्रादिरूपेण यान्ति=प्राप्नुवन्ति प्रकाशतां प्रकाशम् । श्रूयते च—"अथ य इमे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" इत्यारभ्य "एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" इति । १/२५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जिन विषयपरायण पुरुषों को, "स्वर्ग आदि में निवास करने से उर्वशी आदि भोगों की प्राप्ति होगी"—ऐसा सुनकर उनके साधनभूत ज्योतिष्टोमादि कर्मों में "मैं इससे भी श्रेष्ठ कर्म करके और अधिक सुखी हो जाऊँ"—ऐसी विस्पर्धासंघर्ष रहती है, जैसी कि बलवानों की बल में । कहने का तात्पर्य है कि जिस तरह एक बलशाली राजा किसी दूसरे बलशाली ऐश्वर्ययुक्त राजा को देखकर उसकी ऐसी भावना, स्वभाव व प्रकृतिवश उत्पन्न होती है कि—"मैं इससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न हो जाऊँ, एवं इसे जीतकर इससे भी अधिक सुखी हो जाऊँ" ऐसी परस्पर प्रतिस्पर्धा दोनों ही बलशालियों में हुआ करती है, इसी प्रकार जिन लोगों की धर्मानुष्ठान में होड़ रहती है, वे कर्मफल की आसक्ति से युक्त ब्राह्मण—यज्ञाधिकारी लोग इस लोक में मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तत्पश्चात् धूमादि मार्ग से चलते हुए स्वर्गलोक में पहुँचकर नक्षत्रादिरूप से प्रकाशत्व प्राप्त करते हैं, और इस प्रकार ही "जो वे (कर्मकाण्डी) इसकी इष्ट, पूर्त और दानरूप से उपासना करते हैं, वे धूममार्ग को प्राप्त होते हैं" यहाँ से लेकर "यह प्रकाशमान सोम है, वह देवताओं का भक्ष्य है, उसे देवगण भक्षण करते हैं, वहाँ वे कर्मक्षयपर्यन्त रहकर फिर इसी मार्ग में लौट आते हैं" यहाँ तक श्रुति भी कहती है ॥१/२५॥

मू०— येषां धर्मे न च स्पर्द्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ।।१/२६।।

अन्वयः—येषां, धर्मे, स्पर्धा, न, तेषां, तत्, ज्ञानसाधनम्, इतः, मुक्ताः, त्रिविष्टपम्, स्वर्गम्, यान्ति ॥१/२६॥

अन्वयाऽर्थ—येषां=जिन अनासक्तों की, धर्मे=धार्मिक कर्मों में, स्पर्धा=होड़, न=नहीं है, तेषां=उनके, तत्=वे कर्म, ज्ञानसाधनम्=ज्ञान के साधन हैं, वे ब्राह्मण, इतः=इस लोक से, मुक्ताः=मुक्त होकर, त्रिविष्टपम्=तीनों दुःखों से रहित, स्वर्गम्=पूर्णानन्द को, यान्ति=प्राप्त होते हैं ॥१/२६॥

भावाऽर्थप्रभा—जिन ब्राह्मणों का चित्त विषयों में आसक्त नहीं है, वे अनित्य

फल को देने वाले स्वर्गादि के साधनों में संघर्षरत नहीं रहते। वे फल की कामना से रहित होकर कर्मानुष्ठान करते हैं, जो कर्म चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान के साधनभूत होते हैं। इस प्रकार वे ज्ञान प्राप्त कर इस लोक से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, और आध्यात्मिक, एवं आधिभौतिक, आधिदैविक तापत्रयों से रहित होकर पूर्ण ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाते हैं ॥१/२६॥

शां० भा०—येषां विषयानाकृष्टचेतसामनित्यफलसाधनज्योतिष्टोमादौ धर्मे न च स्पर्धा=संघर्षो न वर्तते, तेषां फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्मानुष्ठानवतां तद् यज्ञादिकं कर्म चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनम्। वक्ष्यति च भगवान् स्वयमेव शुद्धिद्वारेणैव ज्ञानसाधनत्वम्—"पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा" इति। ये यज्ञादिभिर्विशुद्धसत्त्वाः परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्ति, ते ब्राह्मणा इतोऽस्मात्कार्यकारणलक्षणाल्लोकात्प्रेत्य मुक्ताः स्वर्गं सुखं पूर्णानन्दं ब्रह्म यान्ति। इतरतः स्वर्गादस्य वैलक्षण्यमाह—त्रिविष्टपमिति। त्रिभिराध्यात्मिकादितापैः सत्त्वादिभिर्जाग्रदादिभिर्वा विमुक्तं स्वरूपाविष्टं पातीति त्रिविष्टपम्। अथवा, तैर्विष्टमधिकारिणं पातीति त्रिविष्टपम् इति ॥१/२६॥

भाष्याऽर्थप्रभा—विषयों द्वारा जिनकी चित्तवृत्ति आकर्षित नहीं होती, ऐसे जिन पुरुषों को अनित्य फल के साधनभूत ज्योतिष्टोमादि धर्मों में स्पर्धा—संघर्ष नहीं है, उन कर्मफल की अपेक्षा से रहित ईश्वरार्थ कर्म करने वाले ज्ञानीजनों का वह यज्ञादि कर्म चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान का साधन होता है। भगवान् सनत्कुमार के अनुसार, "पुनः वह पुण्य के द्वारा पाप का पराभव करके स्वयं ही ज्ञानरूपी ज्योति से देदीप्यमान हो जाता है।" इस वाक्य से चित्तशुद्धि के द्वारा ही उसके ज्ञानसाधनत्व का वर्णन करेंगे। इस प्रकार जो लोग यज्ञादि द्वारा शुद्धचित्त होकर, परमात्मा को अपने आत्मस्वरूप से जान लेते हैं, वे ब्राह्मणलोग इस कार्यकारणरूप, अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीर से सर्वथा मुक्त होकर, स्वर्ग-सुखस्वरूप पूर्णानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। त्रिविष्टपम्—ऐसा कहकर दूसरे स्वर्ग से उसकी विलक्षणता को बताया गया है। त्रि—आध्यात्मिकादि तीन तापों, सत्त्वादि तीन गुणों, अथवा जाग्रदादि तीन अवस्थाओं से रहित, स्वरूपावस्थित पुरुष का जो पालनकर्ता है, उसे 'त्रिविष्टप' कहा जाता है, अथवा जो इनसे युक्त अधिकारी की रक्षा करता है, वह 'त्रिविष्टप' है ॥१/२६॥

(ज्ञानी का धर्माऽऽदि विषयों में आचरण)

शां० भा०—इदानीं विदुषः समाचारमाह—

मू०— तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः।

नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥१/२७॥

अन्वयः—तस्य, समाचारम्, वेदविदोजनाः, आहुः, बाह्यम्, आभ्यन्तरम्, जनम्, भूयिष्ठ, न मन्यते ॥१/२७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तस्य=उस ज्ञान के, समाचारम्=आचार का, वेदविदोजनाः=वेदज्ञ विद्वान् लोग, आहुः=वर्णन करते हैं, बाह्यम्=बाह्य व्यवहार सम्पन्न एवं, आभ्यन्तरम्=ध्यानादि सम्पन्न, जनम्=इस विद्वान् को, भूयिष्ठ=अत्यधिक, न मन्यते=मान नहीं देते ॥१/२७॥

भावाऽर्थप्रभा—इस श्लोक द्वारा विद्वान् के आचरण के विषय में बताते हैं। वह ज्ञानी निष्काम भाव से केवल धर्म के लिए भी अनुष्ठान करता है। वेदज्ञ लोग इस जन की प्रशंसा करते हैं। वे पुत्र-कलत्रादि में अन्तर्मुख एवं बाह्य व्यवहार सम्पन्न जन को अधिक मान नहीं देते ॥१/२७॥

शां० भा०—तस्य=विरक्तस्य विदुषः सम्यक् समाचारं वेदविदो=जनाः=विद्वांस आहुः। नैनं योगिनं मन्येत चिन्तयेद् भूयिष्ठं बहु बाह्यमाभ्यन्तरं जनम्=पुत्रमित्रकलत्राद्याभ्यन्तरम्, इतरद् बाह्यम्। यथा पुत्रमित्रादयो न गृह्णन्ति तथा तेषामगोचर एव वर्तत इत्यर्थः ॥१/२७॥

भावाऽर्थप्रभा—उस विरक्त विद्वान् पुरुष के वास्तविक आचरण के विषय को लेकर वेदवेत्तालोग इस प्रकार व्याख्यान देते हैं—"इस योगी को इसके बाह्य एवं आन्तरिक लोग उनके यथाऽर्थस्वरूप को नहीं मानते, अर्थात् वे इस योगी पर विशेष विचार नहीं रखते। पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि आन्तरिक हैं तथा शेष सभी बाह्य हैं। इसका तात्पर्य यह है कि योगी अपनी वास्तविकता को छिपाकर उस प्रकार से रहे, जिससे कि उसे पुत्र-मित्रादि ग्रहण न कर सकें इस प्रकार से वैसा व्यवहार करता हुआ वह उनसे छिपा ही रहता है ॥१/२७॥

शां० भा०—कीदृशे देशेऽस्य वास इत्याह—

मू०— यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोदकम्।
अन्नपानं च विप्रेन्द्रस्तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥१/२८॥

अन्वयः—विप्रेन्द्र, प्रावृषि, तृणोदकम्, इव, अन्नपानम्, जीवेत्, न अनुसंज्वरेत् ॥१/२८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—विप्रेन्द्र=श्रेष्ठ ब्राह्मण, प्रावृषि=वर्षाकाल में, तृणोदकम्=बढ़े हुए तृण जल के, इव=समान, अन्नपानम्=खाद्य सामग्री को, जीवेत्=जीवनयापन करें, न अनुसंज्वरेत्=शरीर को क्लेश न दे।

भावाऽर्थप्रभा—विद्वान् का वास कहाँ हो, इस सम्बन्ध में निर्देश देते हुए बताते हैं कि जहाँ वर्षा ऋतु में घास और जल की अधिकता स्वतः हो जाती है,, जो स्थान पशु,

चोर, दस्यु, उपद्रवी लोगों से रहित हो और खाने के लिए कष्ट, या चिन्ता का सामना न करना पड़े, उसी विशेष स्थान को निवास चुनना चाहिए, क्योंकि कष्ट सहन करते हुए, स्थलविशेष में रहने से कोई लाभ नहीं है ॥१/२८॥

शां० भा०—यत्र यस्मिन् देशे मृगचोरादिपीडारहिते अन्नपानादि भूयिष्ठं बहुलं वर्तते इति मन्येत प्रावृषीव तृणोदकं बहुलं भवति तद्वत्। तृणोलपमिति केचित्="तृणोलप इति ख्यातो मुनिभौज्यौदनादिषु" इति वदन्ति। दूर्वाविशेष इति केचित्। तत्र स्थित्वा तदन्नपानादिक-मुपजीवेत्। नानुसंज्वरेत् संतप्तो न भवेत्। अन्यथा अन्नपानादिरहिते देशे कथं नाम देहयात्रा सिद्ध्येदिति संतप्तो भवेत्, ततश्च न योगसिद्धिः ॥१/२८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो देश मृग तथा चोरादि के उपद्रव से रहित है, जिस देश में वर्षाकाल में घास और जल की अधिकता रहती है और उसी मात्रा में अथवा उसी अनुपात में अन्न-पानादि की बहुलता होती है—इस प्रकार के लक्षण एवं दशाएँ जहाँ देखा जाय, वहाँ रहकर उस अन्न-जल के सहारे जीवन-निर्वाह करना चाहिए। "मुनियों के भोज्य एवं पानादि के अर्थ में "तृणोलप" शब्द का प्रयोग होता है" इस कोष के अनुसार यहाँ कोई-कोई 'तृणोदकम्" के स्थान में "तृणोलपम्" ऐसा पाठ कहते हैं। कोई उस तृणोलप को दूर्वाविशेष कहते हैं। अनुसंज्वरित अर्थात् संतप्त न हो। यदि व्यक्ति उपर्युक्त लक्षणों से युक्त देश में वास न करे तो अन्न-पानादिरहित देश में रहने से "किंस प्रकार देहयात्रा अर्थात् जीवन-निर्वाह होगा" इस प्रकार के भाँति-भाँति के संताप होंगे, और जिसके कारण योगसिद्धि नहीं हो सकेगी ॥१/२८॥

शां० भा०—तत्राप्येवंविधजनसमीपे वास इत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस स्थल में साधकों को रहने का स्थान निर्धारित किया गया है, वहाँ पर भी इस प्रकार के लोगों के सान्निध्य में निवास किया जाना साधकों के साधनों की उन्नति के लिए उत्तम माना जाता है, इस विषय में कहते हैं—

मू०— यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम्।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥१/२९॥

अन्वयः—यत्र, अकथयमानस्य, अशिवम्, भयम्, प्रयच्छति, अतिरिक्तम्, अकुर्वन्, स, श्रेयान्, इतरः, न ॥१/२९॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यत्र=जहाँ, अकथयमानस्य=अपने महत्त्व को अप्रकाशित करने वाले के लिए लोग, अशिवम्=अभद्रता, भयम्=अवमानना, प्रयच्छति=प्रकट करते हैं, अतिरिक्तम्=अपने महत्त्व को, अकुर्वन्=छुपा रखता हुआ ही, इव=के समान रहता है, स=वह, श्रेयान्=उत्तम है, इतरः=अन्य जन, न=नहीं ॥१/२९॥

भावाऽर्थप्रभा—विद्वान् पुरुष अपनी महत्ता को प्रकट न करते हुए जिस स्थान पर निवास करता है वहाँ यदि उसे दूसरे लोगों से अभद्रता और भय प्राप्त होता है, तो भी वह स्थान कल्याणकारक है। क्योंकि अपनी विशेषता को न बताते हुए जो रहता है, वही ज्ञानी श्रेष्ठ है, अन्य पुरुष नहीं। तात्पर्य यह है कि वह ज्ञानी पुरुष जीवन्मुक्त होकर लौकिक व्यवहारों को जानते हुए भी, न जानते हुए के समान ही व्यवहार करता है, अर्थात् लोक में जड़वत् आचरण करता है ॥१/२९॥

शां० भा०—यत्र=यस्मिन् देशेऽकथयमानस्य=तूष्णीभूतस्य स्वमाहात्म्यं प्रच्छादयतो येन केनचिदाच्छन्नस्य येन केनचिदाशितस्य यत्र क्वचनशायिन आत्मानमेव लोकं पश्यतो जडमूकबालपिशाचादिवत्संचरतः परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् अशिवम-कल्याणमवमानादिकं प्रयच्छति तथा अतिरिक्तमिवाकुर्वन्—यथा कश्चित् स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञो ब्रह्मविदिति ज्ञात्वा प्रणिपातनमस्कारादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या पूजयति तद्वदज्ञाततया अतिरिक्तं ब्राह्मणजातिमात्रप्रयुक्तपूजातिरिक्तं पूजान्तरं ब्रह्मविदनुरूपमकुर्वन्नवमानादिकमेव कुर्वन् यो जनः सोऽस्य विदुषः श्रेयान्। नेतरो यः प्रणिपातादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या सम्पूजयति। तथा चाह भगवान् मनुः—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

इति। तथा चाह भगवान् पराशरः—

सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं न विन्दति॥इति॥१/२९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जैसे-तैसे के द्वारा वस्त्र की व्यवस्था किये जाते हुए, जिस किसी के द्वारा भोजन कराये जाते हुए, तथा अपने विषय में कुछ भी न कहते हुए, मौन रहकर, अपनी महिमा को छिपाने वाले, जहाँ कहीं भी सोने वाले, केवल आत्मलोक का ही दर्शन करने वाले एवं जड़, मूक, बालक और पिशाचादि की तरह विचरण करने वाले उस परमहंस-परिव्राजकाचार्य को जहाँ—जिस देश में लोग अशिव अर्थात् अकल्याण, अथवा भय अपमानादि प्रदान करें, और इसके विपरीत दूसरी ओर ऐसा नहीं करने वाले अर्थात् जिस प्रकार कोई स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को जानने वाला पुरुष "यह ब्रह्मवेत्ता है" ऐसा समझकर प्रणाम एवं नमस्कारादिपूर्वक उसकी ईश्वर-बुद्धि से पूजा करता है, उसी के समान अज्ञान के कारण जो लोग ब्राह्मण-जाति के योग्य सत्कार करने के सिवा ब्रह्मवेत्ता के अनुरूप अन्य प्रकार की पूजा नहीं करते, वे ही इस विद्वान् के लिए उपयोगी हैं। जो लोग प्रणाम आदि करते हुए इसकी ईश्वर-बुद्धि से पूजा करते हैं, वे इसके लिए

उपयुक्त नहीं हैं। ऐसा ही भगवान् मनु ने भी कहा है—"ब्राह्मण को चाहिए कि सम्मान से विष की भाँति दूर रहे और सदा ही अपमान की अमृत के समान इच्छा करे।' और इसी प्रकार भगवान् पराशरजी भी कहते हैं—"क्योंकि सम्मान योगश्री की अत्यन्त हानि करता है, और जनता द्वारा अपमानित योगी योग में सिद्धि प्राप्त कर लेता है।" ॥१/२९॥

शां० भा०—कीदृशस्य तर्ह्यन्नं भोज्यमित्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—योगाभ्यासी योगी को योगवृद्ध्यर्थ किस पुरुष के द्वारा प्रदत्त अन्न ग्रहण करने के योग्य होता है? इसको बतलाने के लिए कहते हैं—

मू०— यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत्।
ब्रह्मस्वं नोपहन्याद् वा तदन्नं सम्मतं सताम्॥१/३०॥

अन्वयः—वा, यः, अकथयमानस्य, आत्मानं, न, अनुसंज्वरेत्, ब्रह्मस्वं, न उपहन्यात्, तदन्नं, सताम्, सम्मतम् ॥१/३०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—वा=और, यः=जो पुरुष, अकथयमानस्य=ख्याति न करने वाले सन्त की, आत्मानं=आत्मा को, न=नहीं, अनुसंज्वरेत्=उद्विग्न करता, ब्रह्मस्वं=ब्राह्मणों के स्वत्व को, न उपहन्यात्=अपहत नहीं करता, तदन्नं=उसका शुद्ध आहार, सताम्=सज्जनों के लिए, सम्मतम्=सम्मत है, मान्य है।

भावाऽर्थप्रभा—जो विद्वान् अपनी प्रशंसा न करने वाले के विषय में किसी भी प्रकार उद्विग्न नहीं होता और जो उसके ब्राह्मणत्व का हनन नहीं करता, अर्थात् उसके ब्राह्मणोचित साधनों को नष्ट नहीं करता उसका शुद्ध अन्न ही सज्जनों के लिए प्रशस्त माना गया है।

"कथयमानस्य" ऐसा पाठ होने पर अर्थ होगा—जो ज्ञानीपुरुष अपनी आत्मप्रशंसा में इन मनुष्यों को देखकर उद्विग्न नहीं होता। ब्रह्मस्व का अर्थ ब्राह्मणोचित भोजन है ॥१/३०॥

शां० भा०—यो वा अकथयमानस्य तूष्णींभूतस्य सर्वोपसंहारं कृत्वा पूर्णानन्दात्मना अवस्थितस्य आत्मानं नानुसंज्वरेत्—न तापयेत्, ब्रह्मस्वं नोपहन्याद्वा—ब्रह्मनिष्ठासाधनभूतं चैलाजिन-कुशपुस्तकादिकं नोपहन्याद्वा। तथा चोक्तम्—

रत्नहेमादिकं नास्य योगिनः स्वं प्रचक्षते।
कुशवल्कलचैलाद्यं ब्रह्मस्वं योगिनो विदुः॥

इति अन्यदपि ब्रह्मस्वं ब्राह्मणस्वं नोपहन्याद्वा—
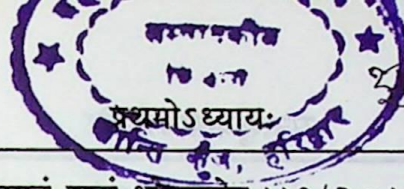
तदन्नं तस्यान्नं सम्मतं सतां भोज्यत्वेन ।।१/३०।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो पुरुष अकथयमान—मौन रहने वाले, अर्थात् सभी इन्द्रियों का निग्रह कर पूर्णानन्दस्वरूप से स्थित हुए इस महात्मा के अन्तःकरण को अनुसंज्वरित—संतप्त न करे, तथा इसके ब्रह्मस्व का बाधक न हो, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा के साधनभूत इसके चीरवस्त्र, मृगचर्म, कुशासन एवं पुस्तक आदि को नष्ट करनेवाला न हो। इस विषय में ऐसा कहा भी गया है कि "रत्न और सुवर्णादि—ये इस योगी की सम्पत्ति नहीं हैं। योगी के ब्रह्मस्व अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूप धन तो कुश, वल्कल एवं चीरवस्त्रादि ही माने गये हैं।" तथा इनके अतिरिक्त जो इसके अन्य ब्रह्मस्व—ब्राह्मणानुरूप सम्पत्ति का भी नाश नहीं करता, उसी का अन्न साधुपुरुषों के भोज्यरूप से माना गया है।

शां० भा०—पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—ऊपर में योगसाधक के प्रति सामाजिक लोगों का कैसा व्यवहार होना चाहिए इस पर, प्रकाश डाला गया, तथा साधक योगी का आचरण किस प्रकार का होना चाहिए इस विषय को भी प्रकाशित किया गया। इदानीम् पुनः इसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए, उनके आचरणीय कर्तव्य की गोपनीयता को प्रतिपादित करते हैं—

मू०— नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये नैव विन्देत किंचन ।।१/३१।।

अन्वयः—ब्राह्मणः, नित्यं, अज्ञातचर्या, मन्येत, ज्ञानिनाम्, मध्ये, वसन्, न किंचन, विद्येत ॥१/३१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—ब्राह्मणः=जो ब्राह्मण, नित्यं=नित्य, नियमित, अज्ञातचर्या=अपना साधना को गुप्त रखना, मन्येत=माने, ज्ञानिनाम्=कुटुम्बीजनों के, मध्ये=मध्य, वसन्=रहता हुआ, न किंचन विद्येत=कुछ भी न जाने ॥१/३१॥

भावाऽर्थप्रभा—ब्रह्मवेत्ता को चाहिए कि वह अपने बन्धुजनों के मध्य रहता हुआ भी अपने ब्रह्मतेज को अर्थात् तत्त्वज्ञान को प्रकट न करे। अपने आत्मिक गुणों को सर्वसामान्य जनों से प्रच्छन्न रखे। क्योंकि तत्त्वज्ञानी वही है, जो आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर, उसके विषय में कोई तर्क-वितर्क नहीं करता। यही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण का उत्तम लक्षण माना गया है। कहा भी गया है—

"जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्" (इस श्लोक का अन्य अर्थ शा०भा० में द्रष्टव्य है।) ॥१/३१॥

शां० भा०—नित्यं=नियमेन अज्ञातचर्या=गुढचर्या मे=मम कर्तव्येति मन्येत ब्राह्मणो=ब्रह्मवित्। ज्ञातीनां=पुत्रमित्रकलत्रादीनां मध्ये=सन्निधौ वसन् नैव विन्देत=प्रतिपद्येत किंचन

किंचिदपि। कश्चनेति केचित्। पुत्रमित्रकलत्रादिकं परित्यज्य केवलं स्वात्मनिष्ठो गूढचर्यो भवेदित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः।

यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः॥

तथा चाह भगवान् वशिष्ठः—

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।

न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥

इति। ईदृशस्यैव ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिलक्षणो मोक्षो नान्यस्य, विक्षेपबाहुल्यादिति भावः। अथवा, "नित्यमज्ञातचर्या मे अज्ञाते चक्षुराद्यविषयभूते वाचामगोचरेऽनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितेऽशनायाद्यसंस्पृष्टे पूर्णानन्दस्वरूपे सर्वान्तरे=प्रत्यग्भूते ब्रह्मणि चर्या निष्ठा समाधिलक्षणा मे=मम कर्तव्या, न पराग्भूतदेहेन्द्रियपुत्रमित्रकलत्रादौ स्थूलोऽहं कृशोऽहं गच्छामि=तिष्ठामि क्लीबः काणः मूको बधिरोऽमुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं भार्या मे पुत्रो मे विभवो मे स्निग्धबन्धुसुहृदः—इत्येवमात्मिका कर्तव्या" इति मन्येत ब्राह्मणो ब्रह्मवित्। तथा च श्रुतिः—"यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति, तदेव ब्रह्म" इति।

भाष्याऽर्थप्रभा—मुझको नित्य नियमानुसार अज्ञातचर्या—गूढ़रूप से आचरण करना ही उचित है—ऐसा ब्राह्मण-ब्रह्मवेत्ता को विचार रखना चाहिए। वह ज्ञाति अर्थात् पुत्र-मित्र तथा स्त्री आदि के मध्य में अर्थात् उनकी सन्निधि में रहता हुआ भी किसी वस्तु को अपना न माने अर्थात् अपनत्व का विचार न रखे।

यहाँ कोई-कोई विद्वत्जन "किञ्चन" के स्थान में "कश्चन" ऐसा पाठ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि सभी को त्यागकर केवल आत्मनिष्ठ हो गूढ़रूप से आचरण करे। ऐसी ही श्रुति भी है—"मुनि को चाहिए कि कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री, सम्पूर्ण वेदाङ्ग, तथा यज्ञ और यज्ञोपवीत,—इन सबको त्यागकर, प्रच्छन्नरूप से विचरण करे।" तथा इसी क्रम में भगवान् वशिष्ठ भी कहते हैं—"जो कोई न साधु को, न असाधु को, न विद्वान् को, न अविद्वान् को, और न सदाचारी को, या दुराचारी को ही जानता है, वह ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ता है। बुद्धिमान् पुरुष को सब कुछ जानते-समझते हुए भी लोक में जड़वत् आचरण करना चाहिए।" इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि ऐसे पुरुष को ही ज्ञाननिष्ठा की प्राप्तिरूप मोक्ष मिल सकता है,

विक्षेप की अधिकता के कारण दूसरे को नहीं प्राप्त हो सकता है।

अथवा, "नित्यमज्ञातचर्या मे" इस वाक्य का ऐसा अर्थ करना चाहिए कि "जो अज्ञात् अर्थात् नेत्रादि का अविषय, वाणी का अगोचर, उदय और अस्त से रहित, केवल ज्ञानस्वरूप से स्थित, क्षुधा-पिपासादि से असंस्पृष्ट, पूर्णानन्दस्वरूप, सर्वान्तर और सबका अन्तरात्मस्वरूप है, उस ब्रह्म में ही मुझे चर्या—समाधिरूप निष्ठा करनी चाहिए; मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, जाता हूँ, बैठता हूँ, नपुंसक हूँ, काना हूँ, गूँगा हूँ, बहरा हूँ, उसका पुत्र हूँ, इसका नाती हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, मेरे स्त्री है, मेरे पुत्र है, मेरे वैभव है, मेरे प्रिय बन्धु-बान्धव हैं—इस प्रकार से शरीर, इन्द्रिय, पुत्र, मित्र एवं स्त्री आदि बाह्यपदार्थों में निष्ठा नहीं करनी चाहिए"—इस तरह के विचार ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ता को रखना चाहिए। "जिसे कोई चक्षु आदि समस्त ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्रात्यक्षिक अनुभव का विषय नहीं बना सकता, परन्तु, जिसकी सहायता को प्राप्त कर समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ हुआ करतीं हैं, वही ब्रह्म है" यह श्रुति भी ऐसा ही व्याख्यान देती है।

शां० भा०—यस्मादेवमज्ञात एव ब्रह्मणि निष्ठा कर्तव्या तस्माद् ज्ञातीनाम्—

क्रोधमानादयो दोषा विषयाश्चेन्द्रियाणि च। एत एव समाख्याता ज्ञातयो देहिनस्तव॥ इतीन्द्रियादीनां ज्ञातिशब्देनोक्तत्वादिन्द्रियादीनां मध्ये वसन् पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् गच्छन् अश्नन् मन्यमानो विजानन्नपि नैवमात्मानं प्रमात्रादिरूपेण विन्देत=प्रतिपद्येत, तत्साक्षित्वादात्मनः। तथा च श्रुतिः—"अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" इति। देहद्वयतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः ॥१/३१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार क्योंकि अज्ञात ब्रह्म में ही निष्ठा करनी चाहिए, इसलिए ज्ञातियों के "क्रोध एवं मानादि दोष, विषय तथा इन्द्रियाँ—ये ही तुझ देहधारियों के ज्ञाति कहे गये हैं" इस प्रकार 'ज्ञाति' शब्द से इन्द्रियादि ही कहे गये हैं; अतः ज्ञातियों के—इन्द्रिय आदि के मध्य में रहते हुए अर्थात् देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, चलते, भोजन करते हुए, विचार करते हुए और विशेषरूप से जानते हुए भी आत्मा को ऐसा अर्थात् प्रमातादिरूप न जाने, क्योंकि आत्मा तो इन सभी का साक्षी है। "और जो यह जानता है कि मैं सूँघता हूँ, वह आत्मा है" यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है। अतः तात्पर्य यह समझना चाहिए कि स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर और उनके धर्मों को आत्मस्वरूप से ग्रहण न करें ॥१/३१॥

(आत्मा की दुर्बोधता का प्रतिपादन—)

शां० भा०—कस्मात् पुनरेवं न गृह्यत इत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—लेकिन आत्मा को इस प्रकार अनुभव क्यों नहीं होता है? इस प्रश्न के उत्तर को बतलाते हुए कहते हैं—

मू०— को ह्येवमन्तरात्मानं ब्राह्मणो मन्तुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् ।।१/३२।।

अन्वयः—कः ब्राह्मणः, हि, निर्लिङ्गं, अचलं, सर्वद्वन्द्वविवर्जितम्, एवम्, अन्तरात्मानम्, मन्तुम्, अर्हति ।।१/३२।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—कः ब्राह्मणः=कौन ब्राह्मण, बहिर्मुख होकर, हि=केवल, निर्लिङ्गं= निराकार, अचलं=अटल, सर्वद्वन्द्वविवर्जितम्=सभी द्वन्द्वों से रहित शुद्ध, निर्मल, एवम्=इस प्रकार, अन्तरात्मानम्=अपनी अन्तरात्मा को, मन्तुम्=मानने के लिए, अर्हति=योग्य होता है ।

भावाऽर्थप्रभा—जो ब्राह्मण देहाभिमानवश शरीर के धर्मों को "मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ" इत्यादि रूप से अनुभव करता है, वह सर्वथा भेदशून्य, चिह्नरहित सूक्ष्म, अविद्या से मुक्त एवं समस्त द्वैतभावों से शून्य परब्रह्म को कैसे प्राप्त कर सकता है?

वस्तुतः ब्राह्मण वही है, जो सर्वज्ञ होकर भी प्रच्छन्नभाव से समस्त व्यवहारों को करता है । तात्पर्य यह है कि उपरोक्त लक्षणसम्पन्न परमात्मा का, साक्षात्कार देहाभिमान से मुक्त कौन ब्राह्मण कर सकता है । उसे चाहिए कि वह साधक देहाऽभिमान के अङ्गरूप से विराजमान पुत्र-कलत्रादि से आत्मभाव को त्याग दे जिससे देहाऽभिमान दुर्बल होकर, कालक्रम से निवृत्त होने की अवस्था को प्राप्त करेगा ।।१/३२।।

शां० भा०—को हि निर्लिङ्गम्=स्थूलसूक्ष्मवर्जितम् अचलं=क्रियाकर्त्रादिशून्यं शुद्धम्=अविद्यादिदोषरहितं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम्=अशनाथापिपासाशोकमोहजरामृत्युशीतोष्ण-सुखदुःखादिधर्मविवर्जितम् अन्तरात्मानं=सर्वान्तरं प्रमात्रादिसाक्षिणमात्मानं मानाविषयभूतम् एवम् उक्तेन प्रकारेण देहद्वयतद्धर्मतया "स्थूलोऽहं कृशोऽहं गच्छामि पश्यामि मूको बधिरः काणःसुख्यहं दुःख्यहम्" इति ब्राह्मणः सन् गन्तुमर्हति । तथा सति ब्राह्मणत्वमेव हीयेत इत्यर्थः । वक्ष्यति च—"य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया" इति ।।१/३२।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो निर्लिङ्ग—स्थूल-सूक्ष्म भेद से रहित, अचल—कर्ता-क्रिया आदि से शून्य, शुद्ध-अविद्यादि दोषों से रहित, सर्वद्वन्द्वविवर्जित—क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु, शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी) और सुख-दुःख आदि धर्मों से सर्वथा रहित है, उस अन्तरात्मा अर्थात् प्रमातादि के साक्षी, प्रमाण के अविषय, सर्वान्तर्भूत आत्मा को, ऐसा कौन व्यक्ति है? जो ब्राह्मण, अर्थात् ब्रह्मवित् होकर, इस प्रकार, अर्थात् उपर्युक्तरूप से "मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, चलता हूँ, देखता हूँ, गूँगा हूँ, बहरा हूँ, काना

हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ'' इस तरह स्थूल-सूक्ष्म देह और उनके धर्मरूप से विदित हो सके। तात्पर्य यह है कि ऐसा होने पर तो उसका ब्राह्मणत्व (ब्रह्मविद्वत्ता) नष्ट हो जायेगा। ऐसा ही ''जो सत्य से कभी च्युत नहीं होता, उसी को तुम्हें ब्राह्मण जानना चाहिए'' इस वाक्य से आगे भी कहेंगे ॥१/३२॥

(अनात्मज्ञ की निन्दा का वर्णन—)

शां० भा०—यस्त्वेवं मनुते स पापीयानित्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब यह कहते हैं कि जो आत्मा को इस प्रकार से समझता है, वह तो बड़ा पापी है—

मू०— योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।

किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ।।१/३३।।

अन्वयः—यः, अन्यथा, सन्तं, आत्मानम्, अन्यथा, प्रतिपद्यते, तेन, चोरेण, आत्मापहारिणा, किम्, पापम्, न कृतम् ॥१/३३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो अज्ञानी, अन्यथा=सच्चिदानन्दस्वरूप, सन्तं=प्रसिद्ध, आत्मानम्=आत्मा को, अन्यथा=जड़ादि रूप से, प्रतिपद्यते=समझता है, तेन=उस, चोरेण= चोर, आत्मापहारिणा=आत्मघाती ने, किम्=क्या, पापम्=पाप, न=नहीं, कृतम्=किया ॥१/३३॥

भावाऽर्थप्रभा—सम्पूर्ण प्रपञ्चों से अतीत उपरोक्त सर्वज्ञ सर्वज्ञशक्तित्वादि लक्षणों से युक्त उस परब्रह्म परमात्मा को जो विपरीत रूप से जानता है, अर्थात् श्रुतिप्रतिपादित उस ब्रह्म के विषय में अन्य प्रकार के विचार करता है। उस आत्मघाती चोर ने कौन-सा पाप नहीं किया? अर्थात् न करने पर भी सब कुछ कुत्सितकर्म उसके द्वारा अवश्य ही किया गया है। वह अज्ञानी शरीर के धर्मों को ही आत्मा का धर्म समझकर आत्मस्वरूप को, शरीर के रूप में अङ्गीकार करके आत्मा के स्वरूप का हनन करता है, अतएव सबसे बड़ा आत्मघाती है। इस विषय में श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।१/३३।।

शां० भा०—योन्यथा सन्तमात्मानं ज्ञानात्मना निर्लिङ्गममलं शुद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितं चित्सदानन्दाद्द्वितीयब्रह्मात्मना सन्तं स्वमात्मानम्, अन्यथा देहद्वयतद्धर्मात्मतया ''कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी स्थूलोऽहं कृशोऽहं अमुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहम्'' इत्येवमात्मना प्रतिपद्यते किं तेन मूर्खेणानात्मविदा आत्मचोरेणात्मायहारिणा न कृतं पापम्। महापातकादि सर्वं तेनैव कृतमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

इति । तथा चोक्तम्—

ब्राह्मण्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन् मूको वा बधिरो भवेत् ।
नापक्रामति संसारात् स खलु ब्रह्मघातकः ।।

इति तस्माद्विषयभूतदेहेन्द्रियादिष्वात्मभावं परित्यज्य अज्ञात एव वागाद्यगोचरे परमात्मनि निष्ठा कर्तव्येत्यर्थः ।।१/३३।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो आत्मा को अन्य, किसी दूसरे प्रकार का होते हुए अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप से अलिङ्ग, निर्मल, शुद्ध, सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित एवं सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूप होते हुए भी उसे किसी अन्य प्रकार अर्थात् "स्थूल-सूक्ष्म", देहद्वय और उनके धर्मरूप से "मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी या दुःखी हूँ, मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, उसका पुत्र हूँ, इसका नाती हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, इत्यादि प्रकार से जानता है, उस आत्मचोर, आत्मा को अपहृत करने वाले, उस मूर्ख अनात्मज्ञ के द्वारा कौन-सा पाप नहीं किया गया है ? अर्थात् उसने तो सारे महापातकादि नीच कर्म कर दिये । ऐसा ही श्रुति भी कहती है—"घोर अन्धकारमय आसुरी लोक इन्हीं आत्मघाती लोगों के लिए सर्वथा उपयुक्त होते हैं, अतः वे मरणोपरान्त उन्हीं लोकों को प्राप्त होते हैं ।" तथा इसी क्रम में श्रुति कहती है—ब्रह्मपद को प्राप्त कर उसे इस लोक में गूँगे और बहरे के समान हो जाना चाहिए । जो इस चलायमान, व नित्यपरिवर्तनशील संसार से ऊपर नहीं उठता, वह निश्चय ही ब्रह्मघाती है ।" अतः तात्पर्य यह है कि विषयभूत देह, एवं इन्द्रियादि में आत्मभाव का त्याग कर, वागादि इन्द्रियों के अविषय अज्ञात परमात्मा में ही श्रद्धा करनी चाहिए ।

(आत्मज्ञ का व्यवहार)

शां० भा०—अन्यथा देहेन्द्रियतद्धर्माननुपाददतः किं भवतीत्यत आह—

भाष्याऽर्थप्रभा—इसके विपरीत जो देह, इन्द्रिय और उनके धर्मों को स्वयं में समावेशित नहीं करता, उसे क्या होता है—सो अब बतलाते हैं—

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः ।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः ।।१/३४।।

अन्वयः—सः, अश्रान्तः, अनादाता, निरुपद्रवः, स्यात्, तथा, शिष्टः, शिष्टवत् न, स्यात्, ब्राह्मणः, ब्रह्मवित् कविः, सम्मतः ।।१/३४।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—सः=वह ब्रह्मवेत्ता, अश्रान्तः=निश्चिन्त, अनादाता=संग्रहरहित,

निरुपद्रवः= परम शान्त, स्यात्=रहे, तथा=और, शिष्टः=शिष्ट होकर भी, शिष्टवत्=शिष्ट की तरह, न=नहीं, स्यात्=करे, ब्राह्मणः=ब्राह्मण, ब्रह्मवित् कविः=ब्रह्मज्ञ तथा दूरदर्शी, सम्मतः= माना गया है ।

भावाऽर्थप्रभा—जो कर्तव्य का पालन करने में थकता नहीं, अर्थात् अपनी आत्मा में शरीर के धर्मों को अभ्यस्त नहीं करता, जो दान ग्रहण नहीं करता, सर्वमान्य, उपद्रव अर्थात् क्रोध, लोभ, हर्ष आदि से रहित है, तथा शिष्ट होकर भी, अर्थात् आत्मज्ञानी होकर भी अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करता है, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता और विद्वान् है ॥१/३४॥

शां० भा०—योऽनादाता=अनात्मभूतदेहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन नोपादत्ते स पुरुषोऽश्रान्तः स्यात्— संसारश्रमयुक्तो न भवेत्, अशनायादेर्देहादिधर्मत्वात् । तथा च श्रुतिः—"अशनायापिपासे प्राणस्य शोकमोहौ मनसो जरामरणे शरीरस्य" इति । देहद्वयाध्यासे हि तद्धर्माध्यासो भवति । एवमश्रान्ततया निरुपद्रवो भवति । क्रोधहर्षलोभमोहादयोऽन्तराया= उपद्रवाः, तद्धीनो निरुपद्रवः, स सम्मतः=शिष्टत्वेन विद्वद्भिः सम्मतः शिष्टवन्न स्यात्= न आचरेत्, जडवच्चरेद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः ॥१/३४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो पुरुष अनादाता हैं, अर्थात् अनात्मभूत देह, इन्द्रिय और उनके धर्मों को आत्मभाव से ग्रहण नहीं करता है, वह पुरुष श्रमहीन हो जाता है=संसाररूप श्रम से युक्त न हो; क्योंकि क्षुधा (भूख) आदि देहादि के ही धर्म हैं । ऐसी ही श्रुति भी है—"क्षुधा-पिपासा प्राण=प्राणवायु के, अर्थात् जीवन के धर्म हैं, शोक-मोह मन के हैं, और जरा (बुढ़ापा)-मरण शरीर के धर्म कहे जाते हैं ।" देहद्वय का अध्यास होने पर ही उनके धर्मों का अध्यास होता है । इस प्रकार श्रमहीन हो जाने से वह निरुपद्रव हो जाता है । क्रोध, हर्ष, लोभ एवं मोह इत्यादि अन्तराय ही उपद्रव हैं; उनसे रहित होने से वह निरुपद्रव हो जाता है । इस प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न जो पुरुष है उसे विद्वज्जन शिष्ट समझते हैं । लेकिन वह शिष्टवत् आचरण नहीं करे, बल्कि उस ब्रह्मवेत्ता क्रान्तदर्शी ब्राह्मण को जड़वत् आचरण करना चाहिए ॥१/३४॥

(अगूढ़चारी की निन्दा)

शां० भा०—इदानीमगूढचारिणं कुत्सयन्नाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब गूढ़वृत्ति से आचरण न करने वाले की निन्दा करते हुए कहा जाता है—

मू०— ये यथा वान्तमश्नन्ति बाला नित्यमभूतये ।

एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्यसोपभोजनात् ॥१/३५॥

अन्वयः—यथा, बाला, वान्तम्, अश्नन्ति, एवम्, नित्यम्, अभूतये, स्ववीर्यस्य, उपभोजनात्।

अन्वयाऽर्थप्रभा—यथा=जैसे, बालाः=कुत्ते, वान्तम्=अपने वमन को ही चाव से, अश्नन्ति=ग्रहण करते हैं, एवम्=उसी तरह, ते=वे लोग, नित्यम्=नित्य, अभूतये=अपने विनाश के लिए, स्ववीर्यस्य=अपने तप-तेज को ही, उपभोजनात्=आहार बना करके, अश्नन्ति=नष्ट किया करते हैं ॥१/३५॥

भावाऽर्थप्रभा—जिस प्रकार कुत्ता अपने वमन किये हुए को ही खा लेता है, वैसे ही जो ब्रह्मज्ञानी अपने ज्ञान-माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए, गुप्तभाव से नहीं रहते हैं, वे भी अपने तेजरूपी आहार को उगलकर पुनः खाते हैं, अर्थात् उनका वह ब्रह्मतेज सर्वथा अनर्थ के लिए ही होता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी होकर भी लोक में उदासीनवत् आचरण करना चाहिए। श्रुति कहती है—

''**सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव।**'' अर्थात् नेत्र के रहते हुए भी अन्धे के समान लाक व्यवहार में रहे, तथा कान रहने पर भी बधिर के समान आचरण किया करे ॥१/३५॥

शां० भा०—''मूढो बाल इति प्रोक्तः श्वा च बाल इति स्मृतः'' इति दर्शनाद् यथा बालाः श्वानो वा मूढा वा वान्तम् उद्गीर्णमश्नन्ति, एवं ये शिष्टा ब्रह्मविदः स्वमाहात्म्यं ख्यापयन्तोऽगूढचारिणो वर्तन्ते, ते वान्तमुद्गीर्णमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात्। यदिदं वान्ताशनं तदिदमभूतयेऽनर्थायैवेत्यर्थः। तस्माद् गूढः सन्नशिष्टवदेव समाचरेदित्यर्थः ॥१/३५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—''मूढ़ पुरुष को ''बाल'' कहा जाता है और कुत्ता को यहाँ ''बाल'' कहा गया है'' ऐसा स्मृतिप्रमाण देखे जाने के कारण, मूढाऽर्थक और श्वानाऽर्थक बालशब्दनिर्धारित होता है। तदनुसार प्रकृतोपयोगी अर्थ का स्वरूप होगा—जिस प्रकार बाल यानी कुत्ता अथवा मूर्खलोग अपने वमन-उल्टी किये हुए पदार्थ को ही ग्रहण कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार जो शिष्ट ब्रह्मवेत्ता अपनी महिमा को प्रकट करते हुए, गूढ़ व्यवहार नहीं करते, वे अपने वीर्य का उपभोग करने के कारण, वमन-उल्टी को ही मूर्खतावश ग्रहण करते हैं। कहने का तात्पर्याऽर्थ यह है कि उनका जो यह व्यवहार वमन-भक्षण करने का है, वह तो उनकी अभूति अर्थात् मात्र अनर्थ के लिए ही होता है। अतः गूढ़ रहकर असभ्य पुरुषों के ही समान आचार-विचार अर्थात् आचरण करे—यही इसका तात्पर्य समझना चाहिए ॥१/३५॥

(अग्रिम ग्रन्थ से ज्ञानी की प्रशंसा का प्रदर्शन)

शां० भा०—इदानीं योगिनः प्रशंसन्नाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब योगियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—

मू०— अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या वेदेषु ये द्विजाः ।

ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्या विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम् ।।१/३६।।

अन्वयः—ये, द्विजाः, मानुषे, वित्ते, अनाढ्याः, वेदेषु, आढ्याः, ते, दुर्द्धर्षाः, दुष्प्रकम्प्याः, तान्, ब्रह्मणः, 'तनुम्' विद्यात् ।।१/३६।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—ये=जो, द्विजाः=ब्रह्मर्षि गण, मानुषे=लौकिक, वित्ते=धन में, अनाढ्याः=हीन हैं, वेदेषु=ज्ञान में, आढ्याः=सम्पन्न हैं, ते=वे लोग, दुर्द्धर्षाः=अजेय, दुष्प्रकम्प्याः= अटल कहे गये हैं, अतः तान्=उन्हें, ब्रह्मणः=ब्रह्म का ही, तनुम्=स्वरूप, विद्यात्= समझें ।। १/३६।।

भावाऽर्थप्रभा—जो ब्राह्मण लौकिक धन, ऐश्वर्य आदि सम्पत्ति से निर्धन होने पर भी वेद प्रतिपाद्य अहिंसा व्रत आदि साधन सम्पन्न, एवं यज्ञ-उपासना आदि से सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी दशा में विचलित नहीं होते, उन्हीं को ही ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति समझनी चाहिए ।।१/३६।।

शां०भा०—अनाढ्याः अबहुमता असक्तात्मानो मानुषे वित्ते जायापुत्रवित्तादिषु, आढ्याः=वेदेषु वेदप्रतिपाद्याहिंसासत्यास्तेयापरिग्रहब्रह्मचर्यसमाधिसाधनेषु ये द्विजास्ते दुर्द्धर्षाः= दुष्प्रकम्प्याः । विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम्=ब्रह्मस्वरूपभूतान् इत्यर्थः ।।१/३६।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो द्विज स्त्री, पुत्र एवं धन इत्यादि मानुषी सम्पत्ति में अनाढ्य—अधिक न माने जाने वाले, अर्थात् अनासक्तचित्त और वेदों यानी वेदप्रतिपाद्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्यादि समाधि के साधनों में आढ्य-सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष यानी दुर्दमनीय होते हैं । उन्हें ब्रह्म का शरीर, अर्थात् ब्रह्म का ही स्वरूपभूत मानना चाहिए—यह इस श्लोक का तात्पर्य है ।।१/३६।।

शां०भा०—किं च ब्रह्मविन्महिमैषः—

भाष्याऽर्थप्रभा—एवं ब्रह्मवेत्ता की तो ऐसी महिमा है कि—

मू०— सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन ।

न समानो ब्राह्मणस्य यस्मिन् प्रयतते स्वयम् ।।१/३७।।

अन्वयः—यः, कश्चन, इह, सर्वान्, स्विष्टकृतः, देवान्, विद्यात्, यस्मिन्, स्वयं, प्रयतते, ब्राह्मणस्य, समानः, न ।।१/३७।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो, कश्चन=कोई भी, इह=इस संसार में, सर्वान्=सभी, स्विष्टकृतः=इष्टकारी, देवान्=देवताओं को, विद्यात=साक्षात्कार करता है, यस्मिन्=जिन देवताओं में, स्वयं=अपने आप ही, प्रयतते=प्रयत्न करता है, ब्राह्मणस्य=ब्रह्मज्ञानी के,

समान:=सदृश, न =नहीं है ॥१/३७॥

भावाऽर्थप्रभा—जो ब्राह्मण इस संसार में इष्टकारी देवताओं को जान लेता है, तो भी वह ब्रह्मज्ञानी के समान नहीं हो सकता, क्योंकि वह यज्ञादि कर्मोपासना करते हुए भी, अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए ही सदा प्रयत्नशील रहता है। किन्तु जो ब्रह्मज्ञानी है, वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप उनके समस्तव्यापार सदा के लिए निवृत्त हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में पहुँचकर साधक को किसी भी फल की अभिलाषा ही नहीं रह जाती ॥१/३७॥

शां० भा०—सर्वानग्न्यादीन् स्विष्टकृत: सुष्ठु इष्टं कुर्वन्तीति। तथा च श्रुति:—"स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृत्" इति। देवान् प्रत्येकमुद्दिश्य त्वागार्थं विद्याद् य इह कश्चन सर्वदेवतायाज्यपि ब्राह्मणस्य न समानो ब्राह्मणेन ब्रह्मविदा न समान इत्यर्थ:।

नैतदाश्चर्यम्—यस्मिन् देवताविशेषे हविष उद्देशत्यागेन फलार्थं प्रयतते स्वयं यजमान: "इदमग्नये इदमिन्द्राय" इति सोऽपि हविष्प्रतियोगी देवताविशेषो न समानो ब्रह्मविदा, किमु वक्तव्यं देवपशुर्यजमानो न समान इति। तथा च मोक्षधर्मे—

ब्राह्मणस्य न सादृश्ये वर्तते सोऽपि किं पुन:।
इज्यते-येन मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तम:॥

इति। तथा चाह भगवान् मनु:—

ब्रह्मविद्भ्य: परं भूतं न किंचिदिह विद्यते। इति ॥१/३७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो कोई अग्नि इत्यादि सभी स्विष्टकृत्—जो सम्यक् इष्ट करते हैं, जैसा कि "सम्यक् इष्ट करने से स्विष्टकृत्" यह श्रुति कहती है, इन देवताओं में से प्रत्येक को जो ब्राह्मण उनके उद्देश्य से हविष्य दान, अर्थात् हविर्दान करने के लिए जानता है, इस प्रकार का जो कोई भी इस लोक में समस्त देवताओं का यजन करने वाला है, वह भी इस ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ता के समान नहीं है—ऐसा इसका अर्थ है।

यह कदापि आश्चर्य नहीं है; क्योंकि जिस देवताविशेष के प्रति "यह अग्नि के लिए है, यह इन्द्र के लिए है" ऐसा कहकर हवि का त्याग करते हुए, यजमान फल की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता है, वह उस हवि का प्रतियोगी (उद्देश्यभूत)देवताविशेष भी उस ब्रह्मवेत्ता के समान नहीं होता, फिर उस देवता का पशु, यजमान, उसके समान नहीं है—इस विषय में तो कहना ही क्या है, ऐसा ही मोक्षधर्म में भी कहा है—"ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) की तुलना में तो वह (देवता) भी नहीं है; फिर जिस मन्त्र से उसका यजन किया जाता है और जो द्विजश्रेष्ठ यजन करता है, उनका तो कहना ही क्या है?" अत: भगवान् मनु भी यहाँ कहते हैं—"ब्रह्मवेत्ताओं से श्रेष्ठ इस लोक में और कोई नहीं है।"

इत्यादि ॥१/३७॥

शां० भा०—पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—यतः यह सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ से सम्बन्धित मोक्षप्रकरण है, जहाँ मुख्य अङ्ग के रूप में ज्ञानी का आचारण ही हुआ करता है, अतः अग्रिम ग्रन्थ से उसी के आचरण का वर्णन करते हैं—

मू०— यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः ।
न मान्यमानो मन्येत नावमानेऽनुसंज्वरेत् ।।१/३८।।

अन्वयः—तु, यं, अप्रयतमानम्, मानयन्ति, सः, मानितः, मान्यमानः, न मन्येत, तथा, अवमाने, अनुसंज्वरेत् ॥१/३८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तु=किन्तु, यं=जिसे, अप्रयतमानम्=प्रयत्न न करने वाले को, मानयन्ति=सम्मानित करते हैं, सः=वह, मानितः=मानित होता हुआ, मान्यमानः=अपने को मान्यवान्, न=नहीं, मन्येत=माने, तथा=तथा, अवमाने=उपेक्षित होने पर, अनुसंज्वरेत्= अनुताप करे ॥१/३८॥

भावाऽर्थप्रभा—अपने माहात्म्य का प्रदर्शन न करने वाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष को विद्वान् लोग ब्रह्मज्ञानी मानकर पूजते हैं, सम्मान देते हैं, तो भी वह आत्मज्ञ "मेरा सम्मान हो रहा है" इस प्रकार न मानें एवं कुछ लोग अज्ञानी कहकर उसकी अवज्ञा भी करें तो वह किसी भी प्रकार अपने मन में क्षोभ उत्पन्न न करें, वही वास्तव में श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी है ॥१/३८॥

शां० भा०—यं ब्रह्मविदम् अप्रयतमानं=तूष्णीभूतं सर्वोपसंहारं कृत्वा स्वे महिम्नि व्यवस्थितं ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासिनं वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थं परमहंसपरिव्राजकाचार्यं गूढ़चारिणं केचिद्विद्वांसः स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञा ब्रह्मविदिति मत्वा मानयन्ति=पूजयन्ति चेत्, स तैः पूजितो विद्वान् न "मान्यमानः अहम्" इति मन्येत । तथा, स्थितप्रज्ञलक्षणानामनभिज्ञा "जड इति" मत्वा अवमानं कुर्वन्ति इति चेत् तस्मिन् अवमाने निमित्ते नानुसंज्वरेत्= नानुतप्येत् ॥१/३८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—किसी प्रकार का प्रयत्न न करने वाले, मौनावलम्बी, सम्पूर्ण विषयों का उपसंहार कर, अपनी महिमा में स्थित, ब्रह्मचर्य से ही संन्यास करने वाले, वेदान्त विचार द्वारा परमार्थतत्त्व में सुनिश्चित तथा अज्ञातरूप से आचरण करने वाले जिस परमहंस-परिव्राजकाचार्य का कोई स्थितप्रज्ञ के लक्षण जानने वाले विद्वान् 'यह ब्रह्मवेत्ता है' ऐसा मानकर यानी पूजन करें तो उनसे पूजित हुआ वह विद्वान् 'मैं सम्मानित हुआ हूँ' ऐसा न माने और यदि सितिप्रज्ञ के लक्षण न जानने वाले पुरुष 'यह मूर्ख है' ऐसा

समझकर उसका अपमान करें, तो उस अपमान के कारण उसे अनुताप नहीं करना चाहिए।

(अब मानापमान की दशा में ज्ञानी की समस्थिति का वर्णन)

शां० भा०—कथं तर्हि मानितेनावमानितेन वा मन्तव्यम्? इत्याह श्लोकद्वयेन—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब निम्नांकित दो श्लोकों के माध्यम से यह बताते हैं कि सम्मानित या अपमानित होने पर उस विषय में ज्ञानी पुरुष को क्या समझना चाहिए—

मू०— लोकस्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ।।१/३९।।

अन्वयः—इह, विद्वांसः, मानयन्ति, तु, मानितः, निमेषोन्मेषवत्, लोकस्वभाववृत्ति, इति, सदा, मन्येत ।।१/३९।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—इह= इस संसार में, विद्वांसः=विद्वज्जन, मानयन्ति=सम्मान देते हैं, तु=तो, मानितः=सम्मानित पुरुष, निमेषोन्मेषवत्=आँख खोलने और बन्द करने के समान, लोकस्वभाववृत्ति=संसार की यह प्रवृत्ति, इति=इस प्रकार, सदा=नित्य, मन्येत= मानता रहे।

भावाऽर्थप्रभा—जगत् में जब विद्वान् लोग सम्मान करते हैं, तो आदरणीय पुरुष को ऐसा समझना चाहिए कि नेत्र खुलने और बन्द होने के समान यह संसार की स्वाभाविक प्रकृति ही है। सन्तपुरुष विद्वज्जन द्वारा दिये गये सम्मान का आदर करते हैं, एवं अभद्र पुरुष अनादर। इससे न तो हानि है, और न ही लाभ ही है। इस प्रकार संसार की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति में मनुष्य को उलझना नहीं चाहिए ।।१/३९।।

शां० भा०—लोकेति। यदिदं विद्वांसो ब्रह्मविदं मानयन्ति इति तत्तेषां निमिषोन्मेषवत् स्वभाववृत्तिः स्वाभाविकी वृत्तिः इति मन्येत ।।१/३९।।

भाष्याऽर्थप्रभा—ये विद्वान् लोग जो ब्रह्मवेत्ता का मान करते हैं, वह निमेषोन्मेष के समान उनकी स्वभाववृत्ति—स्वाभाविक प्रवृत्ति है—ऐसा उसे (मान होने पर) मानना चाहिए।

मू०— अधर्मविदुषो मूढा लोकशास्त्रविवर्जिताः।
न मान्यं मानयिष्यन्ति एव मन्येदमानितः ।।१/४०।।

अन्वयः—अधर्मविदुषः, मूढाः, लोकाः, शास्त्रविवर्जिताः, मान्यम्, न, मानयिष्यन्ति, अमानितः, एवं, मन्येत ।।१/४०।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—अधर्मविदुषः=अधर्म में पारंगत, मूढाः=मूढ़, लोकाः=प्राणी, शास्त्र-विवर्जिताः=शास्त्र से रहित, मान्यम्=मानने योग्य सत्यपुरुष को, न=नहीं, मानयिष्यन्ति= मान्यता देते हैं, अमानितः=अमानित होला हुआ, एवं=ऐसा ही, मन्येत=समझे ॥१/४०॥

भावाऽर्थप्रभा—किन्तु इस संसार में जिन मनुष्यों की अधर्म में ही प्रवृत्ति है, उसी में वे निपुण हैं एवं शास्त्र के मार्ग से अनभिज्ञ हैं, अर्थात् ऐसे मनुष्य छल-कपट में चतुर हैं। वे सम्मान के योग्य पुरुषों का आदर नहीं करते। ऐसे मनुष्यों की बुद्धि लौकिक विषयों में ही उलझी रहती है। वे धन, बल, तथा यश, आदि का ही सदैव चिन्तन करते हैं। अतः ऐसे प्राणी मूढ़ पुरुष ब्रह्मवेत्ता को जानने में समर्थ नहीं होते, अर्थात् नहीं जान पाते हैं ॥१/४०॥

शां० भा०—तथा, अवमानितो जनैरवज्ञातो विद्वानेवं मन्येत—अधर्मविदुषो मूढा विवेकहीना लोकशास्त्रविवर्जिता न मान्यं मानार्हं मानयिष्यन्ति, अमान्यमपि मानयिष्यन्ति, इत्येतदविदुषां स्वभाव इति मन्येत अमानितोऽपूजितो विद्वान् ॥१/४०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—अन्य सांसारिक अज्ञानी लोगों द्वारा अपमानित किये जाने पर, उस अपमानित विद्वान् को ऐसा समझना चाहिए कि जो धर्म से अनभिज्ञ अर्थात् धर्म-अधर्म के भेद से अनजान, मूढ़-विवेक से सर्वथा रहित, एवं लोक और शास्त्र से बाह्य हैं, वे कभी माननीयों का आदर नहीं करेंगे और कभी-कभी इसके विपरीत स्वमूढ़तावश अमाननीय लोगों का ही सम्मान करने लगेंगे—यह भी अज्ञानियों का स्वभाव ही है ॥१/४०॥

(मान और मौन के विभिन्न फल का प्रतिपादन)

शां० भा०—इदानीं मानमौनयोर्भिन्नविषयत्वमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब मान और मौन की भिन्नविषयता के बारे में कहा जा रहा है—

मू०— न वै मानञ्च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं मानस्य विषयो ह्यसौ मौनस्य तद्विदुः ॥१/४१॥

अन्वयः—वै, मानम्, च, मौनम्, सदा, सहितौ, न, वसन्तः, च, अयम्, मानस्य, विषयः, मौनस्य, असौ, विदुः ॥१/४१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—वै=निश्चय, मानम्=सम्मान, च=और, मौनम्=ब्राह्मी स्थिति, सदा=सर्वदा, सहितौ=एक साथ, न=नहीं, वसन्तः=रह सकते, च=क्योंकि, अयम्=यह सांसारिक प्रतिष्ठा, मानस्य=लौकिक मान का, विषय=विषय है, मौनस्य=ब्रह्मज्ञान का, असौ=ब्राह्मी स्थिति ही, विदुः=निश्चित की गयी है।

भावाऽर्थप्रभा—यह निश्चित बात है कि मान और मौन दोनों सदैव एक साथ

इस लोक में रहते हैं। मान देने के लिए अनेक प्रकार की प्रशंसा में रत होना पड़ता है, और मौन धारण करने से आत्म-चिन्तन व्यापक होता है। अत: मान से इस लोक में सुख मिलता है और मौन से परलोक में, अर्थात् लोकानुरञ्जन का साधन मान है, और परमार्थ का विषय मौन है।

शां० भा०—न वै मानं च मौनं च सहितौ=एकत्र वसत: सदा। अयं प्रत्यक्षादिगोचरो लोको—लोक्यत इति प्रपञ्चो मानस्य विषय:। असौ परलोको मौनस्य। कोऽसौ। तद् विदु:। तदिति ब्रह्मणो नाम। तथा चाह भगवान्—

"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:" इति। तथा चानुगीतासु—

"ॐ तत्सद्विष्णवे चेति सायुज्यादिप्रदानि वै।" इति तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म मौनस्य विषय इत्यर्थ:। एतदुक्तं भवति—मानात्संसारप्राप्ति:, मौनेन ब्रह्मप्राप्तिरिति। उक्तं च हैरण्यगर्भे—

अन्नाङ्गनादिभोगेषु भावो मान इति स्मृत:।

ब्रह्मानन्दसुखप्राप्तिहेतुर्मौनमिति स्मृतम्।।इति।।१/४१।।

भाष्याऽर्थप्रभा—मान एवं मौन, ये दोनों मिलकर सदैव ही एक जगह नहीं रहते। इसका अर्थ यह है कि यह प्रत्यक्षादि का विषयीभूत लोक—जो दिखाई देता है, ऐसा यह प्रपञ्च तो मान का विषय है और वह परलोक मौन का विषय है। वह परलोक कौन-सा है? जिसे "तत्" नाम से जानते हैं। "तत्" यह ब्रह्म का नाम है; जैसा कि भगवान् ने कहा है—"ॐ तत्सत्"—यह तीन प्रकार का ब्रह्म का ही निर्देश (सूचक-नाम) माना गया है।" 'तत्' शब्द को लेकर, अनुगीता में इस प्रकार कहा है—"ॐ तत्सद्विष्णवे" ये पद निश्चय ही सायुज्य आदि मुक्तियाँ प्रदान करने वाले हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि "तत्" शब्दवाच्य ब्रह्म मौन का विषय है। अत: यहाँ इसी बात पर प्रकाश डाला गया है कि "मान से संसार की प्राप्ति होती है और मौन से ब्रह्म की।" हिरण्यगर्भसंहिता में भी कहा गया है—"अन्न और स्त्री आदि भोगों में मन की प्रवृत्ति होना "मान" कहा गया है, तथा मौन ब्रह्मानन्द के सुख की प्राप्ति का कारण है—ऐसा महर्षियों के द्वारा स्पष्टरूप से कहा गया है" ॥१/४१॥

शां० भा०—इदानीं मानार्थसंवासेऽपवर्गाभावं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब मान सम्बन्धी विषयों में रत रहने के कारण मोक्ष की प्राप्ति की न होने की बात बताते हैं—

मू०— श्रीर्हि मानार्थसंवासात् सा चापि परिपन्थिनी।

ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय।।१/४२।।

अन्वयः—हे क्षत्रिय, मानार्थसंवासात्, हि, श्रीः, अपि, सा, परिपन्थिनी, हि, विद्याहीनेन, ब्राह्मी श्रीः, सुदुर्लभा ॥१/४२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—हे क्षत्रिय=हे राजर्षि!, मानार्थसंवासात्=मान के लिए नीतिपूर्वक रहने से, अर्थात् संसार के व्यावहारिकगति का अनुगम करके, तथा व्यवहारसम्पादन की कुशलता से, हि=अवश्य, श्रीः=लक्ष्मी प्राप्त होती है, अपि=किन्तु, सा=वह लौकिक लक्ष्मी, परिपन्थिनी=परमार्थ की विरोधी है, हि=और, विद्याहीनेन=ब्रह्मविद्या से जो हीन हैं, उनके लिए, ब्राह्मीश्रीः=ब्राह्मीस्थिति रूपी लक्ष्मी, सुदुर्लभा=अतीव दुर्लभ है।

भावाऽर्थप्रभा—हे राजन्! मान के लिए लौकिक सुख के साधनों का अनुष्ठान करने के से लक्ष्मी की प्राप्ति तो अवश्य होती है, परन्तु वह लक्ष्मी परम श्रेय के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है। अर्थात् इस लोक में होने वाला सुख, या सांसारिक सुख मोक्ष की प्राप्ति में बाधक ही हुआ करता है। वस्तुतः अज्ञान के अंधकार से समावृत प्राकृत जनों के लिए ब्राह्मी स्थितिरूप लक्ष्मी अत्यन्त ही दुर्लभ है। वे लौकिक उपभोगों में ही लिप्त रहते हैं। ऐसे लोग प्रज्ञाचक्षु से हीन होने के कारण श्रेय-मार्ग को देखने में असमर्थ होते हैं ॥१/४२॥

शां० भा०—हे क्षत्रिय! मानार्थसंवासान्मानविषयसंवासान्मानगोचरे प्रपञ्चे वर्तमानस्य स्वर्गपश्वन्नादिसाधनभूतं कर्मानुतिष्ठतो विषयविषान्धस्य श्रीर्हि भवति। सा चापि श्रीः परिपन्थिनी श्रेयोमार्गविरोधिनी। तथा च मोक्षधर्मे—

निबन्धिनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतौ रतिः।

छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नैनं छिन्दन्ति दुष्कृतः।।इति।।

य एवं श्रियाभिभूतो मूढः सन् विषयेषु प्रवर्तते तेन प्रज्ञाहीनेन विद्याहीनेन ब्राह्मी=ब्रह्मानन्दलक्षणा श्रीः सुदुर्लभा। तथा च हैरण्यगर्भे—

या नित्या चिद्घनानन्दा गुणरूपविवर्जिता।
आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते।। इति।।

सा च सुदुर्लभा श्रवणायापि न शक्या। तथा च श्रुतिः—"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः" इति ॥१/४२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे क्षत्रिय! मानार्थसंवास से—मानसम्बन्धी विषयों में रहने से यानी मानविषयक प्रपञ्च में रत रहने वाले अर्थात् स्वर्ग, पशु एवं अन्नादि के साधनभूत कर्मों का अनुष्ठान करने वाले, विषयों के पिपासु (विषय-विषान्ध) पुरुष को सांसारिकवभैव को प्रदान करने वाली, लक्ष्मी ही मिलती है; लेकिन वह लक्ष्मी भी ऐहलौकिक सुख प्रदानद्वारा परमार्थपथ की परिपन्थिनी ही हुआ करती है,अर्थात् श्रेयोमार्ग की विरोधिनी ही

होती है। जैसा कि मोक्षधर्म में भी वर्णित है—"ग्राम के भीतर वास करने में जो राग उत्पन्न होता है, वह बन्धन में बाँधने वाली रस्सी ही है। पुण्यात्मा लोग इसका छेदन करके निकल जाते हैं, किन्तु पुण्यहीन लोग इसका छेदन करने में असमर्थ होते हैं।"

जो इस प्रकार लक्ष्मी के जाल में फँसकर अविवेकी की भाँति विषयों में प्रवृत्त होता है, उस प्रज्ञाहीन अर्थात् ज्ञानहीन पुरुष को ब्राह्मी—ब्रह्मानन्दरूपा लक्ष्मी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा ही हिरण्यगर्भसंहिता में भी कहा गया है—"जो नित्य, चिद्घनानन्दस्वरूपा तथा गुण और रूप से रहित है, वह आनंन्द नाम की परमशुद्धा ब्राह्मी श्री कही जाती है।" किन्तु वे बड़ी दुर्लभ हैं—अर्थात् वह ब्राह्मी लक्ष्मी सुनने के लिए भी मिलपाना कठिन है। इस विषय में श्रुति का स्पष्ट कथन है कि—"वे परमशुद्धा ब्राह्मी श्री तो बहुतों को सुनने के लिए भी मिलने वाली नहीं हैं" इत्यादि ॥१/४२॥

(ब्राह्मी लक्ष्मी में प्रवेश के द्वार का कथन)

शां०भा०—इदानीं ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब ब्राह्मी लक्ष्मी में प्रवेश करने का मार्ग (द्वार) दिखाया जाता है—

मू०— द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति सन्तो बहुप्रकाराणि दुराचराणि।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्याः षण्मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥१/४३॥

अन्वयः—सन्तः, दुराचराणि, बहुप्रकाराणि, द्वाराणि, सम्यक्, प्रवदन्ति, सत्यार्जवे, ह्रीः, दमशौचविद्याः, षट्, मानमोहप्रतिबन्धकानि।

अन्वयाऽर्थप्रभा—सन्तः(=सज्जनाः) सन्तपुरुष, दुराचराणि=कठिनता से साध्य, बहुप्रकाराणि=अनेक, द्वाराणि=द्वारों को, सम्यक्=अच्छी तरह, प्रवदन्ति=बतलाते हैं, सत्यार्जवे=सत्य एवं नम्रता, ह्रीः=लोकलज्जा, दमशौचविद्याः=इन्द्रियसंयम, पवित्रता एवं अध्यात्मविद्या, षट्=ये छः, मानमोहप्रतिबन्धकानि=मान-मोहादि के बाधक हैं।

भावाऽर्थप्रभा—उस ब्राह्मी पदरूप लक्ष्मी की प्राप्ति के साधनीभूत छः प्रकार के मुख्य द्वार कहे गये हैं, जिनका आचरण अर्थात् जिनके ऊपर आरूढ हो पाना अत्यन्त कठिन काम है। (अत्यन्त कठिनता से सिद्ध करने योग्य है।) वे इस प्रकार हैं—(१) सत्य, (२) अकुटिलता, (३) लज्जा, (४) दम, (=मन पर नियन्त्रण करना, अर्थात् मन को अपने अधीन करना। कुछ लोग बाहर के इन्द्रियों को अपने अधीन करना ही "दम" शब्द के अर्थ रूप में स्वीकार करते हैं) (५) पवित्रता, (६) अध्यात्मविद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्या। ये छः साधन इस जगत् में मान तथा मोह के प्रतिबन्धक हैं ॥१/४३॥

इस प्रकार सनत्सुजातीयदर्शन के अन्तर्गत प्रथमाऽध्याय की व्याकरण-न्याय-

सांख्ययोग-पूर्वोत्तरमीमांसाचार्य मैथिलपण्डित चित्तनारायणपाठक द्वारा विरचित भावाऽर्थप्रभा व्याख्या समाप्त हुई ॥१/४३॥

शां० भा०—द्वाराणि ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि सन्तः सम्यक् प्रवदन्ति बहुप्रकाराणि दुराचाराणि दुःखाचरणानि। कानि तानि? सत्यार्जवे—सत्यं यथार्थभाषणं भूतहितं च। आर्जवम्, अकौटिल्यम्। ह्रीः, अकार्यकरणे लज्जा। दमशौचविद्याः—दमः—अन्तःकरणोपरतिः। बहिःकरणोपरतिरिति केचित्। शौचं कल्मषप्रक्षालनम्। विद्या ब्रह्मविद्या। षडेतानि मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥१/४३॥

॥ इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाऽऽचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पादशिष्यश्रीशङ्कर-भगवतः कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—सन्तजन ब्रह्मलक्ष्मी के प्रवेश करने हेतु अनेक प्रकार के दुराचार अर्थात् कठिनता से आचरण किये जाने वाले द्वारों का वर्णन करते हैं। वे द्वार कौन-से हैं? इस सन्दर्भ में आगे कहते हैं—''सत्यार्जवे''—''सत्य'' अर्थात् प्राणियों के लिए हितकारी और यथार्थ भाषण, ''आर्जव''—अकुटिलता (सौम्यता), ''ह्री''—न करने योग्य कार्य के करने में संकोच होना, ''दमशौचविद्याः''—अर्थात् ''दम''—अन्तःकरण की शान्ति, विषयों से उपरति, किसी-किसी के मत में बाह्य करणों की (नेत्र आदि इन्द्रियों की) विषयों से उपरति, ''शौच''—मलिनता का मार्जन तथा ''विद्या''—ब्रह्मविद्या। ये छः गुण मान और मोह के प्रतिबन्धक तत्त्व हैं ॥१/४३॥

॥ इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योग-पर्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसम्बादे श्रीसनत्सुजातीये श्रीपरिब्राजकाऽऽचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य श्रीशङ्करभगवतः कृतस्य श्रीसनत्सुजातीयभाष्यस्य व्याकरणन्यायसांख्ययोगपूर्वोत्तरमीमांसाचार्येण मैथिलपण्डितेन पाठकोपाधिना श्रीचित्तनारायणेन कृतयोः अन्वयाऽर्थप्रभाभावाऽर्थप्रभानामकयोः व्याख्ययोः प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

**

द्वितीयोऽध्याय:

मौनविषयक प्रश्न

शां० भा०—अयं मानस्येत्यादिना मौनमाहात्म्यं प्रदर्शितं श्रुत्वा प्राह धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—"अयं मानस्य" इत्यादि श्लोकों से दिखलाये गये मौन के माहात्म्य को सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम् ।

मौनेन विद्वानुपयाति मौनं कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ।।२/१।।

अन्वयः—धृतराष्ट्र उवाच, विद्वन्, कस्य, एष, मौनः, नु, कतरत्, मौनम्, मौनभावम्, प्रब्रू हि, उत्, विद्वान्, मौनेन, मौनम्, कथ, याति, मुने, इह, आचरन्ति ॥२/१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र ने सनत्सुजात से इस प्रकार कहा—, विद्वन्=हे परमार्थतत्त्व के रहस्य को जानने वाले सनत्सुजात जी!, कस्य=किसका सम्बन्धी, एष=यह, मौनः=मौन हुआ करता है, नु=तथा निश्चित रूप से, कतरत्=किस तरह का यह, मौनम्=मौन है, (इह=यहाँ), मौनभावम्=मौन के रहस्य को, प्रब्रू हि=बतायें, उत्=अथवा, विद्वान्=विद्वान् जन, मौनेन=मौन द्वारा, मौनम्=मौन ब्रह्म को, कथं=कैसे, याति=प्राप्त करते हैं, तथा, मुने=हे मुनि!, इह=इस लोक में कैसे, (मौनम्=मौन का), आचरन्ति=आचरण करते हैं ।।२/१॥

भावाऽर्थप्रभा—प्रथम अध्याय के अन्त में मौन का माहात्म्य बताया गया है, उसे सुनकर धृतराष्ट्र के मन में इस विशिष्ट मौन के विषय में इस प्रकार से जिज्ञासा उत्पन्न हुई—

धृतराष्ट्र ने कहा=हे मुनिवर! यह वाक् निरोधात्मक मौन किस स्वभाव के पुरुष को होता है। यह असम्भाषण रूप तथा आत्मस्थिति स्वरूप मौन में से कौन-सा मौन है। भगवन्, आप इस मौन के विषय में मुझे बताइए। क्या इस वाक्-निरोधात्मक मौन से इस आत्मलाभ स्वरूप मौन को विद्वान् प्राप्त करता है। लोक में ब्रह्म-जिज्ञासु इस मौन का आचरण कैसे करते हैं? ॥२/१॥

शां० भा०—कस्य कीदृशस्य एष पूर्वोक्तो वागाद्युपरतिलक्षणो मौनो भवति? कतरन्नु एतरयोरसम्भाषणात्मस्वरूपयोर्मौनम्? प्रब्रूहि हे विद्वन्! इह मौनभावम्। मौनस्य स्वभावम्। मौनेन=तूष्णींभावेन विद्वानुपयाति मौनं ब्रह्म, आहोस्विदमन्येन? कथं मुने! मौनमिहाचरन्ति? ॥२/१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—किस प्रकार के पुरुष को यह वाणी आदि की निवृत्तिरूप पूर्वोक्त मौन हो सकता है? तथा यह असम्भाषण एवं आत्मस्वरूप मौनों में से कौन-सा, व किस तरह का मौन है? हे विद्वन्! आप उस मौनभाव अर्थात् मौन के स्वभाव का वर्णन कीजिए। विद्वान् असम्भाषण मौन के द्वारा मौन—ब्रह्म को प्राप्त होता है, अथवा आत्मस्वरूप दूसरे मौन के द्वारा? हे मुने! इस लोक में लोग किस प्रकार मौन का आचरण करते हैं? ॥२/१॥

मौन का लक्षण

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् सनत्सुजात ने कहा—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततः स मौनम्।

यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन्॥२/२॥

अन्वयः—सनत्सुजात उवाच, राजन्, यतः, वेदाः, (मनसा), एनम्, न, अनुप्रविशन्ति, ततः, मौनम्, तथा, अयम्, वेदशब्दः, यत्र, उत्थितः, सः, तन्मयत्वेन, विभाति ॥२/२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच= धृतराष्ट्र द्वारा पूछे गये उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् सनत्सुजात जी ने कहा—राजन्=हे राजन्!, यतः=जिससे कि, वेदाः=सभी वेद, (मनसा=मन के सहित) एनम्=परब्रह्म को, न=नहीं, अनुप्रविशन्ति=जान सकते हैं, ततः=इसी से, मौनम्=मौन यही है, तथा=और, अयम्=यह, वेदशब्दः=शब्दात्मक वेद, यत्र=जिसमें, उत्थितः=अंकुरित होता है। सः=वह ब्रह्म, तन्मयत्वेन=तन्मय होने से, विभाति=भासित होता है।

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजातीय ने कहा—जहाँ से मन के सहित वाणीरूप वेद, उस ब्रह्म में प्रवेश नहीं कर पाते, अर्थात् लौट आते हैं, अर्थात् जो वाणी और मन से अगोचर है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", अतएव उसी ब्रह्म को यहाँ मौन कहा गया है। उसी परब्रह्म परमात्मा से वैदिक और लौकिक शब्द-समूह प्रकट हुआ है, अर्थात् यही ब्रह्म शास्त्र की योनि=उत्पत्ति स्थान है, अर्थात् उसी ब्रह्मप्रतिपादकशास्त्र के द्वारा, उस मौन रूप ब्रह्म का ज्ञान होता है। इस विषय को लेकर श्रुति कहती है—"तस्मान्निःश्वसिताः वेदा" उस परमेश्वर का तन्मयतापूर्वक ध्यान करने से वे प्रकाश में आते हैं। तात्पर्य यह है कि वाङ्मनसातीत उस परब्रह्म की अनुभूति तभी होती है जब पुरुष श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा बार-बार आत्मचिन्तन करते हुए निर्विकल्पक

समाधि को प्राप्त हो जाता है। वही मौनावस्था ब्राह्मी स्थिति है ॥२/२॥

शां० भा०—यतो=यस्माद्वेदा मनसा सह एनं परमात्मानं नानुप्रविशन्ति। तथा च श्रुतिः—"यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" इति। ततः=तस्मादेव कारणात् स एव वाचामगोचरः परमात्मा मौनम् ॥

यद्येवं किं लक्षणस्तर्हि परमात्मा? तत्राह—यत्रोत्थितो वेदशब्दः—यस्मिन्नर्थे निमित्तभूते समुत्थितो वेदशब्दः, शास्त्रादिकारणं ब्रह्मेत्यर्थः। अथवा यस्मिन् संवेदनाख्ये उत्थितो= वाचकत्वेन प्रयुक्तो वेदशब्द इत्यर्थः। तथा वेदशब्दप्रतिपाद्यः संविद्रूपोऽयं परमात्मा।

भाष्याऽर्थप्रभा—क्योंकि मन सहित वेद इस व्यापक परमात्मा में अनुप्रविष्ट नहीं हो सकते, इसलिए यह (परमात्मा) ही मौन है। इस विषय में श्रुति भी अपने मन्तव्य को प्रकाशित करते हुए इस प्रकार व्यक्त हुई है—"जहाँ मन के सहित वाणी नहीं पहुँच पाती और लौट आती है अर्थात् मनसहितवाणी विषयप्रकाशनाऽऽत्मक अपने व्यापार को कर पाने में असमर्थ होकर, ब्रह्म को बिना प्रकाशित किये ही अपने स्थान में लौट जाती है।" अतः इसी कारण से वाणी का अगोचर वह परमात्मा ही मौन है।

यदि ऐसी ही बात है अर्थात् समस्त प्रत्यक्षप्रमाणों के व्यापार का अविषय होता है तो वह परमात्मा किस प्रकार से, लक्षणों वाला हो सकता है? अर्थात् यदि ब्रह्म प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञातव्य नहीं, तो पुनः वह किस प्रमाण से जानने के योग्य हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं—अपने निमित्तभूत जिस अर्थ में "वेद" शब्द का प्रयोग हुआ है, वह ब्रह्म, शास्त्रादि का कारण है। अथवा यहाँ पर इस प्रकार समझना चाहिए कि जिस संवेदनरूप अर्थ में, उसके वाचकरूप से "वेद" शब्द का प्रयोग हुआ है, वह परमात्मा है। इस प्रकार यह "वेद" शब्द प्रतिपाद्य परमात्मा, संविद्रूप है। इसका सार यह है कि परमाऽऽत्मविषय में एकमात्र श्रुतिप्रमाण है।

शां० भा०—यदि वाचामगोचरः परमात्मा, कथमेतदवगम्यते संविद्रूपः परमात्मेति? तत्राह—स परमात्मा तन्मयत्वेन=ज्योतिर्मयेत्वेनैवास्माकं विभाति राजन्। एवमेवास्मदनुभवो नात्रा-विश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः। अथवा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु ज्योतिर्मयत्वेन प्रतीयते। तथा च श्रुतिः—"तद्देवा ज्योतिषाम्", "अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" इति। तथा च भगवान्—ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥इति ॥२/२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—यदि परमात्मा वाणी का अविषय है तो यह कैसे जाना जा सकता है कि वह संवित्स्वरूप है? इसके समाधान में कहते हैं—हे राजन्! वह परमात्मा हमें तन्मय, यानी ज्योतिःस्वरूप से ही मालूम पड़ता है। हमारी अनुभूति कुछ ऐसी ही है, इसलिए इसमें अविश्वास नहीं करना चाहिए—यही इसका तात्पर्य है। अथवा यूँ समझा जाय कि श्रुति-स्मृति-इतिहास एवं पुराणादिकों में वह ज्योतिःस्वरूप के रूप में प्रतीत होता है; जैसा कि श्रुति का कथन है—"उसे देवगण ज्योतियों का ज्योति बतलाते हैं", वह शरीर के अन्दर शुभ्र ज्योतिर्मय है, जिसे वे लोग ही देख पाते हैं, जिनके दोष क्षीण हो चुके हैं, अर्थात् यतिजन ही उनका अनुभव कर पाने में समर्थ हुआ करते है,

क्योंकि इन्होंने परिश्रम के द्वारा अपने दोषों को क्षीण कर लिया होता है।" इत्यादि। एवं भगवान् भी कहते हैं—"वह ज्योतियों का भी ज्योति और अन्धकार से अतीत कहलाता है ॥२/२॥

(वेदाध्यायी को पाप का लेप होता है अथवा नहीं ?)

शां० भा०—इदानीं वेदस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब वेदों के स्वभाव का परिचय पाने के लिए धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचो यजूंष्यधीते यः सामवेदं च यो द्विजः ।

पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते न स लिप्यते ।।२/३।।

अन्वयः—यः, द्विजः, पापानि, कुर्वन्, ऋचः, यजूंषि, च, यः, सामवेदम्, अधीते। सः, पापेन, लिप्यते, वा, न, लिप्यते ॥२/३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो, द्विजः=ब्राह्मण, पापानि=पापकर्मों को, कुर्वन्=करता हुआ, ऋचः=ऋग्वेद, यजूंषि=यजुर्वेद, सामवेदम्=सामवेद को, अधीते=पढ़ता है। सः=वह, पापेन=पाप से, लिप्यते=लिप्त होगा, वा=या, न=नहीं, लिप्यते=लिप्त हुआ करता है? ॥३/३॥

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—भगवन्! जो ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद का ज्ञाता है, फिर भी जो पाप करता है, तो क्या वह पाप से लिप्त होता है?, या नहीं?

शां० भा०—यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीनधीते स तेन वेदाध्ययनेन पूयते न वा? एतद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥२/३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो पापाचरण करते हुए ऋगादि वेदों का अध्ययन करता है, वह उस वेदाध्ययन के द्वारा पवित्र होता है या नहीं? यह आप वर्णन कीजिए—ऐसा इसका तात्पर्य (अभिप्राय) है ॥२/३॥

(वेदाध्ययन पाप से रक्षा करने में असमर्थ है)

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् सनत्सुजात ने कहा—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

नैनं सामान्यृचो वापि यजूंषि च विचक्षण ।

त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ।। २/४।।

अन्वयः—विचक्षण, सामानि च, ऋचः, यजूंषि, वापि, एनम्, पापात् कर्मणः, न, त्रायन्ते, ते, मिथ्या, अहम्, न ब्रवीमि ॥२/४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—विचक्षण=धीमन्! सामानि च=सामवेद और, ऋचः=ऋग्वेद, तथा, यजूंषि=यजुर्वेद, वापि=भी, एनम्=इस पापात्मा को, पापात् कर्मणः=पाप कर्म से, न=नहीं, त्रायन्ते=रक्षा कर सकते हैं, ते=तुमसे, मिथ्या=झूठ, अहम्=मैं, न=नहीं, ब्रवीमि=कह रहा हूँ ।

भावाऽर्थप्रभा—भगवान् सनत्सुजात बोले=राजन्! मैं आपके इस प्रश्न के विषय में कुछ भी मिथ्यावचन नहीं कहूँगा । जो भी पुरुष पापाचरण करता है, चाहे वह ऋक्, यजुः और साम का विशिष्ट ज्ञाता भी क्यों न हो, वे उस अज्ञानी की पापकर्म से रक्षा नहीं कर पाते ।

शां० भा०—यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीनधीते नैनं प्रतिषिद्धचारिणम् ऋग्वेदादयो वेदाः पापात्कर्मणस्त्रायन्ते=न रक्षन्ति । न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम्, एवमेवैतत्, नात्राविश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥२/४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो व्यक्ति पापकर्म करता हुआ ऋग्वेदादि का अध्ययन करता है, उस निषिद्धाचारी की ऋगादि वेद पापकर्म से रक्षा नहीं कर सकते । मैं तुमसे झूठ नहीं कह रहा, यह बात ऐसी ही है । तुम्हें इसमें अविश्वास नहीं करना चाहिए—यह इसका तात्पर्य है ।

शां० भा०—किं कुर्वन्तीति चेत्, तत्राह—

भाष्याऽर्थप्रभा—तो वे (वेद) क्या करते हैं? यह प्रश्न पूछने पर कहते हैं—

मू०— न च्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।

नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहन्त्यन्तकाले ।। २/५।।

अन्वयः—छन्दांसि, मायया, वर्तमानम्, मायाविनं, वृजिनात्, न, तारयन्ति, जातपक्षाः, शकुन्ताः, इव, नीडम्, छन्दांसि, एनम्, अन्तकाले, प्रजहति ॥२/५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—छन्दांसि=सारे वेद, मायया=छलपूर्वक, वर्तमानम्=व्यवहार करने वाले, मायाविनं=मायावी धूर्त को, वृजिनात्=पाश के दल-दल से नहीं, तारयन्ति=तार सकते हैं और, जातपक्षाः=पंख निकलने पर, शकुन्ताः=पक्षी के बच्चे, इव=जैसे, नीडम्=घोंसला को, छोडद्यकर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार छन्दांसि=सारी ऋचाएँ,

एनम्=इस शरीर में ही आत्मबुद्धि वाले पापी प्राणी को, अन्तकाले=प्राण निकलते समय, प्रजहति=त्याग देतीं हैं। ॥२/५॥

भावाऽर्थप्रभा—वेद प्रतिपादित परब्रह्म के स्वरूप को जानने पर भी जो कपटपूर्वक धर्म का आचरण करता है, अर्थात् शरीराध्यासपूर्वक ही कर्मों को करता है, उस मिथ्याचारी का वेद, पापों से उद्धार नहीं करते। जैसे पंख निकल आने पर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तिम समय आने पर वेद उसका परित्याग कर देते हैं ॥२/५॥

शां० भा०—न च्छन्दांस्येनं वृजिनादधर्मान्नास्तिकं पापकारिणमधीतवेदमधीतवेदार्थं मायाविनं धर्मध्वजिनं मायया वर्तमानं मिथ्याचारिणं तारयन्ति=न रक्षन्ति। किं करिष्यन्तीति चेत्—यथा शकुन्ताः पक्षिणो जातपक्षाः सन्तो नीडं स्वाश्रयं परित्यजन्ति, एवं छन्दांस्यन्तकाले= मरणकाले एनं=स्वाश्रयभूतं प्रजहन्ति=परित्यजन्ति, न पुरुषार्थाय भवन्तीत्यर्थः ॥३/५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस अधीतवेद पुरुष को, अर्थात् वेदार्थ का अध्ययन करने वाले, इस मायावी-धर्मध्वजी पापाचारी नास्तिक को, अध्ययन के माध्यम से अर्जित वेद रक्षा नहीं कर पाते हैं, अर्थात् मायायुक्त एवं कपटपूर्वक व्यवहार करने वाले मिथ्याचारी की वेद वृजिन अर्थात् पाप से रक्षा नहीं करते। वे वेदमन्त्र पाप के परिणाम से इस पापाचारी की रक्षा नहीं करते हैं, तो फिर क्या करते हैं?—जिस प्रकार जिन खगों के पंख निकल आते हैं, वे सब अपने आश्रयभूत घोंसले को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकाल अर्थात् मरणकाल के समय में अपने आश्रयभूत इस पापी का वेद भी त्याग कर देते हैं, अर्थात् वे इसके पुरुषार्थ के साधक नहीं होते ॥२/५॥

वेदाध्ययन की उपयोगिता के विषय में धृतराष्ट्र की शङ्का

शां० भा०—एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार कहे जाने पर धृतराष्ट्र ने शङ्का व्यक्त करते हुए सनत्सुजात जी से कहा—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

न चेद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता विचक्षण।

अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥२/६॥

अन्वयः—विचक्षण!, चेत्, वेदाः, वेदविदं, त्रातुं, न, शक्ताः, अथ, कस्मात्, ब्राह्मणानां, अयम्, सनातनः, प्रलापः ॥२/६॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—विचक्षण!=हे प्राज्ञ! चेत्=यदि, वेदाः=चारों वेद, देवं=देवज्ञ

की, त्रातुं=रक्षा करने में, न=नहीं, शक्ता:=समर्थ हैं, अथ=तब, कस्मात्=किसलिए, ब्राह्मणानां= ब्राह्मणों का, अयम्=यह, सनातन:=पुरातन, प्रलाप:=वेदाध्ययनादि रूप प्रलाप है?

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र फिर से शंका करते हुए सनत्सुजात जी से इस प्रकार पूछते हैं—भगवन्! यदि धर्मानुसार आचरण न करने वाले पुरुष की रक्षा, करने में वेद असमर्थ होता है, तो "ऋग्यजु: सामभि: पूतो ब्रह्मलोके महीयते"=ऋग्वेदों, यजुर्वेदों एवं सामवेदों के श्रवण-मननाऽऽदि द्वारा परिशोधितज्ञान और तदनुकूल कर्तव्यनिर्वाह के सम्पादन से पवित्र हुआ मानव ब्रह्मलोक में जाकर सत्कृत होता है।" इत्यादि श्रुतिवचन द्वारा ब्राह्मणों की जो वेदसम्बन्ध से पवित्रता स्थापित की गयी है, उस पवित्रता से सम्बन्धित यह पुरातन प्रलाप क्यों चला आ रहा है? इस प्रकार तो इन श्रुतिवाक्यों की व्यर्थता सिद्ध हो जाएगी और यदि आपके मन्तव्याऽनुसार जो कि शरीराऽऽदिकों में आत्मबुद्धि रखने वाला वेदज्ञ है जब ऐसे वेदज्ञों के विषय में कही गयी महिमामयी श्रुतिवाणी अर्थविहीन होकर रह जाती है, तो ऐसी स्थिति में वेदज्ञ सद्गतिबोधक उक्त वेद निरर्थक होने से केवल प्रलापमात्र रह जायेंगे। इन पर कौन विश्वास करेगा?॥२/६॥

शां० भा०—"कर्मोदये" (अ० १ श्लोक ९) इत्यादिना नित्यानां काम्यानां च पितृलोकादिप्राप्तिहेतुत्वेन संसारानर्थहेतुत्वस्य दर्शितत्वात्, प्रतिषिद्धस्य कर्मणो नरकहेतुत्वेनानर्थहेतुत्वस्य च दर्शितत्वात्, न वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ताश्चेत्,अथ कस्माद्धेतोरयं प्रलाप: सनातनश्चिरन्तन इत्यर्थ:। संसारानर्थहेतुत्वेन वेदाध्ययनतदर्थविचारतदर्थानुष्ठानानि न कर्तव्यानीत्यर्थ: ॥२/६॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"कर्मोदये" इत्यादि श्लोक से नित्य एवं काम्य कर्मों को पितृलोकादि की प्राप्ति हेतुरूप से संसाररूप अनर्थ के हेतु प्रदर्शित करने के कारण, तथा नरक के हेतुरूप से प्रतिषिद्ध कर्मों को भी अनर्थ का हेतु बतलाने के कारण यदि वेद वेदवेत्ता की रक्षा करने में असमर्थ हैं, तो इनके विषय में ऐसा सनातन अर्थात् प्राचीनकाल से प्रलाप-प्रवाद (वाद-विवाद) क्यों है? तात्पर्य यह है कि इस प्रकार तो संसाररूप अनर्थ के हेतु होने के कारण वेदाध्ययन, वेदार्थ का विचार, तथा वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान ही नहीं करना चाहिए ॥२/६॥

(उपर्युक्त शङ्का के निराशक विचार का उद्बोधन)

शां० भा०—भवेदयं प्रलापो यद्येष एव वेदार्थ: स्यात्, अन्य एव स्वर्गादि: परमपुरुषार्थो मोक्षाख्यो वेदार्थ:; इतरस्य च कर्मराशे:, उपासनायाश्च तत्प्राप्तिसाधनज्ञान-साधनान्त:करणशुद्धिसाधनत्वेन पारम्पर्येण पुरुषार्थत्वादेव वेदप्रतिपाद्यत्वम्। तथा हि—तमेव परमात्मानं परमपुरुषार्थं दर्शयति वेद:—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः ।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—यदि वेद का तात्पर्य यही होता तब तो अवश्य यह प्रलाप हो सकता था, किन्तु वेद का तात्पर्यभूत मोक्षसंज्ञक परमपुरुषार्थ तो स्वर्गादि से भिन्न ही है। दूसरे जो कर्मसमूह और उपासनाएँ हैं, उनका वेद-प्रतिपाद्यत्व तो मोक्षप्राप्ति के साधन ज्ञान की साधनभूता अन्तःकरण की शुद्धि के साधन होने से परम्परा से पुरुषार्थस्वरूप होने के कारण है। इस प्रकार उस परमात्मा को ही परम पुरुषार्थरूप से वेद प्रदर्शित करता है—"वे आनन्दरहित लोक घोर अन्धकार से व्याप्त हैं। जो अज्ञानी और मूढ़ पुरुष हैं, वे मरणोपरान्त उन्हीं लोकों में जाते हैं।"

शां० भा०—स्वर्गादिलोकानामपुरुषार्थत्वमनानन्दात्मकत्वमविद्यावद्विषयत्वेन दर्शयित्वा,

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।

किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।

इत्यात्मविदः कृतकृत्यतां दर्शयित्वा,

"इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीन्महती विनष्टिः ।

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति, अथेतरे दुःखमेवापियन्ति' ।।"

इत्यात्मविदोऽमृतत्वप्राप्तिम् अनात्मविद आत्मविनाशमनर्थं प्राप्तिं च दर्शयित्वा,

यदैतमनुपश्यति आत्मानं देवमञ्जसा ।

ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।

इत्यादिभिर्वाक्यैस्तत्स्वरूपतदर्थतद्दर्शनतत्फलानि भूयो भूयो दर्शयित्वा, 'कथमेनं मकरादिभिरिवरागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणं विषयाभिभूतं पापकारिणं मोक्षयित्वा परमपदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये मोक्षाख्ये स्थापयिष्यामि" इति मत्वा तत्प्राप्तिसाधनज्ञानसाधन-विविदिषासाधनत्वेन यज्ञादीन् विनियुङ्क्ते—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन ।।"इति ।

भाष्याऽर्थप्रभा—अज्ञानी के विषय से सम्बद्ध होने के कारण स्वर्गादिलोकों में अपुरुषार्थत्व और आनन्दशून्यत्व प्रदर्शित कर, "यह जीव यदि अपने आत्मस्वरूप को "यही मैं हूँ" इस प्रकार समझ जाय, तो फिर किस इच्छा और किस कामना से शारीरिक तापों के पीछे स्वयं को संतप्त करेगा? इस श्रुतिवाक्य द्वारा आत्मवेत्ता की कृतकृत्यता दिखलाते हुए, पुनः "यहाँ रहँते हुए ही हमें उसे जान लेना चाहिए। यदि हमने उसे न

जानों तो बड़ी हानि होगी। जो इस तथ्य को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं, एवं उनसे भिन्न अनात्मज्ञ तो दु:ख ही पाते हैं'' इस श्रुति से आत्मवेत्ता को अमृतत्व की प्राप्ति और अनात्मज्ञ को आत्मनाशरूप अनर्थ की प्राप्ति दिखलाकर, ''जिस समय भूत और भविष्यत् के नियामक इस आत्मदेव को आत्मपरायणपुरुष प्रत्यक्ष रूप से देख लेता है, तो फिर उससे दूर नहीं होता'' इत्यादि वाक्यों से उसके स्वरूप, उस आत्मवस्तु के साक्षात्कार और उस साक्षात्कार के फलों को बार-बार प्रदर्शित करके, इस लोक में सांसारिक वस्तु को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से उसके अधीन हुआ प्राणी मकरादि के समान रागादि दोषों से इधर-उधर खींचे जाते हुए, एवं विषयों से आक्रान्त इस पापकर्मा को उन इच्छामूलक बन्धन से मुक्त करके, किस प्रकार परमपद परमात्मारूप पूर्णानन्दमय मोक्षसंज्ञक स्वाराज्य की स्थापना करूँ? उसकी प्राप्ति के साधन ज्ञान की साधनभूता जिज्ञासा के साधनरूप यज्ञादि का भी, ''उस आत्मतत्त्व को ब्राह्मणलोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपवास (व्रत-अनुष्ठान) इत्यादि के माध्यम से जानने की इच्छा करते हैं'' इस वाक्य द्वारा वेद दिग्दर्शन (मार्गदर्शन) करते हैं।

शां० भा०—तस्मात् तदर्थत्वेनैव यज्ञादीनां पुरुषार्थत्वम्। इतरत्र तु पुनः स्वर्गादौ श्येनयागादीना-मिवापुरुषार्थत्वम्, संसारानर्थहेतुत्वात्। तथा च श्रुतिः—

''प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति॥'' इति॥

भाष्याऽर्थप्रभा—अत: ब्रह्माऽऽत्मस्वरूपविषयक जिज्ञासा के लिए होने के कारण ही यज्ञादि कर्मों के स्वरूप में भी पुरुषार्थत्व निर्धारित होता है। स्वर्ग आदि दूसरे फलों में उपयोगी होने पर तो संसाररूप अनर्थ के ही हेतु होने के कारण वे श्येनयाग आदि की भाँति अपुरुषार्थरूप ही हैं। ''(ज्ञान से निम्न श्रेणी का होने के कारण), जिन यज्ञस्वरूपकर्मों में, अवर, अर्थात् निकृष्ट कर्म आश्रित कहे गये हैं, वे पुन:एक सोलह ऋत्विक्, एवं पुन: एक यजमान और एक यजमानपत्नीरूप में स्थित हुए ये, यज्ञ के अठारह साधन अनित्य कहे गये हैं। जो मूढ़ श्रेयरूप से इनकी प्रशंसा करते हैं, वे पुन: जरा-मरण को ही प्राप्त होते हैं'' इस श्रुति का भी ऐसा ही कथन है।

शां० भा०—यस्मादेवं मोक्षतत्साधनप्रतिपादकत्वेन संसारानर्थनिवृत्तिहेतुत्वं वेदानाम्, तस्माद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता एवेत्येतत्सर्वमभिप्रेत्याह श्लोकत्रयेण—

तत्र प्रथमेन नित्यापरोक्षं परमपुरुषार्थं परमात्मानं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस कारण से श्रुति, यज्ञ-यागादि साधनां को सर्वथा मोक्ष के प्रति अकारणत्व का प्रतिपादन करती है एवं जो कर्म की प्रशस्ति को उद्घाटित करते हुए इस कर्म को बढ़ा-चढ़ा कर कहने की चेष्टा करता है, श्रुति, तथा श्रुति से अनुमोदित ग्रन्थ, उसकी उस विषय में भ्रान्ति को उजागर करती है, ऐसी बात है, इस कारण मोक्ष और उसके साधनों का प्रतिपादक होने से वेद संसाररूप अनर्थ की निवृत्ति के कारण हैं। अत: वेद, वेदवेत्ता की रक्षा करने में समर्थ हैं—इन्हीं सब को उद्देश्य में रखकर, आगे कहे जाने वाले तीन श्लोकों के द्वारा उन तथ्यों को उद्घाटित करते हैं। उनमें से पहले श्लोक से नित्य अपरोक्ष एवं परमपुरुषार्थस्वरूप परमात्मा का निर्देश करते हैं—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव।

निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ।।२/७।।

अन्वयः—महानुभाव! तस्य, एव, नामादिविशेषरूपै:, इदम्, जगत्, भाति। तथा वेदा:, सम्यक्, निर्दिश्य, प्रवदन्ति। तत्, विश्ववैरूप्यम्, उदाहरन्ति ॥२/७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—महानुभाव! तस्य=उस परमात्मा के आश्रित, एव=ही, नामादिविशेष-रूपै:=नाम एवं विशेषरूपो द्वारा, इदम्=यह, जगत्=संसार, भाति=प्रतीत हो रहा है। तथा=और, वेदा:=वेद, सम्यक्=अच्छी तरह, निर्दिश्य=निर्देश करके, प्रवदन्ति=समझाते हैं, और तत्=उसे, विश्ववैरूप्यम्=विश्व से विलक्षण होने का, उदाहरन्ति=उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ॥२/७॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजातजी धृतराष्ट्र से बोले—हे महानुभाव! यह सम्पूर्ण संसार परब्रह्म परमात्मा के रूप आदि विशेषरूपों से प्रतिभासित हो रहा है, वस्तुत: उससे भिन्न इस जगत् में कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्यारूप है, प्रतीतिमात्र है। एक ही ईश्वर विविध रूपों में प्रकाशमान होता है। श्रुति कहती है—"इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते"। इस प्रकार अनेक प्रकार से श्रुति=वेद उस परमात्मा के स्वरूप का निर्देश करते हैं, परन्तु इस बात का भी वे प्रतिपादन करते हैं कि परमात्मा का स्वरूप इस विश्व से सर्वथा विलक्षण है। यह वाङ्मनसातीत होने के कारण सर्वथा अनिर्वचनीय है ॥२/७॥

शां० भा०—तस्यैव परमात्मनो मायापरिकल्पितैर्नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति, हे महानुभाव! कथमेतदवगम्यते तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भातीति? "इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते" इति मायानिर्मितं बहुरूपं निर्दिश्य तस्यैव सम्यग्रूपम् "तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरम-बाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्" इति प्रवदन्ति वेदा: ॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे महानुभाव! उस परमात्मा के ही मायाकल्पित नामादि विशेषरूपों

से यह जगत् उद्‌भासित हो रहा है। यह जगत् उस परमात्मा के ही नामादि विशेषरूपों से भास रहा है—ये बात कैसे जानी जाती है? इसके उत्तर में कहते हैं—"इन्द्र माया की सहायता से अनेक रूप होकर चेष्टा कर रहा है" इस श्रुति से उसके मायाजनित बहुरूपत्व का निर्देश कर "वह ब्रह्म, कारण-कार्यरहित, एवं अन्तर-बाह्यशून्य है, सर्वानुभवरूप यह ब्रह्म ही आत्मा है—यही वेद की आज्ञा है" इस श्रुति से वेद उसी के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हैं।

शां० भा०—तथा च "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च" इत्यादिना तस्यैव मूर्तामूर्तात्मक-मात्मवज्जगत्स्वरूपं निर्दिश्य तस्य सम्यग् रूपम् 'नेति नेति' इत्यादिना प्रवदन्तिं वेदाः। तथा "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इति वियदादिधरित्र्यन्तं तस्यैव कार्यं निर्दिश्य कोशोपन्यासमुखेन तस्यैव सम्यग्रूपम्, "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः। तथा—"अधीहि भगव इति होपससाद" इत्यादिना नामादिप्राणान्तं तस्यैव मायानिमित्तं जगन्निर्दिश्य "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इत्यादिना तस्यैव सम्यग्रूपं भूमानं तमसः पारं स्वे महिम्नि व्यवस्थितं प्रवदन्ति वेदाः।

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार "ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त" इत्यादि। श्रुति से उसी के आत्मभूत मूर्त्तामूर्त्तात्मक जगद्रूप का वर्णन कर "नेति-नेति" वाक्य से वेद उसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हैं, तथा "आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई" आदि वाक्यों द्वारा, आकाश से लेकर, पृथिवीपर्यन्त कोशों का उल्लेख करते हुए, उसी के कार्य का निर्देश कर "जहाँ से मन सहित वाणी, उसे नहीं पाकर लौट आती है" इत्यादि वाक्य से उसी के सम्यक् रूप का वर्णन करते हैं और "भगवन्! मुझे उपदेश दीजिए, इस प्रकार प्रार्थना करते हुए, गुरु के समीप गया" इत्यादि वाक्य से, नाम से प्राणपर्यन्त उसी की माया से उत्पन्न हुए जगत् का निर्देश कर "जहाँ कोई और नहीं देखता, कोई और नहीं सुनता,कोई और नहीं जानता, वह भूमा है" इत्यादि वाक्य से उसी के भूमासंज्ञक वास्तविक स्वरूप का, जो अज्ञान से परे अपने स्वरूप में स्थित है, का वेद वर्णन करते हैं।

शां० भा०—न केवलं वेदाः प्रवदन्ति, अपि तु मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीत-स्वरूपम् उदाहरन्ति। तथा चाह भगवान् पराशरः—

प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम्।
मनसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्।।
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः।।इति।। २/७।।

भाष्याऽर्थप्रभा—मात्र वेद ही ऐसा नहीं कहते, बल्कि मुनिगण भी उस ब्रह्म को विश्व से विपरीत स्वरूप का बताते हैं। जैसा कि भगवान् पराशर कहते हैं—"जिसमें सब प्रकार का भेद शान्त हो गया है, जो सत्तामात्र, मन का अविषय, एवं स्वसंवेद्य है, वह परम ज्ञान ही 'ब्रह्म' कहलाता है। वह अरूपसंज्ञक सर्वोत्तमस्वरूप ही भगवान् नारायण का उत्कृष्ट रूप है। परमात्मा का वह स्वरूप, विश्वरूप से विपरीत स्वभाव वाला है।"

(ईश्वरार्पित कर्म, अन्तःकरण शुद्धि के माध्यम से ब्रह्मजिज्ञासा द्वारा भगवत्प्राप्ति का साधन है)

शां० भा०—इदानीमीश्वरार्थमनुष्ठीयमानानां तत्प्राप्तिसाधनज्ञानापेक्षितशुद्धिद्वारेण पारम्पर्येण पुरुषार्थत्वम्, अन्येषां संसारानर्थहेतुत्वेनापुरुषार्थत्वं च दर्शयति श्लोकद्वयेन—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब दो श्लोकों के द्वारा ईश्वर के लिए किये जाने वाले कर्मों का भगवत्प्राप्ति के साधनभूत ज्ञान के लिए अपेक्षित चित्तशुद्धि के द्वारा परम्परा से पुरुषार्थत्व और अन्य कर्मों में संसाररूप अनर्थ के हेतु होने के कारण, अपुरुषार्थत्व को दिखाते हैं—

मू०— तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ।।२/८।।

अन्वयः—तदर्थम्, एतत्, तपः, इज्या, उक्तम्। पण्डितः, पुण्येन पापम् विनिहत्य, स, ज्ञानविदीपितात्मा, जायते।

अन्वयाऽर्थप्रभा—(वेदों ने) तदर्थम्=उसकी प्राप्ति के लिए, एतत्=प्रत्यक्षरूप में अनुभूयमान, तपः=तप, इज्या=यज्ञ, उक्तम्=बताया है। पण्डितः=विद्वान् निष्कामी, पुण्येन पापम् विनिहत्य=नष्ट करके, स=वह, ज्ञानविदीपितात्मा=ज्ञानप्रकाशस्वरूप, जायते=हो जाता है।

भावाऽर्थप्रभा—वेद में जो तप, यज्ञ आदि के अनुष्ठान का प्रतिपादन किया गया है, वह भी उस परब्रह्म की प्राप्ति के साधनरूप में ही किया है। इन तपों एवं यज्ञों के सम्पादन के द्वारा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् पुण्य को प्राप्त करता है। वह कर्मयोगी पुरुष इन यज्ञादि कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ, ईश्वर को समर्पित करता है। निष्काम भाव से ईश्वराऽर्पण द्वारा सम्पादित कर्म से वह साधक पुरुष अपने संचित पापों को नष्ट कर देता है, तब उसका अन्तःकरण ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है ॥२/८॥

शां० भा०—यद्विश्वरूपविपरीतं ब्रह्म तदर्थमुक्तं वेदेन। किम्? तपः—कृच्छ्र-चान्द्रायणादि, इज्याज्योतिष्टोमादि। किं ततो भवतीति चेत्—ताभ्याम् इज्यातपोभ्याम् असौ विद्वान्=पूर्वोक्तविनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन् पुण्यमुपैति=प्राप्नोति कर्मजन्यापूर्व-

संयुक्तो भवति। तेन पुण्येन पापं विनिहत्य=क्षपयित्वा पश्चादुत्तरकालं स क्षपिताशेषकल्मषो जायते ज्ञानविदीपितात्मा=ज्ञानप्रकाशितचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपो भवति।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो विश्व के रूप से विपरीत स्वरूप वाला ब्रह्म है, उसी के लिए वेद ने कहा है। क्या कहा है—कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ। यदि कहा जाय कि इनसे क्या होता है? उत्तर में कहा जाता है कि—उनसे, अर्थात् उन इज्या और तप से पूर्वोक्त कर्म के विनियोग को भलीप्रकार से जाननेवाला यह विद्वान्, ईश्वर के हेतु कर्म करता हुआ, पुण्य को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मजनित अपूर्व से युक्त होता है और फिर उस पुण्य से पाप का पराभव कर, सम्पूर्ण कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है, अर्थात् ज्ञान के आलोक से युक्त सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥२/८॥

मू०— ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान् न चान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्वममुत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम्॥२/९॥

अन्वयः—अथ, विद्वान्, ज्ञानेन, आत्मानम्, उपैति, च, अन्यथा, वर्गफलानुकांक्षी, अस्मिन्, कृतम्, तत्, परिगृह्य, अमुत्र, सर्वम्, भुङ्क्ते। पुनः, मार्गम्, एति।

अन्वयाऽर्थप्रभा—अथ=उसके बाद, विद्वान्=वह विद्वान्, ज्ञानेन=ज्ञान द्वारा, आत्मानम्=आत्मा को, उपैति=प्राप्त करता है, च=और, अन्यथा=उसके विपरीत, वर्गफलानुकाङ्क्षी=स्वर्गादि फल की आकांक्षा रखने वाला, अस्मिन्=इस लोक में, कृतम्=जो भी शुभ कार्य किया है, तत्=उसे, परिगृह्य=लेकर, अमुत्र=उस लोक में, सर्वम्=सब, भुङ्क्ते=भोगता है। पुनः=फिर मार्गम्=मृत्युलोक के मार्ग को, एति=प्राप्त करता है।

भावाऽर्थप्रभा—राजन्! वह विद्वान् पुरुष अन्तःकरण में प्रकाशित ज्ञान द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। वह समस्त देहाभिमान का त्याग करके, ब्रह्म का साक्षात् कर लेता है, अर्थात् उसे प्राप्त कर लेता है। परन्तु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी हैं, अर्थात् कर्मों को सकामभाव से करते हैं, जो धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्गफल की इच्छा रखते हैं, वे इस लोक में किये हुए सब कर्मों को साथ ले जाकर, उन्हें परलोक में भोगते हैं, और कर्मफल के पूर्ण हो जाने के बाद, पुनः इस संसार मार्ग में लौट आते हैं, अर्थात् जन्म-मृत्यु परम्परा में आ जाते हैं ॥२/९॥

शां० भा०—ज्ञानेन चात्मानं=परमात्मानमुपैति=प्राप्नोति विद्वानात्मवित्। अन्यथा पुनरीश्वरार्थं कर्माननुष्ठानेनाक्षपिताशेषकल्मषो ज्ञानी न भवति। तदा वर्गफलानुकाङ्क्षी= इन्द्रियफलानुकाङ्क्षी=स्वर्गादिफलानुकाङ्क्षी सन् अस्मिन् लोके कृतं तद् यज्ञादिकं परिगृह्य

सर्वममुत्र परलोके तत्फलमुपभुङ्क्ते । ततः कर्मशेषेण पुनरेति मार्गं संसारमार्गम् । तथा च श्रुतिः—"तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" इति ॥२/९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार ज्ञान के द्वारा वह विद्वान्—ब्रह्मवेत्ता आत्मा, अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कर लेता है । नहीं तो, ईश्वर के लिए कर्मानुष्ठान करने पर पापों की निवृत्ति न होने के कारण वह ज्ञानी नहीं होता । तब वह वर्गफलानुकाङ्क्षी—इन्द्रियसम्बन्धी फलों का इच्छुक, अर्थात् स्वर्ग आदि फलों का अभिलाषी होने पर, इस लोक में किये गये यज्ञादि सम्पूर्ण कर्मों को ग्रहणकर, परलोक में उनका फल भोगता है और पुनः भोग समाप्त हो जाने पर, पुनः संसारमार्ग की ओर अग्रसर होता है । जैसा कि श्रुति का कथन है—"उस स्वर्गलोक में कर्मक्षयपर्यन्त निवास कर वे पुनः इसी संसारमार्ग में पुनः प्रवेश करते हैं ॥२/९॥

(ज्ञानी और अज्ञानी की अपेक्षा से कर्मफल में भेद)

शां० भा०—इदानीं विद्वदविद्वदपेक्षया कर्मणां फलवैषम्यमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस समय ज्ञानी और अज्ञानी की अपेक्षा से कर्मफल की विभिन्नता को स्पष्टरूप से बताते हैं—

मू०— अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।

ब्राह्मणानां तपः स्वृद्धमन्येषां तावदेव तत् ।।२/१०।।

अन्वयः—अस्मिन्, लोके, तप्तम्, तपः, फलम्, अन्यत्र, भुज्यते, (परन्तु) ब्राह्मणानाम्, तपः, स्वृद्धम्, अन्येषाम्, तत्, तावत्, एव ॥२/१०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—अस्मिन् लोके=इस लोक में, तप्तम् तपः= किया गया तप, फलं=फल, अन्यत्र=दूसरे लोक में, भुज्यते=भोगा जाता है, (परन्तु=किन्तु), ब्राह्मणानाम्= ब्रह्मज्ञानियों का, तपः=तप का फल, (तु इहैव=तो इस लोक में ही) स्वृद्धम्=आविर्भूत या प्रकट होता है । अन्येषाम्=और सांसारिकों का, तत्=तपस्या का फल तो, तावत्= स्वल्पकाल में, एव=ही, (समाप्त हो जाता है) अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों के तपस्या का इस लोक में भी चिरकाल तक स्थायी फल हुआ करता है, किन्तु अज्ञानियों के तप का फल, एक तो इसी लोक में सद्यः उत्पन्न न होकर कालान्तर में, एवं लोकान्तर में उत्पन्न हुआ करता है, दूसरी बात आत्मज्ञानियों के तप का फल इसी लोक में सद्यः उत्पन्न होता हुआ भी चिरस्थायी होता है, किन्तु अज्ञानियों के तप का फल परलोक में उत्पन्न होने पर भी चिरकालस्थायी न होकर, कुछ काल तक के लिए ही हुआ करता है ॥२/१०॥

भावाऽर्थप्रभा—सांसारिक सकाम पुरुषों के द्वारा इस लोक में जो कृच्छ्रचान्द्रायणाऽऽदि स्वरूप तप, अथवा यज्ञाऽऽदिकर्माऽनुष्ठानस्वरूप तप जो सम्पादित किये जाते हैं, उन

तपों के फलों का अनुभवाऽऽत्मक भोग अनात्मज्ञपुरुषों को स्वर्गाऽऽदिस्वरूप देवलोक में प्राप्त हुआ करता है, किन्तु जो आत्मतत्त्वज्ञपुरुष इस लोक में होते हैं, उन पुरुषों के द्वारा निष्काम भाव से सम्पादित तपस्या का फल तो अन्त:करण शुद्धिसम्पादन द्वारा आत्मसाक्षात्कार ही होता है, जो पुन: इसी लोक में अमृताऽऽत्मना परिणत हुआ, कभी भी नष्ट नहीं होता है। इस प्रकार आत्मज्ञानी मनीषियों के द्वारा आत्मप्राप्ति के उद्देश्य से विहित तपस्यास्वरूप सत्कर्म, मोक्षाऽऽत्मक अनन्तरस्वरूप फल को व्यक्त करता है, जबकि अज्ञानियों के द्वारा सम्पादित सत्कर्माऽऽत्मिका तपस्या न्यूनाऽधिकदोष से ग्रसित, एवं दु:खसम्मिश्र, तथा आदिअन्त वाले होने से, दु:ख का प्रसवस्थान होता है, जिसके कारण सर्वथा हेय कोटी में समाविष्ट होने के ही योग्य पर्यवसित होता है ॥२/१०॥

शां० भा०—अस्मिन् लोके यत् तपस्तप्तं फलं तस्य अन्यत्र=अमुष्मिँल्लोके भुज्यत इति तावत् सर्वेषां समानम्। ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां पुनरयं विशेष:—तप: स्वृद्धम=अतीवसमृद्धं भवति फलवृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थ:। तथा च श्रुति:—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति। अन्येषामनात्मविदां वैषयिकाणां तावदेव तन्न समृद्धं भवति; यस्य कर्मणो यत्फलं श्रुतं तावन्मात्रफलसाधनं न फलसमृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थ: ॥२/१०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस लोक में जो तप किया जाता है, उसका फल कहीं और—परलोक में भोगा जाता है—यह बात तो सबके लिए एकसमान है। किन्तु ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ताओं के विषय में इतनी विशेषता है कि उनका तप स्वृद्ध—अत्यन्त समृद्ध अर्थात् फल की वृद्धि का हेतु माना जाता है। कुछ ऐसी ही श्रुति भी है—"जो कर्म विद्या से, श्रद्धा से और ज्ञानपूर्वक किया जाता है, वह अधिक वीर्यवान् होता है" तथा दूसरे जो अनात्मज्ञ विषयी लोग हैं, उनका कर्म उतना ही रहता है, वह समृद्ध नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस कर्म का जो फल निर्धारित किया गया है, वह उतने ही फल का साधक होता है—फल की वृद्धि का हेतु नहीं होता है ॥२/१०॥

(तप केवल कैसे होता है ?)

शां० भा०—श्रुत्वैवमाह धृतराष्ट्र:—

भाष्याऽर्थप्रभा—आत्यन्तिक रूप से आत्मोन्नति के लिए तप ही परम साधन क्यों माना गया है?

इस प्रकार सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

कथं समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम्।

सनत्सुजात! तद् ब्रूहि कथं विद्यामहं प्रभो ।।२/११।।

अन्वयः—सनत्सुजात!, केवलम्, तपः, समृद्धम्, कथम्, भवति? प्रभोः, अहम्, कथम्, विद्याम्, तत्, ब्रूहि ॥२/११॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र उवाच=महाराजधृतराष्ट्र जी पूछते हैं कि—सनत्सुजात!= हे सनत्सुजात जी! केवलं तपः= केवल=शुद्ध सत् कर्माऽऽदिस्वरूप तप ही, समृद्धम्=(उपर्युक्त प्रकार से आत्मज्ञानियों को मोक्ष एवं संसारकामी अनात्मज्ञों को स्वर्गाऽऽदि क्षुद्रफल देने में)समर्थ, कथं भवति?=किस प्रकार हुआ करता है? प्रभो!=सर्वसमर्थ भगवन्! अहम्=मैं इस तप की द्विविधफलदायकत्व सामर्थ्य को, कथम्=कैसे, विद्याम्=जान सकता हूँ, तद् ब्रूहि= इस बात का आप हमें उपदेश करें ॥२/११॥

भावाऽर्थप्रभा—एक ही तपःस्वरूप सत्कर्म विलक्षण-विलक्षण फल को प्रदान करता है। इस तात्त्विकरहस्य को जानकर इस विषय में धृतराष्ट्रमहाराज प्रश्न करते हैं कि हे सनत्सुजात! आपने जो विशुद्धनिष्कामकर्मस्वरूप तप कर्मों के फलदातृत्वसामर्थ्य, एवं स्वर्गाऽऽदि सुख जननसामर्थ्य को धारण करने का ऐश्वर्य तप में प्रदर्शित किया है, उस विषय में जिज्ञासा होती है कि—क्या विद्वानों के द्वारा विशुद्धभाव से सम्पादित केवल सत्कर्माऽऽत्मक तपस्या भी अत्यन्त समृद्ध होता हुआ, मोक्षलक्ष्मी को प्रदान करने में सर्वथा समर्थ होता है और अनात्मज्ञ सांसारिकपुरुषों के द्वारा सम्पादित उसी जाति का तपः कर्म फल देने के अपरिमित सामर्थ्य को न प्राप्त कर, केवल स्वर्गाऽऽदि अनित्यफलों के जनक सीमित सामर्थ्यमात्र से ही युक्त हुआ करता है? इस विज्ञान को मैं कैसे जान सकता हूँ?, अर्थात् इस विषय में, मैं जैसे निर्भ्रान्त हो सकूँ, उस प्रकार से आप हमें उपदेश करें ॥२/११॥

शां० भा०—(ऋज्वेतत्) कथमिति। श्लोकोऽयं स्पष्टाऽर्थः ॥२/११॥

भाष्यार्थप्रभा—यह श्लोकवाक्य स्पष्ट अर्थ वाला है। अर्थात् गूढार्थ न होने से भगवत्पाद ने इसकी व्याख्या छोड़ दी ॥२/११॥

(तप निष्कल्मष होता हुआ कैवल्य प्राप्ति का साधन है–इस विषय को कहते हैं)

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् सनत्सुजात ने कहा—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते।

एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति नान्यथा ॥२/१२॥

अन्वयः—सनत्सुजात उवाच—, एतत्, तपः, निष्कल्मषम्, केवलम्, परिचक्षते,

एतत्, समृद्धम्, ऋद्धम्, अपि, तपः, भवति, अन्यथा, न (भवति) ॥२/१२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच=एतत् तपः=आत्मज्ञानी पुरुषों के द्वारा निष्कामभाव से सम्पादित सत्कर्माऽऽत्मक तप, निष्कल्मषम्=विज्ञानशून्य, श्रद्धाशून्य, एवं रहस्यशून्याऽऽत्मक समस्त दोषों से रहित होने के कारण, केवलम्=कैवल्यस्वरूपमोक्ष-प्राप्ति का साधन, परिचक्षते=कहा जाता है। एतत्=आत्मज्ञानी द्वारा सम्पादित वह तपः कर्म, समृद्धम् अपि तपः=अपने अतुलनीय सामर्थ्य को धारण करता हुआ ही वह तप, ऋद्धम्=मोक्षाऽऽत्मक अविनाशीफल को अभिव्यक्त करने वाला, भवति=होता है। अन्यथा=मोक्षसाधनीभूत आत्मज्ञकृत विशुद्ध तप से भिन्न (अनात्मज्ञपुरुषद्वारा सृजित सकामकर्माऽऽत्मक अशुद्ध) तप, न=मोक्षदायक नहीं होता है ॥२/१२॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात जी ने धृतराष्ट्र के प्रश्न का समाधान करते हुए इस प्रकार कहा कि—भो राजन्! जिस कैवल्यप्रापक तप के विषय में आपने प्रश्न किया था, वह तप सर्वविध कामाऽऽदिसम्बन्धशून्य होने से, सर्वथा विशुद्ध हुआ करता है, क्योंकि वैसा तप आत्मज्ञानियों के द्वारा निष्कामभाव से, श्रद्धाऽतिशय से, विद्या से, एवं उसके तात्त्विक रहस्य को जान कर सम्पादित किया जाता है। मोक्षाऽतिरिक्त समस्त ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुखभोग की अनात्ममूलक वासना से ऊपर उठकर, दम्भ, मान, कीर्ति, लाभ आदि की वासनाओं के जाल से विनिर्मुक्तपुरुष द्वारा निर्मित होने के कारण, वह तप अत्यन्त विशुद्ध हुआ मोक्षफल को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ हुआ करता है। इस प्रकार यह निर्गलिताऽर्थ होता है कि—आत्मविषयक श्रवण-मनन एवं निदिध्यासनपूर्वक सम्पादित किया जाने वाला विशुद्ध एवं गुरुतर तपःस्वरूपसत्कर्म, सकाम तप (कर्म) की अपेक्षा फल की तुलना में अधिक समृद्ध हुआ करता है, अत एव सकाम कर्म के फल जहाँ सांसारिक अनित्यमात्र होता है पर उपर्युक्त विशुद्ध तप पुनः अनित्यभूतसांसारिक फल से सर्वथा विलक्षणनित्यभूतमोक्ष ही को फलरूप में अभिव्यक्त किया करता है ॥२/१२॥

शां० भा०—निष्कल्मषमिति।

यदेतन्निष्कल्मषं तपः, तत्केवलं परिचक्षते, केवलं बीजमित्युक्तम्। सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्य बीजं निमित्तं यत्तत्केवलमित्युक्तम्। आहोशना—

गुणसाम्ये स्थितं तत्त्वं केवलं त्विति कथ्यते।

केवलादेतदुद्भूतं जगत्सदसदात्मकम्॥

इति। तद् एतदेव केवलं तपः समृद्धमत्यर्थं च भवति नान्यथा। यदा निष्कल्मषं न भवति सकल्मषं स्यात्तदा समृद्धमत्यर्थं च न भवति ॥२/१२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—यह जो निर्दोष तप है, वह केवल कहलाता है; केवल यानी

बीजरूप कहा जाता है । जो इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का बीज अर्थात् कारण है, वह 'केवल' कहा गया है । उशना (शुक्र जी) कहते हैं—"जो तत्त्व गुणों की साम्यावस्था होने पर स्थित रहता है, वह 'केवल' कहा जाता है । यह सदसद्रूप जगत् उस केवल से ही उत्पन्न हुआ है ।" वह केवल तप ही अत्यन्त समृद्ध होता है, अन्य प्रकार का नहीं । अर्थात् जिस समय वह निर्दोष नहीं होता, सदोष होता है, उस समय अधिक समृद्ध भी नहीं होता ॥२/१२॥

शां० भा०—एतदेव प्रशंसति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब इसी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

मू०— तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।

तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ।।२/१३।।

अन्वयः—क्षत्रिय!, माम्, यत्, पृच्छसि, इदम्, सर्वम्, तपोमूलम्, तु, वेदविद्वांसः, तपसा, परम्, अमृतम्, आप्नुयुः ॥२/१३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—क्षत्रिय!=हे राजन्! माम्=मुझसे, यत्=जिस तप के विषय में, पृच्छसि=पूछ रहे हो, उस तप का स्वरूप इस प्रकार जानो कि—इदम्=संसार में अनुभवविषय बनने वाले, ये, सर्वम्=संसार के समस्त भोग्यवस्तुएँ, तपःमूलम्=केवल तपसाधन से ही प्राप्त होने के योग्य हैं । केवल सांसारिकभोग्यमात्र ही तप से प्राप्त नहीं होते, तु=इसके अतिरिक्त वेदविद्वांसः=वेदतत्त्व के ज्ञाता आत्माऽन्वेषी आत्मज्ञजन, तपसा=(वेदविहित निष्काम कर्म) द्वारा, परम् अमृतम्=नित्यभूतमोक्ष को (भी) आप्नुयुः=प्राप्त किया करते हैं ॥२/१३॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात जी धृतराष्ट्र से जिज्ञासित तप के विषय में इस प्रकार कहते हैं कि—हे राजन्! आप जिस तप के विषय में मुझसे जिज्ञासा किये हो, वह तप समस्त जागतिक भोगैश्वर्य का, एवं संसार से ऊपर उठे हुए पारमार्थिक परमलाभस्वरूप मोक्ष का आविर्भावक है, अर्थात् अभ्युदयाऽऽत्मक स्वर्गाऽऽदिपर्यन्त सदेहमुक्ति का, एवं विदेहताकालिक कैवल्य के अभिव्यक्ति का असाधारण साधन सत्कर्मरूप तप ही हुआ करता है । इस प्रकार निश्चितरूप से ऐसा कहा जा सकता है कि—वह तप ही निखिल ब्रह्माण्ड का मूल कारण है । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठविद्वद्जन इस प्रकार के निष्कामतप से ही परम अमृतस्वरूपमोक्ष को प्राप्त किया करते हैं ॥२/१३॥

शां० भा०—तमोमूलमिति । स्पष्टार्थः श्लोकः ॥२/१३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट होने के कारण प्रकृतस्थल में इसकी व्याख्या नहीं की जा रही है ॥२/१३॥

(तप के दोषों के विषय में प्रश्न)

शां० भा०—श्रुत्वैवमाह राजा—

भाष्याऽर्थप्रभा—यह सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने कहा—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।

सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ।।२/१४।।

अन्वयः—(धृतराष्ट्र उवाच—) सनत्सुजात!, निष्कल्मषम्, तपः, श्रुतम्, (अत्र) तपसः, कल्मषम्, ब्रूहि, येन, इदम्, गुह्यम्, सनातनम्, विद्याम् ॥२/१४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—(धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र जी कहते हैं कि—) सनत्सुजात!= हे सनत्सुजात! (आपसे मैं) निष्कल्मषम्=कामनाऽऽदि दोषों से रहित, तपः=तपःस्वरूप सत्कर्म को, श्रुतम्=सुना, (तत्र=उस तप में तप के साद्गुण्य का विघातक कल्मष क्या है? इस जिज्ञासा को निवृत्त करने के लिए) तपसः=तप के, कल्मषम्=दोष का, ब्रूहि= उपदेश करें, येन=कल्मषशून्य जिस तप के ज्ञान द्वारा अनुष्ठान करने से, इदम्=इस, गुह्यम्= अतिरहस्य में स्थित, सनातनम्=अविनाशी आत्मतत्त्व को, विद्याम्=मैं जान सकूँ ॥२/१४॥

भावार्थऽप्रभा—धृतराष्ट्र ने कहा कि—हे सनत्सुजात जी! आपने जिस विशुद्ध निष्काम तप के महिमा को प्रकाशित किया, इस महिमाशाली तप को मैं सुनकर धारण कर लिया। अब तप के सामर्थ्यविघातक जो दोष हैं, उन दोषों के ज्ञान के लिए हमें उपदेश करें, जिससे मैं दोषविवर्जित विशुद्धतप के सम्पादन द्वारा इस अतिगोपनीय अविनाशी आत्मतत्त्व का अनुभव कर सकूँ ॥२/१४॥

शां०भा०—"निष्कल्मषं तपस्त्वेतत्केवलं परिचक्षते" इति श्रुतस्य तपसः कल्मषं ब्रूहि हे सनत्सुजात! येन निष्कल्मषेण तपसेदं गुह्यं सनातनं ब्रह्माहं विद्यामिति ॥२/१४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे सनत्सुजात जी! "जो तप निर्दोष होता है, वह केवल इस नाम से कहा जाता है" इस प्रकार जिसके विषय में सुना ०, आप उस तप के दोष बतलाइए, जिससे निर्दोष तप के द्वारा मैं इस सनातन गुह्य (रहस्यमय) ब्रह्म को जान सकूँ ॥२/१४॥

(तप के दोष, नृशंस और गुणों की गणना–)

शां०भा०—एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार पूछने पर भगवान् सनत्सुजात ने कहा—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषास्तथा नृशंसानि च सप्त राजन् ।

ज्ञानादयो द्वादश चातताना: शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ।।२/१५।।

अन्वयः—(सनत्सुजात उवाच—) हे राजन्! यस्य, क्रोधाऽऽदयः, द्वादश, दोषाः,च, तथा, सप्त, नृशंसानि, च, द्विजानाम्, शास्त्रे, ये, ज्ञानाऽऽदयः, द्वादश, गुणाः, आतताना:, विदिताः, (तान् गुणान् दोषांश्च कथयिष्यामि इति शेषः) ॥२/१५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—(सनत्सुजात उवाच= सनत्सुजात जी ने कहा—) हे राजन्! यस्य=जिस तप के, क्रोधाऽऽदयः=क्रोध, काम, लोभ, मोह आदि रूप से अग्रिम श्लोक में कहे जाने वाले, द्वादश दोषाः=बारह प्रकार के दोष होते हैं, च=और,तथा=उसी प्रकार, सप्त नृशंसानि=सात प्रकार के निःश्रेयस और अभ्युदयाऽऽत्मक पुरुषार्थ के असाधारण कारणस्वरूप धर्माऽऽदि गुणों के घातक हुआ करते हैं। च=एवम्, द्विजानाम्=वेदमार्गाऽनुयायी ब्राह्मणाऽऽदिकों के, कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले, शास्त्रे= वेदाऽऽदिस्वरूप सच्छास्त्र में, ये ज्ञानाऽऽदयः=जो तत्त्वज्ञान, सत्यभाषण, आदि, द्वादशगुणाः=बारह गुण, आतताना:=विस्तारपूर्वक कहे गये हैं, (उपर्युक्त उन दोषों एवं गुणों को कहने जा रहा हूँ ॥२/१५॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात जी बोले—हे राजन्! जिस तप के क्रोध,काम आदि बारह दोष हैं, तथा सात प्रकार के इष्टसाधनविघातक दोष हैं, एवं तत्त्वज्ञानाऽऽदि बारह प्रकार के गुण हैं, जो कि वेदाऽऽदि शास्त्रों में ब्राह्मणाऽऽदिस्वरूप द्विजों के गुणरूप में प्रसिद्ध हैं। उन सभी प्रकार के गुणों एवं दोषों को आगे कहने जा रहा हूँ ॥२/१५॥

शां० भा०—क्रोधादया यस्य तपसो द्वादश दोषाः कल्मषाः, तथा नृशंसानि च सप्त, हे राजन्! यस्य तपसो दोषाः, तथा ज्ञानादयो द्वादश चातताना विस्तीर्यमाणाः शास्त्रे वेदशास्त्रे ये विदिता गुणा द्विजानां तानेतान् गुणान् दोषांश्च वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥२/१५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे राजन्! जिस तप के क्रोधादि बारह दोष हैं, तथा सात नृशंस भी जिनके दोष हैं और शास्त्र अर्थात् वेदशास्त्र में विस्तृत जो ज्ञानादि बारह गुण हैं, उन सभी गुण और दोषों का मैं वर्णन करूँगा—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥२/१५॥

(आगे के ग्रन्थ में दोषों का वर्णन किया जा रहा है—)

शां० भा०—क्रोधादीन् दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब क्रोधादिकों को प्रदर्शित करने जा रहे हैं—

मू०— क्रोधः कामो लोभमोहौ विवित्सा कृपासूया मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च महागुणेन सदा वर्ज्या द्वादशैते नरेण ।। २/१६।।

अन्वयः—क्रोधः, कामः, लोभमोहौ, विवित्सा, अकृपा, असूया, स्पृहा, जुगुप्सा, महागुणेन, नरेण, वर्ज्या ॥२/१६॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—क्रोधः=इच्छा के प्रतिघात से उत्पन्न हुआ आक्रोश, एवं मारने, गाली देने, आदि के कारणीभूत मन का तापविशेष, कामः=स्त्री आदि अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, लोभः=धन के व्यय करने में भय का उदय होना, मोहः=कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में विवेक का अभाव, विवित्सा=उत्तरोत्तर लाभ की दशा होने पर भी सन्तुष्टि का अभाव, अकृपा=निष्ठुरता, असूया=गुणों में दोष का अनुसन्धान करना, मानः=अपने में पूज्यत्व बुद्धि का होना, शोकः=इष्ट अर्थ के नाश होने पर मन की विकलता, स्पृहा=विषय को भोगने की इच्छा, ईर्ष्या=दूसरे की उन्नति को न देख सकना, जुगुप्सा=परनिन्दा=कुटिलता (उपर्युक्त ये सभी दोष) महागुणेन नरेण=महागुण से युक्त विद्वान् पुरुषों के द्वारा वर्ज्या=त्याग करने के योग्य हैं ।।२/१६।।

भावाऽर्थप्रभा—अद्वैताऽऽत्मज्ञान के साधनीभूत तपपरायण बहुगुणसम्पन्न ब्रह्मनिष्ठ-विद्वानों को चाहिए कि कल्याणमार्ग के विघातक क्रोध, काम, लोभ, मोह, विवित्सा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, और निन्दा इन बारह दोषों का परित्याग करें ।।२/१६।।

शां० भा०—क्रोधो नाम कामप्रतिघातादुत्पद्यमानस्ताडनाक्रोशनादिहेतुः, कामहानि-हेतुकश्चान्तःकरणविक्षेपो गात्रस्वेदकम्पनादिलिङ्गः । कामः=स्त्र्याद्यभिलाषः । लोभः= परद्रव्येच्छा, अर्जितस्य स्वकीयस्य द्रव्यस्य तीर्थविनियोगासामर्थ्यं वा । मोहः= कृत्याकृत्यविवेक-शून्यता । विवित्सा=विषयरसान्वेत्तुमिच्छा । अकृपा=निष्ठुरता । असूया=गुणेषु दोषाविष्करणम्, परगुणादिष्वक्षमा वा । मानः=आत्मबहुमानित्वम् । शोकः=इष्टार्थवियोगजोऽन्तःकरणविक्षेपो रोदनचिन्तनादिलिङ्गोऽप्रतीकारविषयः । स्पृहा=विषयभोगेच्छा । ईर्ष्या=परश्रियामसहिष्णुता । जुगुप्सा=परगुणानपह्नोतुमिच्छा, बीभत्सा वा ।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो मार-पीट और अनर्थक अपशब्दों आदि का कारण है, एवं जिसका कारण इच्छित वस्तु का नाश है, वह इच्छा के प्रतिघात से उत्पन्न होने वाला अन्तःकरण का विक्षेप, जिसकी पहचान, शरीर में पसीने आने, अथवा शारीरिक कम्पन इत्यादि लक्षणों से की जाती है, वह "क्रोध" कहा जाता है । स्त्री-संयोग की इच्छा होना "काम" है । दूसरों से धन की अपेक्षा रखना, अथवा अपने द्वारा उपार्जित किये हुए धन का उचित स्थान में उपयोग न कर सकना "लोभ" है । कर्तव्याकर्तव्य के विवेक का न होना "मोह" है । वैषयिक रसों को जानने की इच्छा का नाम 'विवित्सा" है । "अकृपा" निष्ठुरता को कहते हैं । गुणों में दोषों को चिह्नित करते रहना, अथवा दूसरों के गुणादि में सहनशीलता न होना "असूया" है । अपने को बहुत ज्यादा बढ़-चढ़कर समझना "मान" है । रोना और चिन्ता करना आदि जिसके चिह्न हैं, एवं जिसकी शान्ति का कोई उपाय नहीं है—ऐसी अभीष्ट वस्तु के वियोग से होने वाला जो अन्तःकरण का उद्वेग

है, उसे "शोक" कहते हैं। विषयभोग की इच्छा का नाम "स्पृहा" है। दूसरों की सुख-सम्पत्ति को सहन न कर सकना "ईर्ष्या" है। दूसरों के गुणों को छिपाने की इच्छा, अथवा वीभत्सता अर्थात् घृणा को "जुगुप्सा" कहते हैं।

शां० भा०—एते क्रोधादयो द्वादश दोषाः, तपसः कल्मषरूपाः सदा वर्ज्या महागुणेन ब्राह्मणेन। ब्राह्मणानामुत्कृष्टगुणयोगः स्वभावसिद्धः। तथा चोक्तं भगवता—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—महागुण अर्थात् ब्राह्मण को तप के मलस्वरूप इन क्रोधादि बारह दोषों का सर्वदा त्याग करना चाहिए। ब्राह्मणों का उत्कृष्ट गुणों के साथ सम्बन्ध स्वभाव से ही है। ऐसा ही श्रीभगवान् ने भी कहा है—"शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान एवं आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं।"

शां० भा०—अथवा महागुणो ब्रह्मप्राप्तिगुणस्तेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणेन महागुणसमन्वितेन सदा वर्जनीया इत्यर्थः। उक्तं च नाममहोदधौ—

महान् ब्रह्मेति च प्रोक्तो महत्त्वान्महतामपि।

तत्प्राप्तिगुणसंयुक्तो महागुण इति स्मृतः।।इति।।

भाष्याऽर्थप्रभा—अथवा महागुण=जिसमें ब्रह्म-प्राप्तिरूप के साधनीभूत गुण हों, उस ब्रह्मप्राप्तिरूप महान् गुण से युक्त पुरुष को इन दोषों का सर्वदा ही त्याग करना चाहिए। यह इसका तात्पर्य है। नाममहोदधि में इसप्रकार कहा गया है—"महान् से भी महान्, अर्थात् महानतम होने के कारण "ब्रह्म महान् है" यह कहा गया है। अतः जो उसकी प्राप्ति के गुण से सम्पन्न है, वह भी 'महागुण' माना जाता है ॥२/१६॥

शां० भा०—तेषां सदा वर्ज्यत्वे हेतुमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—उनके सर्वदा त्याज्य होने में हेतु (कारण) बतलाते हैं—

मू०— एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यं पर्युपासते।

लिप्समनोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः।।२/१७।।

अन्वयः—राजेन्द्र, तेषाम्, मृगाणाम्, अन्तरम्, लिप्समानः, लुब्धकः, इव, एते, एकैकम्, मनुष्यम्, पर्युपासते ॥२/१७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—राजेन्द्र!, तेषां मृगाणाम्=वध करने के लिए उन मृगों के, अन्तरम्=असावधानी को, लिप्स्यमानः=चाहनेवाला, लुब्धकः इव=व्याध के समान, एते=ये क्रोध-काम आदि बारह प्रकार के कल्याणमार्गाऽवरोधक दोष हैं, (उन बारहों

दोषों में से,) प्रत्येकम्=एक-एक दोष, अर्थात् हर एक दोष, मनुष्यम्=कल्याणपथाऽऽरोही मानव को, पर्युपासते=सर्वप्रकार से अपने स्वरूपाऽऽत्मक दोषों के द्वारा आक्रान्त किये रहने के स्वभाव से युक्त होते हैं। अर्थात् क्रोधाऽऽदि दोषों में से एक-एक दोष व्याध के समान कल्याणपथाऽऽरोही मनुष्य को दु:खमय संसारसम्बन्धाऽऽत्मकवध करने के लिए, स्वभाव से ही सर्वदा प्रवृत्त होने के लिए, छिद्ररूप द्वार के अनुसन्धान में लगे रहते हैं ॥२/१७॥

भावाऽर्थप्रभा—हे भूपाल! जिस प्रकार व्याध आरण्यक पशुओं को मारने के लिए क्षुधा-पिपासा का परित्याग करके, वध्य पशुओं के असावधानियों के अवसरों का सावधानी के साथ निरीक्षण किया करता है। उसी प्रकार काम-क्रोध-लोभाऽऽदि दोषों में से प्रत्येक दोष मानवों के असावधानाऽवस्था के अनुसन्धान में निरन्तर लगे रहते हैं, कि जब मनुष्य अपने वास्तविक मार्ग के आरोहण में प्रमाद या असावधानयुक्त होने लगता है, तब वे सभी दोष, उस परिस्थिति का लाभ उठाने में जरा सा भी चूकता नहीं है और अवसर पाते ही उसे अपने अधीन कर लेते हैं ॥२/१७॥

शां० भा०—यथा मृगाणामन्तरं=छिद्रं लिप्समानो रन्ध्रावेषणपरो लुब्धको मृगयुरनुवर्तते, यथा च छिद्रं लब्ध्वा तान् हन्ति, तथा तेषां मनुष्याणां रन्ध्रान्वेषणपरा एते क्रोधादय एकैकं मनुष्यं पर्युपासते।

अथवा, मनुष्यान् पर्युपासते, इति पाठः। तस्मिन्, एकैकं पृथक्-पृथक् मनुष्यान् पर्युपासत इति योजना। तथा छिद्रं लब्ध्वा तान् घ्नन्ति। तस्मादेतेष्वेकोऽपि दोषो विनाशकारणम्। यस्मादेवं तस्मात्सदा वर्ज्या इत्यर्थः। उक्तं च हिरण्यगर्भे—

यथा पान्थस्य कान्तारे सिंहव्याघ्रमृगादयः।
उपद्रवकरास्तद्वत् क्रोधाद्या दुर्गुणा नृणाम्।।इति।।२/१७।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस प्रकार मृगों (हिरणों) का अन्तर अर्थात् छिद्र पाने की लालसा से उनके छिद्रान्वेषण में (अवसर की प्रतीक्षा में) तत्पर हुआ व्याध (शिकारी) उनका अनुगमन करता है और ठीक समय पर घात लगाकर उन्हें मार डालता है, उसी प्रकार मनुष्यों के छिद्रान्वेषण में तत्पर हुए, ये क्रोध आदि मनुष्य को घेरे रहते हैं। अथवा जहाँ ''मनुष्यान् पर्युपासते' ऐसा पाठ है, वहाँ ऐसी संगति लगानी चाहिए कि—उनमें से अलग-अलग एक-एक दोष मनुष्यों को घेरे रहता है और घात लगने पर (अवसर पाने पर) उन्हें समाप्त कर देता है। अत: इनमें से एक भी दोष मनुष्य के विनाश का कारण है। इस कारण, ये सभी दोष सर्वथा त्याज्य अर्थात् त्याग करने योग्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है। हिरण्य-गर्भ संहिता में कहा भी गया है—

"जिस प्रकार वन में सिंह-व्याघ्र एवं मृग आदि पथिक के मार्ग में बाधा डालते रहते हैं (उपद्रव उत्पन्न करने वाले होते हैं), उसी प्रकार क्रोध आदि दुर्गुण मनुष्यों के लिए विघ्नकारक हैं।" ॥२/१७॥

(पूर्वप्रतिज्ञात प्रकृतग्रन्थ के नृशंसों का वर्णन प्रस्ताव—)

शां० भा०—इदानीं नृशंससप्तकमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब सात नृशंसों का वर्णन किया जाता है—

मू०— सम्भोगसंविद्विषमेधमानो दत्तानुतापी कृपणोऽबलीयान्।
वर्गप्रशंसी वनितां च द्वेष्टा एते परे सप्त नृशंसरूपाः ।।१/१८।।

अन्वयः—सम्भोगविद्, विद्विषम्, एधमानः, दत्ताऽनुपाती, कृपणः, अबलीयान्, वर्गप्रशंसी, च, वनिताम्, द्वेष्टा, एते, परे, सप्त, नृशंसरूपाः ॥२/१८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सम्भोगविद्=स्त्रीसंयोगाऽऽदिविषयिणी मति रखने वाला, अर्थात् भोग को ही परम पुरुषाऽर्थ समझने वाला, विद्विषम्=द्वेष को बढ़ाने वाला, दत्ताऽनुतापी=दान करके भी लोभाऽधीन होने के कारण श्रम से उपार्जित धन नष्ट हो गया, इस प्रकार शोक मनाने वाला, कृपणः=प्राण जाने तक धनव्यय करने का साहस न कर पाने का स्वभाववाला, अबलीमान्=ज्ञान बल से हीन, वर्गप्रशंसी=परजन के पराजय के कारणीभूत वर्गाऽऽत्मक पाप की प्रशंसा करने का स्वभाव, अर्थात् अन्यों के दुःख के ज्ञान से सुखी, वनितां च द्वेष्टा=अपने पर ही आश्रित रहने वाली स्त्री से द्वेष करने वाला, एते=ये सभी, परे=पूर्व में कहे गये क्रोधाऽऽदि बारह दुःखों से पृथक् (भिन्न) सप्त=सातप्रकार के, नृशंसरूपाः=क्रूर दोष होते हैं ॥२/१८॥

भावाऽर्थप्रभा—तपः कर्म के घातक पूर्ववर्णित काम-क्रोधाऽऽदि बारह प्रकार के दोषों से अतिरिक्त सातप्रकार के क्रूर दोष इस प्रकार के हैं—स्त्रीभोग में आसक्त होना, दूसरे के दुःख में सुखी होना, दान देकर धन व्यय पर शोक करना, मरणपर्यन्त धनव्यय को सहन न करना, आत्मज्ञान से हीन, अर्थ-काम की प्रशंसा करने का स्वभाव, अपनी अनन्य भार्या से द्वेष रखना, ये सातों प्रकार के विघातक दोष मनुष्यों को क्षणमात्र में भी शान्ति का अनुभव नहीं करने देते हैं, अतः मनुष्यों को इसके त्याग के उपायों का अनुसन्धान करते रहना चाहिए ॥२/१८॥

शां० भा०—सम्भृोगेति। सम्भोगे=विषयसम्भोगे संविद् बुद्धिर्यस्य वर्तते स सम्भोग-संविद् विषमेधमानः=विषमिव परेषाम् उपद्रवं कृत्वा एधमानो वर्द्धमानः, अथवा द्विषमेधमान इति पाठान्तरम्। द्विषं=द्वेष्यं कर्म कृत्वा प्राणिनां तद्द्वारेण एधमानः। दत्तानुतापी—यः पूर्वं धर्मबुद्ध्या धनादिकं दत्त्वा पश्चात् किमर्थमहं दत्तवानिति तप्तो भवति, स दत्तानुतापी।

कृपणः=यत्किंचिदर्थलवलाभमात्रलोभात्सर्वावमानं सहते यः स कृपणः। अबलीयान् ज्ञानबलवर्जितः। वर्गप्रशंसी—इन्द्रियवर्गप्रशंसी। वनितां च द्वेष्टा, अनन्यशरणां भार्यां यो द्वेष्टि। एते परे पूर्वोक्तेभ्यः क्रोधादिभ्यः सप्त नृशंसरूपाः॥२/१८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—सम्भोग अर्थात् विषयभोग में संवित्—बुद्धिरत रहती है जिसकी, उसे 'सम्भोगसंवित्' कहते हैं। 'विषमेधमानः'—विष के सदृश, दूसरों के लिए बाधा उत्पन्न करने वाला अर्थात् उपद्रव करके आगे बढ़ने वाला, अथवा जहाँ 'द्विषमेधमानः' इस प्रकार का पाठान्तर है, वहाँ जीवों के प्रति द्विष अर्थात् द्वेष्य कर्म करके उसके द्वारा बढ़ने वाला'—ऐसा अर्थ होगा। 'दत्तानुतापी'—जो पहले धर्मबुद्धि से धनादि दान करके फिर बाद में 'मैंने क्यों दिया' ऐसा पश्चाताप करता है, वह 'दत्तानुतापी' कहलाता है। 'कृपण' जो धन के थोड़े-से लेशमात्र का लाभ प्राप्त करने के लिए लोभ के वशीभूत सभी प्रकार के अपमान सहन करता है, उसे 'कृपण' जानना चाहिए। 'अबलीयान्'— ज्ञानरूप बल से रहित। 'वर्गप्रशंसी'—इन्द्रियसम्बन्धी भोगों की, अर्थात् इन्द्रिय-वर्ग की प्रशंसा करने वाला। स्त्री से द्वेष करने वाला (अर्थात् अपनी स्त्री जिसका अन्य कोई और आश्रय नहीं है), ऐसी अपनी स्त्री से द्वेष करने का स्वभाव। ये पूर्वोक्त क्रोध आदि से भिन्न सात नृशंसरूप हैं॥२/१८॥

(कल्याणमार्ग के प्रवर्त्तक बारह प्रकार के गुणों का वर्णन)

शां० भा०—इदानीं ज्ञानादयो द्वादशगुणा उच्यन्ते—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस समय ज्ञानादि बारह गुणों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

मू०— ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतं च अमात्सर्यः ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः शमश्च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य॥२/१९॥

अन्वयः—ज्ञानम्, च, सत्यम्, च, दमः, श्रुतम्, च, अमात्सर्यम्, ह्रीः, तितिक्षा, अनुसूया, च, यज्ञः, च, दानम्, च, धृतिः, समः, च, ब्राह्मणस्य (एते) महाव्रताः॥ २/१९॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—ज्ञानम्=आत्मतत्त्वज्ञान, सत्यम्=परक्लेश का अकारणीभूत यथाऽर्थभाषण, दमः=बाह्य इन्द्रियों का नियन्त्रण, श्रुतञ्च=और अध्यात्मशास्त्र के उपदेश का श्रवण, अर्थात् अर्थज्ञानसम्बलित वेदाऽऽदिशास्त्र का अध्ययन, अमात्सर्यम्=परगुण को सहन न करने के स्वभाव का परित्याग, ह्रीः=अकार्य में लज्जा, तितिक्षा=क्रोध के अवसर उपस्थित होने पर भी समझदारीपूर्वक उसका शमन करना, अनसूया=परदोष के अनुसन्धान का अभाव, च=और, यज्ञश्च=ज्योतिष्टोमाऽऽदियज्ञों का कर्तव्यबुद्धि से

सम्पादन, दानञ्च=ब्राह्मणाऽऽदिकों को उद्देश करके धनाऽऽदिकों का परित्याग करना, धृतिः-विषय की समीपता होने पर भी, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, शमः=अन्तःकरण का नियन्त्रण, महाव्रता=ये ज्ञानाऽऽदि का साधकों में उपस्थित होना महाव्रत कहलाते हैं। ये पुनः परमपुरुषाऽर्थ के कारणभूत हैं जो कि ब्रह्मप्राप्तिमार्ग में स्वाभाविकरूप से आरूढ ब्राह्मणों के कहे गये हैं ॥२/१९॥

भावाऽर्थप्रभा—आत्मज्ञान, परक्लेश को उत्पन्न न करने वाला यथाऽर्थ भाषण, मन को अपने अधीन रखना, अध्यात्मशास्त्र का श्रवण, समस्त जीवों के प्रति सहाऽनुभूति का होना, अकार्य सम्पादन में लज्जा होना, सुखदुःखों के द्वन्द्व का सहन, दूसरों के दोष को न देखना, पञ्चमहायज्ञाऽऽदि को करना, अपनी सम्पत्ति को ब्राह्मणाऽऽदिकों के उद्देश्य से देना, विषय की सन्निकटता में इन्द्रियों पर स्वाभाविक नियन्त्रण, मन को अपने वश में रखना, ये ज्ञानाऽऽदि बारह प्रकार के गुण महाव्रत कहलाते हैं, जो कि परम-पुरुषाऽर्थ के साधनरूप में ब्राह्मणों के लिए कहे गये हैं ॥२/१९॥

शां० भा०—ज्ञानं=तत्त्वार्थसंवेदनम्। सत्यं यथार्थभाषणं भूतहितं च। दमो मनसो दमनम्। श्रुतम्=अध्यात्मशास्त्रश्रवणम्। मात्सर्यं=सर्वभूतेष्वसहमानता तदभावोऽमात्सर्यम्। ह्रीः=अकार्यकरणे लज्जा। तितिक्षा=द्वन्द्वसहिष्णुता। अनसूया=परदोषानाविष्करणम्। यज्ञः=अग्निष्टोमादिः, महायज्ञश्च। दानं=ब्राह्मणादिभ्यो धनादिपरित्यागः। धृतिः= विषय-संनिधावपीन्द्रियनिग्रहः। शमः=अन्तःकरणोपरतिः, बहिःकरणोपरतिरिति केचित्। एते ज्ञानादयो महाव्रताः परमपुरुषार्थ-साधनभूता ब्राह्मणस्य ॥२/१९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—ज्ञान-तत्त्व-वस्तु को जानना, सत्य—जीवों के लिए हितकारी (कल्याणकारी) और यथार्थभाषण, दम—मन का निग्रह करना (मन को एकाग्र करना), श्रुत—अध्यात्मशास्त्र का श्रवण, अमात्सर्य—सभी प्राणियों (जीवधारियों) के प्रति सहानुभूति का न होना मात्सर्य है, उसका अभाव होना ही अमात्सर्य कहलाता है, ह्री—न करने योग्य कार्य को करने में लज्जा (संकोच) होना, तितिक्षा—द्वन्द्व सहन करना, अनसूया—दूसरों के दोष न देखना, यज्ञ—अग्निष्टोमादि तथा पञ्चमहायज्ञ, दान—ब्राह्मणादि को धन आदि के द्वारा सन्तुष्ट करना, धृति—विषय के पास रहने पर भी इन्द्रियों का दमन करना अर्थात् नियन्त्रित रखना, तथा शम—अन्तःकरण की शान्ति एवं किसी-किसी के मतानुसार बाह्य इन्द्रियों का दमन—ये ज्ञानादि महान् व्रत ब्राह्मण के लिए परम पुरुषार्थ के साधनस्वरूप हैं ॥२/१९॥

(गुणों की स्तुति)

शां० भा०—ये 'ज्ञानादयो द्वादश चाततानाः' इति पूर्वं प्रस्तुताः, ते वर्णिताः। इदानीं गुणस्तुतिं करोति—

भाष्याऽर्थप्रभा—"ज्ञानादयो द्वादश चाततानाः" इत्यादि श्लोक से जिनका पूर्व में प्रस्ताव किया गया था, उन गुणों का वर्णन कर दिया गया है; अब उन गुणों की स्तुति करते हैं—

मू० — यत्वेतेभ्योऽप्रवसेद द्वादशभ्यः सर्वामिमां पृथिवीं स प्रशिष्यात्।

त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वाविमुक्ताः क्रमाद् विशिष्टा मौनभूता भवन्ति ।।२/२०।।

अन्वयः—यः, एतेभ्यः, द्वादशेभ्यः, अप्रवसेत्, सः, तु, इमाम्, सर्वाम्, पृथिवीम्, प्रशिष्यात्, त्रिभिः, द्वाभ्याम्, वा, एकतः, अविमुक्ताः, क्रमात्, विमुक्ताः, मौनभूताः, भवन्ति ॥२/२०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो मनुष्य, एतेभ्यः द्वादशेभ्यः=पूर्ववर्णित ज्ञानाऽऽदि बारह गुणों से, अप्रवसेत्=सम्बद्ध हो जाय, सः=वह पुरुष, तु=तो, इमाम्=इस, सर्वाम्= सम्पूर्ण, पृथिवीम्=पृथिवी को, प्रशिष्यात्=प्रशासन करने की योग्यता को प्राप्त कर सकता है, एवं, त्रिभिः, द्वाभ्याम्=तीन से, दो से, वा=या पुनः, एकतः=एकमहाव्रत के अनुष्ठान से भी, अविमुक्ताः=युक्त होते हैं, तो, क्रमात्=क्रमिक रूप से, विमुक्ताः=वे मोक्ष लाभ किया करते हैं, किन्तु तत्काल वे महाव्रतांऽशधारी, मौनभूताः भवन्ति=मौनस्वरूप में स्थित हुए ब्रह्मज्ञानी हो जाते हैं ॥२/२०॥

भावाऽर्थप्रभा—जो मनुष्य ज्ञानाऽऽदिस्वरूप इन बारहगुणों से विभूषित हो जाता है, वह मनुष्य इस समस्त पृथिवी पर शासन करने की योग्यता को धारण करता है, किन्तु जो इन ज्ञानाऽऽदि गुणों में से तीन-दो अथवा एक व्रत से भी युक्त होते हैं वे पुरुष भी क्रमशः विशिष्टज्ञानी होते हुए ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं ॥२/२०॥

शां० भा०—यस्त्विति । यस्त्वेतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्योऽप्रवसेत्=प्रवासं न करोति तैरेव समन्वितो भवेत्, स सर्वामिमां पृथिवीं प्रशिष्यात् प्रशास्ति, आत्मवश्यां करोति । य एतेषां मध्ये त्रिभिर्द्वाभ्याम् एकत एकस्माद्वा अविमुक्ता एतेषामन्यतमेनापि समन्विताः, त एते क्रमेण विशिष्टा ज्ञानिनो भूत्वा मौनभूता ब्रह्मभूता भवन्ति ॥२/२०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो पुरुष इन पूर्वोक्त गुणों से प्रवास नहीं करता और इनसे ही सदा सम्पन्न रहता है, वह पुरुष इस सम्पूर्ण धरा का प्रकृष्टरूप से शासन करता है अर्थात् इसे अपने अधीन कर लेता है। जो लोग इनमें से तीन, दो या एक गुण से भी रहित नहीं हैं अर्थात् इनमें से किसी भी गुण से सम्पन्न हैं, वे क्रमशः विशिष्ट ज्ञानी होकर मौनभूत-ब्रह्मभूत हो जाते हैं ॥२/२०॥

(दम के दोष का वर्णन)

शां० भा०—इदानीं दमदोषानाह श्लोकत्रयेण—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब निम्नांकित तीन श्लोकों से दम के दोषों का वर्णन करते हैं—

दमोऽष्टादशदोषः स्यात् प्रतिकूलं कृते भवेत् ।

अनृतं पैशुनं तृष्णा प्रातिकूल्यं तमोऽरतिः ।।२/२१।।

लोकद्वेषोऽभिमानश्च विवादः प्राणिपीडनम् ।

परिवादोऽतिवादश्च परितापोऽक्षमाधृतिः ।।२/२२।।

असिद्धिः पापकृत्यं च हिंसा चेति प्रकीर्तिताः ।

एतैर्दोषैर्विमुक्तो यः स दमः सद्भिरुच्यते ।।२/२३।।

अन्वयः—प्रतिकूलम्, कृते, स्यात्, दमः, अष्टादशदोषः, भवेत्, (ते च) अनृतम्, पैशुनम्, तृष्णा, प्रातिकूल्यम्, तमः, अरतिः ॥२/२१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—प्रतिकूलम्=प्रतिकूल व्यवहार, कृते=किये जाने की अवस्था में, स्यात्=प्रकट हुआ करता है । दमः=दम भी, अष्टादशदोषः=अठारह प्रकार के दोषों से युक्त, भवेत्= होता है । वे दोष हैं—अनृतम्=असत्य वाणी का व्यवहार, पैशुनम्=दूसरे की निन्दा, तृष्णा=विषयों की आशा या इच्छा, प्रातिकूल्यम्=सब प्राणियों के विरोध में रहना, तमः=अज्ञान, अरतिः=आलस्य ॥२/२१॥

भावाऽर्थप्रभा—दम अठारह दोषों से युक्त हो सकता है । इन दोषों के होने पर मनुष्य प्रतिकूल आचरण करने लग जाता है । दम के वे अठारह दोष इस प्रकार हैं—असत्य-भाषण, परनिन्दा, विषय की कामना, अपने समीपवर्ती जीवों से प्रतिकूलता का अनुभव करना, अथवा समीपवर्ती जीवों के प्रतिकूल होना, अज्ञानयुक्त होना, सत्क्रिया के सम्पादन में अभिलाषा न होना ॥२/२१॥

अन्वयः—लोकद्वेषः, ऽभिमानः, विवादः, प्राणिपीडिनम्, परिवादः, अतिवादः, परितापः, अक्षमा, च, अधृतिः ॥२/२२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—लोकद्वेषः=देशद्रोह, च=और, अभिमानः=सर्वव्यवहार में अपने को बड़ा समझना, विवादः=आपस में निरर्थक कलह करना, प्राणिपीडनम्=दूसरे जीव को कष्ट देना, परिवादः=दूसरों के ऊपर दोष का आरोप करना, अतिवादः=निरर्थक बहस करना, परितापः=व्यर्थ की चिन्ता करना, अक्षमा=दूसरे के द्वारा किये अपराध को सहन न करना, अथवा सुख-दुःखाऽऽदि द्वन्द्व का सहन न कर पाना, च=और, अधृतिः=इन्द्रियसम्बद्ध विषयों के प्रति चित्त की चञ्चलता का होना ॥२/२२॥

भावाऽर्थप्रभा—लोगों से द्वेष रखना, बड़प्पन का अभिमान, व्यर्थ कलह=झगड़ा करना, प्राणियों को कष्ट देना, दूसरे पर दोष लगाना, निरर्थक अधिक बोलना, निरर्थक दुःख व्यक्त करना, असहिष्णुता, धैर्यराहित्य ॥२/२२॥

अन्वयः—असिद्धिः, पापकृत्यम्, च, हिंसा, च, इति, प्रकीर्तिताः, एतैः, दोषैः, यः, विमुक्तः, सः, दमः, सद्भिः, उच्यते ॥२/२३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—असिद्धिः=साधनों में असफलता, पापकृत्यम्=निषिद्ध आचरण, च=और, हिंसा=जीववध, च=इस प्रकार, इति=इतने दोष, प्रकीर्त्तिताः=कहे गये हैं। एतैः=इन, दोषैः=दोषों से, यः=जो, विमुक्तः=मुक्त है, सः=वही, दमः=संयम है, सद्भिः=सन्तों द्वारा, उच्यते=ऐसा कहा जाता है।

भावाऽर्थप्रभा—धर्मादि में असफलता, निषिद्ध आचरण, हिंसा—इन दोषों से मुक्त जो इन्द्रिय संयम है, उसी को विद्वानों ने "दम" कहा है। सभी दोषों से शून्य "दम" व्रत का पालन करते हुए ही साधक आत्मसाक्षात्कार के योग्य हो पाता है ॥२/२३॥

शां० भा०—दमोऽष्टादशदोषः स्यात्, अष्टादशदोषसमन्वितो भवति। किमेतेषां दोषत्वमिति चेत्, प्रतिकूलं कृते भवेत्। एतेषामन्यतमे कृते दमस्य प्रतिकूलं कृतं भवेत्। के ते? अनृतम् अयथार्थवचनम्। पैशुनं परदूषणवचनम्। तृष्णा विषयेप्सा। प्रातिकूल्यं सर्वेषां प्रतिकूलता। तमोऽज्ञानम्। अरतिः—अयथाऽर्थलाभसंतुष्टिः, अथवा रतिः स्त्रीसम्भोगेष्वभिरतिः। लोकद्वेषो लोकानामुद्वेगाचरणम्। अभिमानः सर्वेषामप्रणतिभावः। विवादो जनकलहाचरणम्। प्राणिपीडनं स्वदेहपूरणाय प्राणिहिंसनम्। परिवादः समक्षे परदूषणाभिधानम्। अतिवादो निरर्थकोऽतिप्रलापो। परितापो वृथादुःखचिन्तनम्। अक्षमा द्वन्द्वासहिष्णुता। अधृतिरिन्द्रियार्थेषु चपलता। असिद्धिर्धर्मज्ञानवैराग्याणाम्। पापकृत्यं प्रतिषिद्धाचरणम्। हिंसा अविहितहिंसा। इतीत्थं दमदोषाः प्रकीर्तिताः। एतैरनृतादिभिर्दोषैर्विमुक्तो यो गुणः स दम इति सद्भिरुच्यते ॥२/२१-२३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—दम अठारह दोषों वाला हो सकता है, अर्थात् वह अठारह दोषों से युक्त होता है। यदि यह कहा जाय कि इनमें इस प्रकार का दोषत्व क्यों है? तो कहा जाता है कि इनके करने पर प्रतिकूल होता है, अर्थात् इनमें से किसी के भी करने पर दम के विपरीत अर्थात् प्रतिकूल आचरण होता है। वे दोष कौन-से हैं? (इसके उत्तर में कहते हैं)—अनृत—असत्य-वचन, पैशुन—दूसरों के दोषों का वर्णन करना, तृष्णा=विषयों की इच्छा (लालसा), प्रातिकूल्य—सभी की प्रतिकूलता, तमस्=अज्ञान, अरति—यथालाभ में असन्तुष्टि, अथवा रति अर्थात् स्त्री-सम्भोग में राग, लोकद्वेष—लोकों को उद्विग्न कर देना (शान्ति-भंग करना), अभिमान—सबके प्रति अविनय की भावना, विवाद—जनसमूह के साथ कलह करना, प्राणिपीडन—अपने शरीर की पुष्टि (पालन-पोषण एवं वृद्धि) के लिए अन्य प्राणियों की हिंसा करना, परिवाद—किसी दूसरे का दोष उसके मुँह पर बोलना, अतिवाद—व्यर्थ ही आवश्यकता से अधिक बकवाद करना, परिताप—वृथा (व्यर्थ में) दुःख मानना, अक्षमा—द्वन्द्व सहन न कर सकना, अधृति—इन्द्रियसम्बन्धी विषयों के प्रति चित्त की चञ्चलता, असिद्धि—धर्म, ज्ञान और

वैराग्य की प्राप्ति न होना, पापकर्म—प्रतिषिद्ध आचरण करना, हिंसा—शास्त्रविधान से रहित हिंसा, इस प्रकार ये सब दम के दोष बतलाये गये हैं। जो गुण अनृतादि दोषों से रहित है, उसी को सत्पुरुषों ने दम कहा है ॥२/२१-२३॥

(मद के दोष)

शां० भा०—इदानीं मददोषानाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—इससमय मद के दोष बतलाये जा रहे हैं—

मू०— मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः।
विपर्ययाः स्मृता ह्येते मददोषा उदाहृताः ।। २/२४।।

अन्वयः—मदः, अष्टादशदोषः, स्यात्। त्यागः, षड्विधः, भवति, हि, एते विपर्ययाः, स्मृताः, मददोषाः, उदाहृताः ॥२/२४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—मद=मद के विकार से, अष्टादशदोषाः=अट्ठारह प्रकार के दोष, स्यात्=होते हैं। त्यागः=त्याग, षड्विधः= छह प्रकार का, भवति=होता है, हि= क्योंकि, एते=जो दम के दोष हैं वे मद से, विपर्ययाः=उलटकर, अर्थात् वे दोष दम के विपरीत रूप में, स्मृताः=कहे गये, मददोषाः=मद के दोष, उदाहृताः=कहे जाते हैं ॥२/२४॥

भावाऽर्थप्रभा—मद अठारह दोषों वाला होता है, एवं त्याग के छः भेद होते हें। ये अनृत (असत्य) से आरम्भ करके हिंसा पर्यन्त जो दम (इन्द्रियसंयम) के दोष कहे गये हैं, वे विपरीतरूप से स्मृतिविषय बनने पर, अर्थात् सत्य, अपैशुनता विषयनैरपेक्ष्य आदि रूप से स्मरण विषय होने पर ये मद के नाश करने वाले मददोष कहे जाते हैं। जिनका स्फुटविवेचन शाङ्करभाष्य में किया गया है ॥२/२४॥

शां० भा०—मद इति। मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागश्च षड्विधो भवति। विपर्ययाः स्मृताः—एतेऽनृतादिहिंसान्ता ये दमदोषत्वेन स्मृताः, त एते विपर्ययाः स्मृताः सत्यादिरूपत्वेन स्मृता मददोषा मदनाशकरा उदाहृताः।

के ते? सत्यापैशुनातृष्णाप्रातिकूल्यातमोऽरतिलोकाद्वेषानभिमानाविवादाप्राणिहिंसापरिवादानतिवादा परितापक्षमाधृतिसिद्ध्यपापकृत्याहिंसा इत्येते मदनाशकरा उदाहृताः ॥२/२४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—मद अट्ठारह दोषों वाला है तथा त्याग छः प्रकार का होता है। विपर्ययाः स्मृताः अर्थात् अनृत से लेकर हिंसापर्यन्त जो दम के दोष बतलाये जा चुके हैं, वे विपरीतरूप से स्मरण करने पर, अर्थात् सत्यादिरूप से स्मृत होने पर मद के दोष यानी मद को समाप्त करने वाले कहे गये हैं।

वे (मद के दोष) कौन-से हैं?—सत्य, अपैशुन, अतृष्णा, अप्रातिकूल्य, अतमस् (ज्ञान), अरति (विषयसम्बन्धी राग का अभाव), लोक से द्वेष न करना, अभिमान-शून्यता अर्थात् अभिमान न करना, अविवाद, प्राणियों की हिंसा न करना, परिवाद न करना, अधिक बकवाद न करना, परिताप न करना, क्षमा-भाव, धृति, सिद्धि, पुण्यकर्म और अहिंसा—ये सभी मद का नाश करने वाले कहे जाते हैं।

(षड्विध त्याग)

शां० भा०—"त्यागो भवति षड्विधः" इत्युक्तम्। तत्राह—

भाष्याऽर्थप्रभा—उपरोक्त व्याख्यानुसार त्याग छः प्रकार का होता है, अब उसके विषय में कहते हैं—

मू०— श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयस्तत्र दुष्करः।

तेन दुःखं तरन्त्येव तस्मिंस्त्यक्ते जितं भवेत्॥२/२५॥

अन्वयः—षड्विधः, त्यागः, तत्र, तृतीयः, दुष्करः, तेन, दुःखम्, तरन्ति, एव, तथा, तस्मिन्, कृते, सर्वजितम्, भवेत्॥२/२५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—षड्विधः=छः प्रकार का, त्यागः=त्याग, श्रेयान्=श्रेष्ठ कहा जाता है, तत्र=उनमें से, तृतीयः=तीसरा, दुष्करः=अत्यन्त कठिन है, तेन=उसके त्याग से, दुःखम्=सम्पूर्ण दुःखों को तरन्ति=पार कर जाते हैं, एव=ही, तथा=साथ ही, तस्मिन्=उसका त्याग, कृते=करने पर, सर्वजितम्=सबको जीतने वाला, भवेत्=होता है॥२/२५॥

भावाऽर्थप्रभा—मद में अट्ठारह प्रकार के दोष कहे गये हैं। भाव यह है कि पूर्व में जो दम के दोष बताए गये हैं, वे ही प्रतिकूल होने पर मद से उत्पन्न विकार हैं। साधक को दम की साधना के लिए मद का भली-भाँति त्याग करना पड़ता है। इसी प्रकार त्याग भी छः प्रकार के हैं। वे छहों त्याग अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि के होते हैं, अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के लिए अत्यधिक श्रेयस्कर हैं। परन्तु इन छहों त्यागों में जो तीसरा त्याग बताया गया है अर्थात् काम त्याग, वह तो अत्यन्त कठिन है, अतएव अत्यन्त आवश्यक भी है। काम के त्याग से प्राणी निश्चय ही त्रिविध दुःखों को पार कर जाता है। अज्ञान को नष्ट करने का सबसे बड़ा साधन काम का त्याग करना ही है, और यही आत्मज्ञान में सबसे अधिक सहायक भी है॥२/२४-२५॥

शां० भा०—श्रेयानिति। श्रेयान् तु षड्विधः त्यागः, तत्र एतेषु षड्विधत्यागेषु मध्ये तृतीयत्यागो दुष्करो=दुःखसम्पाद्यो भवति। तेन तृतीयेन त्यागेन दुःखम् आध्यात्मिकादि-भेदभिन्नं तरन्त्येव तस्मिन् त्यागे कृते सति सर्वं जितं भवेत्॥२/२५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—छः प्रकार का त्याग तो श्रेयस्कर है; किन्तु इन छः प्रकार के त्यागों में तीसरा त्याग दुष्कर अर्थात् कठिनता से उपार्जन किये जाने योग्य है (कहने का तात्पर्य है कि यह त्याग करना सभी लोगों के वश में नहीं है, अतः उत्तम कोटि के मनुष्य ही इस प्रकार के त्याग करने में समर्थ होते हैं।) इतना दुष्कर होने के उपरान्त भी जो मनुष्य इन त्यागों को उपार्जित कर लेते हैं, वे उस तीसरे त्याग के द्वारा आध्यात्मिकादि भेद से विभिन्न प्रतीत होने वाले दुःख को पार कर ही लेते हैं, तथा उस त्याग के करने पर सभी कुछ जीत लिया जाता है ॥२/२५॥

शां० भा०—त्यागषट्कं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब छः प्रकार के त्यागों को दिखलाने के लिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जा रहा है।

मू०— अर्हते याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददाति यत्।
इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यान्नित्यं वैराग्ययोगतः ।।२/२६।।
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो मतः ।।२/२७।।

अन्वयः—अर्हते, याचमानाय, पुत्राऽन्वितम्, यत्, ददाति (इति प्रथमः,) द्वितीयम्, इष्टापूर्त्तम्, स्यात् ॥२/२६॥

राजेन्द्र!, च, नित्यम्, वैराग्ययोगतः, कामत्यागः, सः, तृतीयः, इति, स्मृतः। एतैः, सः, अपमादी, भवेत्, च, सः, अपि, अष्टगुणः ॥२/२७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—अर्हते=योग्य, याचमानाय=याचक के लिए, पुत्रान्वितम्= पुत्रादिकों से समन्वित, यत्=जो कुछ, ददाति=दिया करता है, (इति=वह, प्रथमः= प्रथमत्याग कहलाता है) द्वितीयम्=द्वितीयश्रेणि का त्याग पुनः, इष्टापूर्त्तम्=देव एवं पितरों के उद्देश्य से किया जाने वाला कर्म, स्यात्=होता है ॥२/२६॥

राजेन्द्र!=हे राजेन्द्र! च=और, नित्यं वैराग्ययोगतः=सर्वथा वास्तविक वैराग्य से युक्त होकर, कामत्यागः=जो धनाऽऽदिविषयक कामनाओं का परित्याग, सः=वह त्याग, तृतीयः=तृतीयश्रेणि का है, इति स्मृतः=ऐसा कहा जाता है। एतैः=इन सभी त्यागों से, युक्त हुआ, सः=वह त्यागयुक्त प्राणी, अप्रमादी=आत्मज्ञान प्राप्ति में अधिकारी, भवेत्=हो जाता है। च=और, सः अपि=वह मनुष्य निश्चितरूप से, अष्टगुणः=कल्याणकारी आठ गुणों वाला भी सम्पन्न हो जाता है ॥२/२७॥

भावाऽर्थप्रभा—अतएव कामना का त्याग प्रमाद को नष्ट कर देता है जो कि, संसार का मूल कारण है। वह अप्रमाद भी आठ गुणों वाला है, अर्थात् प्रमाद से

रहित हो जाने पर उस साधक में आठ प्रकार के गुण आ जाते हैं ॥२/२६-२७॥

शां० भा०—अर्हत इति। अर्हते=दान, योग्याय=याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददाति यत् तदेतत् त्यागद्वयं षण्णां मध्ये प्रथमम्। इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यात्—इष्टं=श्रौते कर्मणि यद् दानम्। पूर्तं=स्मार्ते कर्मणि। इष्टं देवेभ्यो दत्तम्, पूर्तं पितृभ्य इति केचित्। नित्यं वैराग्ययोगतो विशुद्धसत्त्वस्यानित्यत्वादिदोषदर्शिनो विरक्ततया धनादिपरित्यागः कामत्यागश्च, राजेन्द्र! स तृतीय इति स्मृतः। किमेतैर्भवतीत्याह—अप्रमादीति। य एतैः षड्भिस्त्यागैः समन्वितः सोऽप्रमादी भवेत् ॥ २/२६-२७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—अर्हत—योग्य माँगने वाले (योग्य प्रार्थी) को जो पुत्र और धन देता है, वह दो प्रकार का त्याग छः प्रकार के त्यागों में पहला स्थान रखता है। इष्टापूर्त—यह दूसरा त्याग है। इष्ट—जो दान श्रौत कर्म में दिया जाता है और पूर्त—स्मार्तकर्म में दिया जाने वाला दान। कोई-कोई यह तात्पर्य भी बताते हैं कि देवताओं को दिया हुआ दान "इष्ट" कहलाता है और पितरों को दिया जाने वाला "पूर्त"। फिर सर्वदा वैराग्य के द्वारा शुद्धचित्त एवं विषयों में अनित्यत्वादि दोष देखने वाले पुरुष के विरक्तता के कारण धनादि-त्याग, तथा काम-त्याग होते हैं, हे राजेन्द्र! वह तीसरे प्रकार का त्याग माना गया है। (यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रथम त्याग में पुत्रदान और धनदान, दूसरे में इष्ट और पूर्त, एवं तीसरे में धन आदि का त्याग और अन्त में कामत्याग—इस प्रकार हर वर्ग में दो-दो त्याग रहते हैं। अतः यह तीन प्रकार का त्याग ही अपने अवान्तर भेदों के कारण छः प्रकार का है।)

अब प्रश्न उठता है इन-इन त्यागों का परिणाम क्या होता है?, इसके समाधान में "अप्रमादी" इत्यादि से बताते हैं। जो पुरुष इन छः प्रकार के त्यागों से युक्त होता है, वह अप्रमादी हो जाता है ॥२/२६-२७॥

(आठ प्रकार के गुण का वर्णन)

शां० भा०—के ते? तान् दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—वे गुण कौन से हैं? उन्हें दर्शाते हैं—

मू०— सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।

अस्तेयो ब्रह्मचर्यं च तथाऽसंग्रह एव च ॥२/२८॥

अन्वयः—सत्यम्, ध्यानम्, समाधानम्, चोद्यम्, च, वैराग्यम्, एव, अस्तेयम्, ब्रह्मचर्यम्, च, तथा, असङ्ग्रहम्, एव ॥२/२८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सत्यम्=यथाऽर्थशब्दोच्चारम्, ध्यानम्=ईश्वराऽनुसन्धानस्वरूप

मन की एकाऽग्रता, समाधान=पदार्थतत्त्व का निश्चित बोध, चोद्यम्=यथाऽर्थज्ञानोत्पत्ति के लिए तदनुकूल सत्तर्क, च=और, वैराग्यम्=विषयों में ग्रहणेच्छा बुद्धि का अभाव, अस्तेयम्=अवैध रीति से परकीयद्रव्य के ग्रहण का अभाव, ब्रह्मचर्ययम्=स्त्रीसंगाऽऽदि का परित्याग, च=और, तथा=उसी प्रकार, असंग्रहम्=धन-जन आदि के संग्रह का अभाव, इस प्रकार आठ गुणों के स्वरूप में, एव=ही अप्रमाद व्यक्त होते हैं ॥२/२८॥

भावाऽर्थप्रभा—काम के त्याग को भगवान् सनत्सुजात दुष्कर बताए हैं क्योंकि आत्म-साक्षात्कार के प्रतिबन्धकों के अन्तर्गत मुख्यरूप से उपस्थित होने वाले काम-क्रोध-लोभ—इन तीनों में भी काम दोष की सर्वश्रेष्ठता है, अत: उसे ही आत्मबोध का प्रबलतम शत्रु स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार से काम ही इस अनात्मभूत संसार का मूल कारण है। अत एव कामना का त्याग संसार के मूल कारण प्रमाद का नाशक है।इस प्रकार प्रमाद का त्यागाऽऽत्मकअभाव भी आठ प्रकार के गुणों वाला माना गया है, अर्थात् प्रमादरहित हो जाने पर उस साधक में अष्टविध गुण आ जाते हैं और वे आठ गुण हैं—(१) सत्य बोलना, (२) ईश्वर का ध्यान, (३) अध्यात्मचिन्तन, (४) आत्मज्ञान को जानने की इच्छा (५) वैराग्य, (६) चोरी न करना, (७) ब्रह्मचर्य का पालन, (८) धनाऽऽदिसंग्रह न करना ॥२/२८॥

शां० भा०=सत्यं यथार्थभाषणम्। ध्यानं चेतसः कस्मिंश्चिच्छुभाश्रये मण्डलपुरुषादौ तैलधारावत्संतत्यविच्छेदिनी प्रवृत्तिः। समाधानं प्रणवेन विश्वाद्युपसंहारं कृत्वा स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थानम्। चोद्यम् 'कोऽहं कस्य कुतो वा'' इत्यादि। वैराग्यं दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णता। अस्तेयोऽचौर्यमात्मनो द्रव्यस्य वा। आत्मचौर्यमुक्तम्—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा।।इति।।

ब्रह्मचर्यम् अष्टाङ्गमैथुनत्यागः। तथा चोक्तम्—

स्मरणं कीर्तनं केलिर्वीक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।।

इति।असंग्रहोऽपरिग्रहः पुत्रदारक्षेत्रादीनाम्। एतान् परिपालयेत्।।२/२८।।

भाष्याऽर्थप्रभा—सत्य—यथार्थ भाषण करना (सच बोलना), ध्यान—सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष आदि, अर्थात् किसी शुभ आश्रय में चित्त की तैलधारावत् व्यवधानशून्य

प्रवृत्ति, समाधान—"ॐ"कार (ओंकार) चिन्तन के द्वारा (अवस्थात्रय के अभिमानी) विश्वादि को बाँधकर स्वाभाविक सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूप से स्थित होना, चोद्य (शङ्का)—"मैं कौन हूँ? किसका हूँ? कहाँ से आया हूँ?" इत्यादि प्रकार से स्वविषय में जिज्ञासा, वैराग्य=दृष्ट और श्रुत वस्तुओं, अर्थात् पदार्थों के विषय में तृष्णा का त्याग, अस्तेय—आत्मा, या अनात्मभूतबाह्यद्रव्य का चोरी न करना—"जो अन्य प्रकार के आत्मा को अन्य प्रकार से जानता है, उस आत्मघाती चोर ने क्या पाप नहीं किया" इस वाक्य द्वारा आत्मा की चोरी का वर्णन किया गया है। ब्रह्मचर्य—अष्टाङ्ग मैथुन का त्याग, ऐसा ही कहा भी गया है—"स्त्रियों का स्मरण, उनकी चर्चा करना, उन्हें देखना, एकान्त में उनसे वार्तालाप करना, स्त्री-सम्पर्क का संकल्प करना, उसके निमित्त प्रयत्न करना, एवं मैथुन-कर्म में प्रवृत्त होना—विद्वत्जन इन अष्टाङ्ग (आठ प्रकार के) मैथुन को बतलाते हैं। इससे विपरीत आठ प्रकार के लक्षणों से युक्त ब्रह्मचर्य है।" असंग्रह (अपरिग्रह)—पुत्र, स्त्री और क्षेत्र आदि का संग्रह न करना। इन सभी का सम्यक् प्रकार से पालन करे ॥२/२८॥

(दोषों का त्याज्यत्व और अप्रमाद)

शां० भा०—दोषान् वर्जयेदित्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब यह बताते हैं कि दोषों का त्याग करना चाहिए—

मू०— एवं दोषा दमस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत् ।
दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात् स चाप्यष्टगुणो मतः ।।२/२९।।

अन्वयः—एवम्, दमस्य, दोषाः, उक्ताः,तान्, दोषान्, परिवर्जयेत्, दोषत्यागः, अप्रमादः, स्यात्, च, सः, अपि, अष्टगुणः, मतः ॥२/२९॥

अन्वयाऽर्थ—एवम्=इस प्रकार, दमस्य=दम के, दोषाः=जो अठारह प्रकार के दोष, उक्ताः=कहे गये हैं, तान् दोषान्=उन दोषों का, परिवर्जयेत्=सब प्रकार से त्याग करना चाहिए। क्योंकि दोषत्यागः=दोषों का त्याग किया जाना ही, अप्रमादः स्यात्=अप्रमाद कहलाता है। च=और, सः अपि=वह दोषत्याग भी, अष्टगुणः=आठ गुणों वाला, मतः=कहा गया है ॥२/२९॥

भावाऽर्थप्रभा—ऊपर में कहे गये के अनुसार, ये आठ प्रकार के गुण, दोष, त्याग और अप्रमाद, इन दोनों के ही हुआ करते हैं। दम के जो अठारह प्रकार के दोष पूर्व में प्रकाशित किये गये हैं, उन दोषों का सर्वथा त्याग किया जाना चाहिए, उन दोषों का त्याग कर दिये जाने पर पुरुष प्रमाद से रहित हो जाता है। वह अप्रमाद भी आठ गुणों वाला होता है ॥२/२९॥

शां० भा०—"दमोऽष्टादशदोषः स्यात्" इति ये दोषा उक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत्। कस्मादित्याह—"दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात्" तेषु दोषेषु त्यक्तेषु प्रमादी न भवेदित्यर्थः। सोऽप्यप्रमादोऽष्टगुणो मतः। "सत्यं ध्यानम्" इत्यादिना पूर्वमेवोपदिष्टत्वादित्यर्थः ॥२/२९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"दमोऽष्टादशदोषः स्यात्" इस श्लोक से जो दम के दोष कहे गये हैं, उनका सब प्रकार त्याग करना चाहिए। किसलिए ऐसा करना चाहिए? इसके उत्तर में कहते हैं—(कारण) वस्तुतः दोषों का त्याग करने पर अप्रमाद होता है, तात्पर्य यह है कि उन दोषों का परित्याग कर देने पर प्रमाद का त्याग करने वाला पुरुष प्रमादी नहीं होता। वह अप्रमाद भी आठ प्रकार के गुणों से युक्त माना गया है; क्योंकि "सत्यं ध्यानम्" इत्यादि वाक्य से इसका पूर्व में ही उल्लेख कर दिया है ॥२/२९॥

(सत्य की स्तुति—)

शां० भा०—इदानीं सत्यस्तुतिः क्रियते—

भाष्याऽर्थप्रभा—अग्रिम ग्रन्थ से सत्य की वन्दना करते हैं—

मू०— सत्यात्मा भव राजेन्द्र! सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।

तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ।।२/३०।।

अन्वयः—राजेन्द्र! सत्याऽऽत्मा, भव, सत्ये, लोकाः, प्रतिष्ठिताः, तु, तान्, सत्यमुखान्, आहुः, सत्ये, अमृतम्, आहितम् ॥२/३०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—राजेन्द्र!=हे राजेन्द्र! सत्याऽऽत्मा भव=आप सत्य स्वभाववाला बनो, क्योंकि—सत्ये=सत्य में ही, लोकाः=समस्त लोक, प्रतिष्ठिताः=आश्रित हुआ करते हैं। तु=एवम्, तान्=दम, त्याग एवम् अप्रमादस्वरूप, सत्यमुखान्=उन सभी को सत्यप्रधानद्वारों के रूप में, आहुः=मणीषिगण कहते हैं, क्योंकि सत्ये=सत्य में ही, अमृतम्=मोक्ष, आहितम्=आश्रित रहता है ॥२/३०॥

भावाऽर्थप्रभा—दम, त्याग, एवम् अप्रमाद के स्वरूपों को कहकर, जो इन दमाऽऽदिकों को पूर्व में सत्यद्वारों वाला कहा गया है, उन्हीं की व्याख्या की जा रही है—हे राजेन्द्र! अब आप (सत्याऽऽत्मा=) सत्य में चित्त वाला हो जाओ, क्योंकि सत्य में ही समस्त लोक आश्रित हैं, वे दम, त्याग, एवम्, अप्रमाद भी सत्याऽधीन होकर ही मोक्ष प्राप्त कराने वाले हुआ करते हैं और सत्य में ही मोक्षस्वरूप अमृत विद्यमान रहा करता है ॥२/३०॥

शां० भा०—सत्येति। सत्यात्मा सत्यस्वरूपो भव हे राजेन्द्र! सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः। तांस्तु सत्यमुखान् सत्यप्रधानान् सत्याधीनात्मलाभान् आहुः। सत्ये हि अमृतम् आहितम्, अमृतं=मोक्षः ॥२/३०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे राजेन्द्र! तुम सत्यात्मा—सत्यस्वरूप होवो। चूँकि एक सत्य में ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं, उन्हें सत्यमुख—सत्यप्रधान, अर्थात् सत्य के अधीन ही अपनी अर्थात् स्वयं की सत्तास्फूर्ति रखने वाला कहा गया है, एवं सत्य में ही अमृत का निवास है। अमृत का अर्थ मोक्ष है।

मू०— निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद् धात्रा कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम्॥२/३१॥

अन्वयः—इह, निवृत्तेन, दोषेण, एव, तपोव्रतम्, आचरेत्, सताम्, व्रतम्, सत्यम्, एव, धात्रा, एतद्, वृत्तम्, कृतम्॥२/३१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—इह=इस संसार में, निवृत्तेन दोषेण एव=समस्त दोषों से रहित हुआ ही, तपोव्रतम्=तपःस्वरूप व्रत का, आचरेत्=आचरण करे। क्योंकि सताम्=सदाचरण करने वालों का, व्रतम्=सम्पादनीय व्रत, सत्यमेव=सत्यभाषण सत्य आचरण ही हुआ करता है। धात्रा=ब्रह्मा जी के द्वारा, एतत्=ऐसा, व्रतम्=नियम ही, कृतम्=बनाया गया है॥२/३१॥

भावाऽर्थप्रभा—इस संसार में काम-क्रोधाऽऽदि दोषों से रहित हुए व्रत एवं तप का सम्पादनाऽऽत्मक आचरण करना चाहिए, क्योंकि सत्य ही सज्जन पुरुषों के लिए आचरण करने योग्य तपस्वरूपव्रत हुआ करता है। ब्रह्मा जी के द्वारा संसार सञ्चालनाऽर्थ इसी प्रकार का नियम प्रवर्तित किया गया है॥२/३१॥

शां०भा०—निवृत्तेनेति। निवृत्तेनैव दोषेण "क्रोधादयः" (अध्याय-२, श्लोक १५) इत्यादिना पूर्वोक्तदोषरहितः सन् तपोव्रतमिहाचरेत्। एतद्धात्रा परमेश्वरेण कृतं वृत्तं सत्यसमेव सतां परं व्रतम्॥२/३१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"क्रोधादयः" इत्यादि श्लोक से पूर्ववर्णित किये गये अर्थात् पूर्व में कहे गये दोषों से रहित होकर ही इस लोक में तपरूप व्रत का आचरण करे। विधाता—परमेश्वर ने ऐसा ही सदाचार बनाया है; सत्य ही सत्पुरुषों का उत्कृष्ट व्रत है, सत्य से श्रेष्ठ अन्य कोई व्रत नहीं, यह तात्पर्य समझना चाहिए॥२/३१॥

शां०भा०—इदानीम् 'कथं समृद्धमत्यर्थम्' इत्यनेनोपक्रान्तमर्थमुपसंहरति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब, जिस विषय का "कथं समृद्धमत्यर्थम्" इत्यादि श्लोक से आरम्भ हुआ है, उसका उपसंहार करते हैं—

मू०— दोषैरेतैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः समन्वितम्।
एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम्॥२/३२॥

अन्वयः—एतैः, दोषैः, विमुक्तम्, तु, एतैः, गुणैः, समन्वितम्, एतत्, अत्यर्थम्, समृद्धम्, तपः, अपि, केवलम् ॥२/३२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—एतैः=पूर्व में कहे गये, दोषैः=काम-क्रोधाऽऽदि दोषों से, विमुक्तम्=रहित हुआ, तु=एवम्, एतैः गुणैः=पूर्व में प्रदर्शित इन ज्ञानाऽऽदि गुणों से, समन्वित=संयुक्त हुआ, एतत्=यह, अत्यर्थम्=अत्यधिकरूप से, समृद्धम्=विकास को प्राप्त हुआ, या विकसित, तपः=तप, अपि=ही, केवलम्=शुद्धस्वरूप हुआ करता है ॥२/३२॥

भावाऽर्थप्रभा—काम-क्रोधाऽऽदि दोषों से रहित एवं ज्ञानाऽऽदि गुणों से युक्त अत्यधिकता या अतिशयता से सम्बलित अत उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ इस प्रकार का तप ही विशुद्ध माना जाता है ॥२/३२॥

शां० भा०—दोषैरिति । दोषैरेतैः "क्रोधादयः" इत्यादिना पूर्वोक्तैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः ज्ञानादिभिश्च समन्वितं यद् एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥२/३२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"क्रोधादयः" इत्यादि श्लोकों से पहले कहे गये इन दोषों से रहित एवं इन ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न यह जो अत्यन्त ही समृद्ध तप है, केवल वही शुद्ध होता है ॥२/३२॥

शां० भा०—किं बहुना—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस विषय में इससे अधिक क्या कहा जाय—

मू०— यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् तद् ब्रवीमि ते ।
एतत् पापहरं शुद्धं जन्ममृत्युजरापहम् ।।२/३३।।

अन्वयः—राजेन्द्र! यत्, माम्, पृच्छसि, तत्, संक्षेपात्, ब्रवीमि, एतत्, पापहरम्, शुद्धम्, जन्म-मृत्युजराऽपहम् ॥२/३३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—राजेन्द्र!=हे राजाओं में सर्वश्रेष्ठ भूपाल! यत्=जिस वस्तु को, माम्=मुझसे, आप, पृच्छसि=पूछ रहे हो, तत्=उस वस्तु को, (मैं) संक्षेपात्=संक्षिप्त रूप से, ब्रवीमि=कहने जा रहा हूँ, आप ध्यान देकर सुनो, एतत्=यह तत्त्व, पापहरम्=संसार के उत्पादक अर्थात् संसार प्रवर्त्तकीभूत पुण्य-पापाऽऽदिकों का विनाशक, शुद्धम्=समस्त दोषों से रहित, जन्ममृत्युजराऽपहम्=जन्म, मृत्यु, एवं वृद्धाऽवस्था का नाश करने वाला है ॥२/३३॥

भावाऽर्थप्रभा—हे भूपालों के मुकुटमणे! आप, जिस वस्तु के विषय में पूछ रहें हैं, उसको मैं संक्षेप से बताने जा रहा हूँ, आप ध्यानपूर्वक सुनें—यह निष्काम तप पाप

को हरने वाला, सर्वदोषों से विनिर्मुक्त होने के कारण विशुद्ध, एवम् जन्म-मृत्यु और वृद्धाऽवस्था के दुःखों का निवारक है ।।२/३३।।

शां० भा०—यन्मामिति । हे राजेन्द्र! यन्मां पृच्छसि तत् संक्षेपात् समासतो ब्रवीमि ते । एतद् वक्ष्यमाणं पापहरं शुद्धं=फलाभिकाङ्क्षारहितं तपोव्रतं जन्ममृत्युजरापहम् ।।२/३३।।

भाष्याऽर्थप्रभा—हे राजेन्द्र! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह मैं संक्षेप में—साररूप से तुम्हें बतलाता हूँ । यह आगे बताया जाने वाला फलाकाङ्क्षा से रहित पापापहारी शुद्ध तपरूप व्रत जन्म, जरा और मृत्यु की निवृत्ति करने में पूर्णतया सक्षम है ।।२/३३।।

(सुखी पुरुष के स्वरूप का प्रदर्शन—)

शां० भा०—किं तदिति चेत्? तत्राह—

भाष्यार्थप्रभा—यदि कहें कि जिस वस्तु के विषय में आप इतनी महिमा का वर्णन कर रहे हैं, वह वस्तु क्या है? तो उस विषय में कहते हैं—

मू०— इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत ।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत् ।।१/३४।।

अन्वयः—भारत! (यः) पञ्चभ्यः, इन्द्रियेभ्यः,च, मनसः, च, अतीताऽनागतेभ्यः (नष्टपुत्राऽऽदिविषयकेभ्यः अतीतेभ्यः संस्कारेभ्यः, तथा पुत्राऽऽदिकामनाविषयकेभ्यः अनागतेभ्यः (=भविष्यत्कालिकेभ्यः) अपि संस्कारेभ्यः) चेत् । विमुक्तः सः, सुखी, भवेत् ।।२/३४।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—भारत!=हे भरतवंशीय भूपाल!, (यः=जो पुरुष) पञ्चभ्यः इन्द्रियेभ्यः=चक्षुः-घ्राण-जिह्वा-श्रोत्र, त्वक्स्वरूप इन पाँचों प्रकार के विषयसंयुक्त बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से, एवं छठा विषय संयुक्त मनरूपी आन्तरिन्द्रियों से, (तथा विनष्ट हुए, एवं उत्पन्न होने वाले पुत्राऽऽदिविषयक वासना प्रयुक्त चिन्तनों से) चेत्=यदि, मुक्तः=असङ्ग हुआ पुरुष होता है, सः=तो वैसा पुरुष, सुखी भवेत्=सुखी हो जाता है, अर्थात् मोक्षभागी होता है ।।२/३४।।

भावाऽर्थप्रभा—हे भरतवंशीय राजन्! यदि कोई पुरुष शब्दाऽऽदिविषयों से युक्त श्रोत्राऽऽदि पञ्चविधज्ञानेन्द्रियों से विषयसम्पृक्त मन से एवं भूतभविष्यत्कालिक पुत्राऽऽदि विषयकवासनाप्रयुक्त चिन्तन से सर्वथा विनिर्मुक्त हो जाय, तो वैसी स्थिति वाला पुरुष सुखी (मुक्त) होने लायक होता है ।।२/३४।।

शां० भा०—इन्द्रियेभ्य इति । हे भारत! यः सविषयेभ्यः पञ्चभ्य इन्द्रियेभ्यो वर्तमानेभ्यो मनसश्चैव तथातीतेभ्योऽनागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत्?, स सुखी भवेत्,=मुक्त एव भवेदित्यर्थः ।।२/३४।।

भाष्याऽर्थप्रभा—हे भारत! यदि कोई पुरुष पाँच वर्तमान विषयों के सहित इन्द्रियों से, मन से एवं भूत और भविष्यत् के चिन्तन से मुक्त हो जाय तो वह सुखी अर्थात् मुक्त ही हो जायेगा ॥२/३४॥

(धृतराष्ट्र का ब्राह्मणविषयक प्रश्न किया जाना)

शां० भा०—एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—भगवान् सनत्सुजात के द्वारा उपरितन विचार प्रकट किये जाने पर, उस ब्रह्मेच्छु ब्राह्मण के विषय में धृतराष्ट्र कहने लगे—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कत्थ्यते जनः ।

तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे ।।२/३५।।

अन्वयः—आख्यानपञ्चमैः, वेदैः, भूयिष्ठम्, जनः (कत्थ्यते), अन्ये, च, तथा, चतुर्वेदाः, तथा, अपरे, त्रिवेदाः कत्थ्यते ॥२/३५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—आख्यानपञ्चमैः=कथा के माध्यम से तत्त्व के आवेदक इतिहास-पुराणाऽऽदिस्वरूप पाँचवां वेद है जिनमें इस प्रकार के वेदों से, भूयिष्ठम्=नामाऽऽदि-प्रपञ्चों से सर्वथा अधिक जो भूमाऽऽख्यब्रह्म है, वही ब्रह्म, जनः=स्थावर-जङ्गमाऽऽत्मक चराऽचर जगत्, कत्थ्यते=कहा जाता है। अन्ये च चतुर्वेदाः=अन्य शाखा वाले चतुर्वेदी होते हैं=अर्थात् (१) बाह्यशरीरयुक्त पुरुष (२) छन्दःपुरुष (३) वेदपुरुष (४) एवं महापुरुष के भेदों से भिन्न चार प्रकार के वेदप्रतिपाद्यब्रह्म को जानने वाले होते हैं। तथा=उसी प्रकार, अपरे त्रिवेदाः=अन्य लोग क्षर-अक्षर एवम् उत्तम नाम से प्रसिद्ध तीन पुरुषतत्त्व को जानने वाले होते हैं ॥२/३५॥

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र ने कहा—हे सनत्सुजात ! इतिहास और पुराण जिसमें पाँचवें वेद माने गये हैं उन समस्त वेदों के अध्ययनाऽऽदि द्वारा कोई मनुष्य अपने को श्रेष्ठ ब्राह्मण समझता, या लोक में कहा जाता है। उसी प्रकार कुछ लोग चार वेदों के जानने वाले होते हैं एवं कुछ दूसरे लोग तीन वेदों के जानकार ब्राह्मण होते हैं ॥२/३५॥

शां० भा०—आख्यानेति। आख्यानं पुराणं पञ्चमं येषां वेदानां ते आख्यानपञ्चमाः। श्रूयते च छान्दोग्ये—"इतिहासपुराणं पञ्चमम्' इति। तैराख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठम्=अत्यर्थं कत्थ्यते श्लाघ्यते बहु मन्यते सर्वस्मादधिकोऽहमिति। कथ्यते इति केचित्पठन्ति। आख्यान-पञ्चमैर्वेदैः कश्चिज्जनः पञ्चमवेदीति कथ्यते इत्यर्थः। तथा चाऽन्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाः ॥२/३५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जिन वेदों में आख्यान अर्थात् पुराण पाँचवां वेद कहा गया है,

वे वेद "आख्यानपञ्चम" कहलाते हैं। इस विषय में इतिहास-पुराण पाँचवां वेद है" ऐसी छान्दोग्य श्रुति भी है। उन आख्यानपञ्चम वेदों के कारण कोई स्वयं को "मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ" ("मैं सबसे बढ़कर हूँ") ऐसा बढ़ाकर बोलते हैं, अर्थात् स्वयं की अधिक प्रशंसा यानी अधिक मान दर्शाते हैं। यहाँ कोई-कोई 'कत्थ्यते' के स्थान पर 'कथ्यते' भी पढ़ते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई लोग जिनमें आख्यान पाँचवें स्थान पर है, उसे वेदों के कारण 'पञ्चवेदी' कहे जाते हैं। तथा कुछ लोग चतुर्वेदी, कोई त्रिवेदी होते हैं ॥२/३५॥

मू०— द्विवेदाश्चैक वेदाश्च अनृचश्च तथाऽपरे ।

एतेषु मेऽधिकं ब्रूहि यमहं वेद ब्राह्मणम् ।।२/३६।।

अन्वयः—द्विवेदाः, च, एकवेदाः, तथा च अपरे, अनृचः, एतेषु, अधिकम्, मे, ब्रूहि, अहम्, यम्, ब्राह्मणम्, वेद ॥२/३६॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—द्विवेदाः=कुछ ब्राह्मणगण दो वेदों के अध्ययन करने वाले होते हैं, च=और कुछ ब्राह्मणगण, एकवेदाः=एक ही वेद के जानकार होते हैं। तथा च अपरे=इसी प्रकार से अन्य कुछ लोग, अनृचः=ऋग् आदि वेदों से बाह्य कहे जाते हैं। एतेषु=इन मनुष्यों में, अधिकम्=श्रेष्ठ कहलाने के योग्य जो ब्राह्मण हो उसे, मे=मुझको, या मेरे लिए, ब्रूहि=उपदेश करें, कि जिससे, अहम्=मैं धृतराष्ट्र, तम्=उसको, ब्राह्मणम्=ब्राह्मण के रूप में वेद=जान सकूँ ॥२/३६॥

भावाऽर्थप्रभा—कुछ अन्य दो वेदों के जानकार ब्राह्मण होते हें तो कुछ एक वेद के ही अध्ययन करने वाले होते हैं। इनसे भिन्न कुछ लोग ऋग्वेदाऽऽदिकों के अध्ययन नहीं करने वाले भी ब्राह्मण होते हैं जो "अनृक्" नाम से कहे जाते हैं। इन ब्राह्मणों में से कौन अधिक श्रेष्ठ है? अथवा किनका कर्तव्यमार्ग अतिश्रेष्ठ है? इस बात को मेरे लिए स्पष्ट करने का कष्ट करें जिससे मैं उस श्रेष्ठ ब्राह्मण के स्वरूप को जान सकूँ ॥२/३६॥

शां० भा०—अपरे द्विवेदाः, एकवेदाश्च अनृचश्च तथापरे परित्यक्तऋगादिवेदा अपरे। एतेषु मनुष्येष्वधिकं श्रेष्ठं ब्रूहि यमहं ब्राह्मणं वेदविद्याम् ॥२/३६॥

भाष्याऽर्थप्रभा—तथा कोई लोग चतुर्वेदी, कोई त्रिवेदी, कोई द्विवेदी, कोई एकवेदी और कोई-कोई अनृच अर्थात् ऋगादि वेदों से बाह्य कहे जाते हैं। इन मनुष्यों में जो बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ है, उसे मुझे बतलाइए, जिसे मैं उत्कृष्ट ब्राह्मण जानूँ ॥२/३६॥

(उत्तर—सत्यस्वरूप वेद और वेदज्ञ का निर्देश—)

शां० भा०—य एव स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थितः स एव ब्राह्मण इति दर्शयिष्यन् तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तदज्ञानमूलत्वं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—जो भी अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूप से

स्थित है, वही ब्राह्मण है—इस बात को दर्शाते हुए, अब उससे भिन्न और सबका अज्ञानमूलत्व प्रदर्शित करते हैं—

मू० —सनत्सुजात उवाच—

एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवोऽभवनम् ।

सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थित: ।।२/३७।।

अन्वय:—राजेन्द्र!, एकवेदस्य, च अज्ञानात् बहव:, ते, वेदा:, अभवन्, एकस्य सत्यस्य, सत्ये, कश्चित्, अवस्थित: ।।२/३७।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच=भगवान् सनत्सुजात जी धृतराष्ट्र से श्रेष्ठ ब्राह्मणविषयकप्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि—राजेन्द्र!=हे राजश्रेष्ठ!, एकवेदस्य=उस एक संवित्स्वरूप ब्रह्म को, अज्ञानात्=न जान पाने के कारण, बहव:=बहुत से, ते वेदा:=वे वेद, अभवन्=हो गये, किन्तु उस, एकस्य सत्यस्य=एक सत्यस्वरूप ब्रह्माऽऽत्मक वेद के, सत्ये=स्वरूपसत्ता में, कश्चित्=कोई परमाऽऽत्माऽनुगृहीत व्यक्ति ही, अवस्थित:=वर्त्तमान हुआ करता है ।।२/३७।।

भावाऽर्थप्रभा—भगवान् सनत्सुजात जी बोले—हे राजश्रेष्ठ! एक वेद (संवित्) स्वरूप ब्रह्म के होने पर भी उसको उस रूप में न जानने के कारण ही भ्रम से वे अनेक रूप में अनुभव के विषय बन गये, ऋगादि वेद उसी ब्रह्मतत्त्व के प्रमाज्ञान को कराते हैं, किन्तु अज्ञान व्यामोहित चित्त उसके पारमार्थिक अद्वैत स्वरूपता का निर्धारण नहीं कर पाते हैं। वेदविद्या के सारभूत इस अद्वैताऽऽत्मा को कोई विलक्षणपुरुष ही धारण कर पाने में सफल होता है ।।२/३७।।

शां० भा०—एकवेदस्येति । एकस्य वेदस्य—वेद्यमिदंरूपम् अनिदंरूपम्, वेदनं वेद:—एकस्याद्वितीयस्य संविद्रूपस्येत्यर्थ: । तस्यैकवेदस्य ब्रह्मणोऽनवगमादृगादयो वेदा बहवोऽभवन् । अत्र ऋगादिवेदास्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारं कुर्वन्तीति वेदाख्यामवापु: ।

अथवा, सद्भावं साधयन्तीति वेदा:,विदन्ति वेदनसाधनभूता इति वा वेदा: । अथवा, ब्रह्माधीनमात्मानं लभन्त इति वा वेदा: । ब्रह्मण आत्मतया लाभहेतव इति वा वेदा: । विद् विचारणे । विद् सत्तायाम् । विद् ज्ञाने । विद्ऌ लाभे । एतेषां धातूनां विषये वर्तन्ते यस्मात् ततो वेदा इत्युक्ता: ।

तदेकवेदस्वरूपं किमिति चेत्, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "एकमेवाऽद्वितीयम्" इति श्रुते: । तस्मात् सत्यस्यैकवेदस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनवगमाद्वेदा बहवो व्याख्याता: । सर्वे वेदास्तदर्थदर्शनहेतव:, हे राजेन्द्र! त्वमपि किमेवं ज्ञात्वा सत्ये ब्रह्मणि स्थितोऽसि? कश्चित् पुन:सत्येऽवस्थित:=प्रतिष्ठित इति ।।२/३७।।

भाष्याऽर्थप्रभा—एक वेद के—इदंरूप और अनिदंरूप (प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप वस्तु) ही वेद्य है और वेदनात्मकज्ञान ही वेद है, उस एक अद्वितीय संविद्रूप के ज्ञान से विमुख होने के कारण, अर्थात् वेदस्वरूप उस एक परब्रह्म से अनभिज्ञ होने के कारण ही ऋगादि बहुत-से वेद हो गए हैं। यहाँ ऋगादि वेद उसी की प्राप्ति के हेतु से सम्बन्धित विचार करते हैं, इसलिए उन्हें 'वेद'—संज्ञा प्राप्त हुई है।

अथवा, सद्वस्तु की सिद्धि करते हैं, इस कारण वे ऋग्यजु: साम और अथर्व नाम वाले वेद हैं। अथवा इष्टसाधन के प्रकाशकरूप से ज्ञात होते हैं, इस लिए वे वेद हैं, अर्थात् ज्ञान के साधनभूत हैं, इसलिए वेद हैं, अथवा अन्य प्रकार से कहें तो, (वे) ब्रह्म के आश्रितस्वरूप लाभ करते हैं, इसलिए वेद हैं। अथवा ब्रह्म को आत्मस्वरूप के रूप में प्राप्त करने के हेतु हैं, इसलिए वे ऋगादि वेद हैं। इस प्रकार क्योंकि ये विचारार्थक विद्, सत्तार्थक विद्, ज्ञानार्थक विद् और लाभार्थक विद्—इन धातुओं के विषय होकर स्थित हैं, इसलिए ये 'वेद' कहे जाते हैं। उस एक वेद का स्वरूप क्या है? ऐसा प्रश्न पूछने पर कहते हैं—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है", "ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय है" इन श्रुतियों से उसका निश्चय होता है, अथवा संकल्प होता है। उस सत्य, अर्थात् एकवेदस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान न होने से ही बहुत से वेद बताये गये हैं। सभी वेद उसी के दर्शन के कारण हैं। हे राजेन्द्र! ऐसा जानकर क्या तुम भी सत्यस्वरूप ब्रह्म में स्थित हो? क्योंकि उस सत्य में तो कोई-कोई ही स्थित होता है ॥२/३७॥

शां० भा०—भूयो मे श‍ृणु—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस आत्मस्वरूप ज्ञान के विषय में विस्तारपूर्वक और भी मुझसे सुनो—

मू०— य एनं वेद तत् सत्यं प्राज्ञो भवति नित्यता।

दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेव प्रवर्तते ।।२/३८।।

अन्वयः—यः, एनम्, तत्सत्यम्, वेद, (सः), नित्यदा, (सः), प्राज्ञः, भवति, दानम्, अध्ययनम्, यज्ञः, लोभात्, एव, प्रवर्त्तते ॥२/३८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो मनुष्य, एनम्=इस, तत्सत्यम्=इस सत्यस्वरूप आत्मा को, वेद=जान लेता है, (सः=वह)=नित्यदा=सदा के लिए, प्राज्ञः=अद्वैताऽऽत्म-तत्त्व को जानने वाला बहुत बड़ा आत्मवेत्ता, भवति=हो जाता है। दानम्, अध्ययनम्, यज्ञः= दान, अध्ययन, एवं यज्ञाऽऽदिक्रिया तो, लोभाद् एव प्रवर्त्तते=किसी न किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से ही सम्पन्न किये जाते हैं ॥२/३८॥

भावाऽर्थप्रभा—जो ब्रह्म को ज़ानने के इच्छुक उस सत्यस्वरूप वेदात्मा=ज्ञानस्वभाव परब्रह्म का अनुभव कर लेता है। वह पुरुष सर्वदा के लिए आत्मवेत्ता बन जाता है।

इसके अतिरिक्त इस व्यावहारिक जगत् में किया जाने वाला दान, अध्ययन, एवं यज्ञाऽऽदिक्रियाएँ, केवल लोभ से ही प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि—यश को उद्देश्य बनाकर दान किए जाते हैं, सम्मान की प्राप्ति के लिए अध्ययन किये जाते हैं, तथा स्वर्गाऽऽदि प्राप्तीच्छा से यज्ञादि किये जाते हैं ।।२/३८।।

शां० भा०—किमर्थम्? नो चेत्, तत्र यद्भवति तच्छृणु—

भाष्याऽर्थप्रभा—ऐसा किस कारण से है? यदि ऐसा न हो तो उस अवस्था में जो घटित होता है, वह सुनो—

मू०— सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पा वितथाभवन्।

ततः कर्म प्रतायेत सत्यस्यानवधारणात् ।।२/३९।।

अन्वयः—सत्यात्, प्रच्यवमानानाम्, संकल्पाः, वितथाः, अभवन्, ततः, सत्यस्य, अनवधारणात्, कर्म, प्रतायेत ।।२/३९।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—सत्यात्=सत्याऽऽदिस्वरूप ब्रह्म से, प्रच्यवमानानाम्=स्वाभाविक ब्रह्मस्वरूपता का त्याग कर दिये जाने के कारण शरीरेन्द्रियाऽऽदि अनात्मपदार्थों में आत्मभाव को प्राप्त करने वालों के, संकल्पाः=निश्चय, वितथाः=विनष्ट, अभवन्=हो जाते हैं। ततः=इसीलिए, सत्यस्य=सत्याऽऽदिस्वरूप आत्मा का, अनवधारणात्=निर्धारण न कर पाने के कारण, कर्म=संसारजनक पुण्य-पापाऽऽदिस्वरूप कर्म, प्रतायेत=रक्तबीज के समान समृद्ध होता चला जाता है ।।२/३९।।

शां० भा०—सत्यात्=सत्यादिलक्षणाद् ब्रह्मणः प्रच्यवमानानां=स्वाभाविकब्रह्मभाव-परित्यागेन अनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नानां संकल्पा वितथा अभवन्=व्यर्था भवन्ति। स्वाभाविकसत्यसंकल्पादयो न सिध्यन्तीत्यर्थः। ततः कर्म यज्ञादिकं प्रतायेत=विस्तृतं भवेत्।

तदेतत्सर्वं सत्यस्य सत्यादिलक्षणस्य ब्रह्मणोऽनवधारणाद्=अनवगमात्। आत्माज्ञान-निमित्तत्वात् संसारस्य यावत्परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न विजानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणो मोमुह्यमानोऽसत्यसंकल्पः स्वर्गपश्वन्नादि-हेयसाधनेषु वर्त्तत इत्यर्थः ।।२/३९।।

भाष्याऽर्थप्रभा—सत्य अर्थात् सत्यादिरूप ब्रह्म से च्युत (अलग अथवा पृथक्) हो जाने से, अपने स्वाभाविक ब्रह्मभाव का त्याग कर देने के कारण देहादि अनात्मपदार्थों में आत्मभाव हो गया है, इस प्रकार के लोगों के संकल्पाऽऽत्मक निश्चय, वितथ—व्यर्थ हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके स्वाभाविक सत्य-संकल्पादि सिद्ध नहीं होते हैं। तभी यज्ञादि कर्म का वितान=विस्तार होता है।

यह सभी सत्य अर्थात् सत्यादिरूप ब्रह्म के अज्ञान से=न ज्ञात होने के कारण, अर्थात् स्वस्वरूपभूतब्रह्म से अनभिज्ञ होने के कारण होता है; क्योंकि संसार आत्मा के अज्ञान के कारण ही है, इसलिए जब तक यह जीव परमात्मा को साक्षात् आत्मस्वरूप से नहीं जान लेता है, तब तक यह त्रिविध ताप से संतप्त हो मकरादि के समान रागादि दोषों से इधर-उधर खींचा जाता हुआ माया-मोहवश असत्य संकल्प हो, स्वर्ग, पशु और अन्न इत्यादि हेय वस्तुओं के साधनों में लगा रहता है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥२/३९॥

(ब्राह्मण का लक्षण)

शां० भा०—इदानीं ब्राह्मणलक्षणमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—आगे के श्लोक से ब्राह्मण का लक्षण कहते हैं—

मू०— विद्याद् बहुपठन्तं तु बहुवागिति ब्राह्मणम् ।

य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ।।२/४०।।

अन्वयः—बहुपठन्तम्, तु, बहुवाग्, इति, विद्यात्, (न साक्षात्) ब्राह्मणम्, (विद्यात् ।) यः, सत्यात्, एव, न, अपैति, त्वया, सः, ब्राह्मणः, ज्ञेयः ॥२/४०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—बहुपठन्तम्=महाभारतपुराणाऽऽदिकों के सहित ऋग्गादि चारों वेदों के अध्येता ब्राह्मण को, तु=तो, बहुवाग्=बहुत बोलने वाला वाग्मी, इति=ऐसा ही, विद्यात्=जानना चाहिए, ब्राह्मणम्=साक्षात्ब्रह्म का अनुभव करने वाला (नहीं जानना चाहिए ।) किन्तु, यः=जो मनुष्य, सत्यात्=सत्यादिस्वरूप ब्रह्म से, एव=किसी भी अवस्था में, न अपैति=अलग नहीं हुआ करता है, त्वया=आपके द्वारा, सः ब्राह्मणः ज्ञेयः=वही सत्यादिस्वरूप ब्रह्मनिष्ठ पुरुषविशेष वास्तविकरूप से ब्राह्मण समझने योग्य है ॥२/४०॥

भावाऽर्थप्रभा—जो इतिहासपुराणाऽऽदिकों के साथ-ही-साथ चारों वेदों को पढने वाला होता है, अर्थात् उनके अर्थमात्र का ज्ञाता होते हुए भी, उनके तात्पर्याऽर्थ के गूढ़ रहस्य को जानने वाला न होने के कारण, आप उसको बहुभाषी ही जानो, ब्रह्मतत्त्व में लीन रहने वाला ब्रह्मपरायण ब्राह्मण न समझो । किन्तु ब्राह्मण वही होता है जो सत्यस्वरूप ब्रह्म का संसार के प्रत्येक वस्तुओं में प्रत्यक्षरूप से अनुभव करने वाला, अपनी उस ब्राह्मी स्थिति से कदापि पृथग् नहीं हुआ करता है । इस प्रकार के लक्षणों से युक्त पुरुषविशेष को ही वास्तविकरूप से ब्राह्मण जानो ॥२/४०॥

शां० भा०—विद्यादिति । बहुपठन्तम् आख्यानपञ्चमवेदाध्यायिनं बहुवागिति विद्यात्, न साक्षाद् ब्राह्मणमिति । कस्तर्हि मुख्यो ब्राह्मणः ? इति चेत्—य एव सत्यात्=सत्यादि-

लक्षणान्नापैति=न क्षरति स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवावतिष्ठते इत्यर्थः, स एव ब्राह्मणस्त्वया ज्ञेयः, नेतरो यः सत्यात् प्रच्युतोऽकृतार्थः सन् कर्मणि प्रवर्तते। तथा च ब्रह्मविदमेव ब्राह्मणं दर्शयति श्रुतिः—"मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः" इति "विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति" इति च ॥२/४०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—महाभारताऽऽदि इतिहास एवं पुराण जिसमें पाँचवां वेद है, इस प्रकार के ऋगादि समस्त वेदों के अध्येता और तदनुरूप वक्ता को तो तुम बहुत बोलने वाला वाग्मी ही जानो, ब्रह्म का प्रत्यक्षाऽनुभवी वास्तविक ब्राह्मण न जानो। **प्रश्न**—यदि आप इस विषय में कहो कि तब वास्तविक ब्राह्मण कौन है? **समाधान**—आपको मुख्य या वास्तविक ब्राह्मण तो उसे जानना चाहिए, जो सत्य से=सत्यादिस्वरूपब्रह्म से कदाऽपि अलग नहीं हुआ करता है। अर्थात् हमेशा स्वाभाविक सच्चिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्मस्वरूप में ही स्थित रहा करता है, वही आपके द्वारा वास्तविक ब्राह्मण के रूप में समझने योग्य है। उससे भिन्न पुरुष नहीं, जो कि सत्य से च्युत और अकृताऽर्थ होता हुआ संसारोत्पादक कर्म में ही प्रवृत्त होता रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म को अपने आत्मा के रूप में सतत अनुभव करने वाले ब्राह्मण को ही श्रुति ब्राह्मण के रूप में प्रकाशित करती है—"जो मौन और अमौन की अवस्था का त्याग करके केवल ब्रह्मपरायण हो, वही ब्राह्मण है।" एवम् "जो पापशून्य, राग-रहित तथा घृणा से रहित है, वह ब्राह्मण है।" ये श्रुतियाँ भी निष्कम्पभाव से ब्रह्मवेत्ता को ही ब्राह्मण कहती हैं केवल वेदाऽऽदिशास्त्रों के जानकार को नहीं ॥२/४०॥

(वेदवेद्य परमात्मा को जानने वाले की गति)

शां० भा०—विद्यादिति। भवेदेतदेवं यदि तदेव ब्रह्म सिद्ध्येत, न च सिद्ध्यति, अन्यपरत्वाद् वेदस्येति; तत्राह—

भाष्याऽर्थप्रभा—(ठीक है,) यदि वह ब्रह्म सिद्ध हो जाय तो ऐसी ही बात हो सकती है, लेकिन वह तो सिद्ध ही नहीं होता; क्योंकि वेद का तात्पर्य तो अन्य (कर्मादि) में ही है; इस पर कहते हैं—

मू०— छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य गता हि वेदस्य न वेद्यमार्याः ॥२/४१॥

अन्वयः—द्विपदां वरिष्ठ!, छन्दांसि नाम, स्वच्छन्दयोगेन, तत्र, भवन्ति, तेन, छन्दोविदः, आर्याः, तान्, अधीत्य, हि, वेदस्य गताः, वेद्यम्, न ॥२/४१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—द्विपदां वरिष्ठ!=हे मनुष्यों में श्रेष्ठ=छन्दांसि नाम=लोकशास्त्र में प्रसिद्ध ऋगादिवेद, स्वच्छन्दयोगेन=स्वतन्त्ररूप से, तत्र=परमाऽऽत्मस्वरूप में,

भवन्ति=प्रमाण हुआ करते हैं। तेन=इस कारण से, छन्दोविद:=वेदतत्त्व को जानने वाले, आर्या:=ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण लोग, तान् अधीत्य=उन ब्रह्मस्वरूपप्रकाशक वेदों का अध्ययन करके, अर्थात् वेदान्तविषयक श्रवणमनननिदिध्यासन करके, हि=वास्तविकरूप से, वेदस्य=ज्ञानाऽऽत्मक ब्रह्म के स्वरूप को, गता:=प्राप्त हो गये। ज्ञानाऽऽत्मकपरमाऽऽत्मा का स्वरूप, वेद्यम्= प्रपञ्चाऽऽत्मकजगत्स्वरूप, न=नहीं है ॥२/४१॥

भावाऽर्थप्रभा—हे भूपाल! वेद उस परब्रह्म में स्वतन्त्ररूप से प्रमाण हैं, अर्थात् वेद परब्रह्माऽऽत्मबोध की उत्पत्ति में किसी अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं करते हैं। अत: वेदज्ञ पण्डितजन उसका अध्ययन करके, अर्थात् वेदान्त विषयक श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके उनके द्वारा पुन: उस ज्ञानस्वरूप परमाऽऽत्मा को प्राप्त होकर, जगत् प्रपञ्चाऽऽत्मक वेद्यस्वरूपता को प्राप्त नहीं हुआ करते हैं ॥२/४१॥

शां० भा०—छन्दांसीति। हे द्विपदां वरिष्ठ! छन्दांसि=वेदा: स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दता स्वाधीनता यथाकाममित्यर्थ:। तत्र परमात्मनि भवन्ति तत्रैव प्रमाणं भवन्ति। श्रूयते च—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति। च।

पुरुषार्थपर्यवसायित्वाद् वेदस्य तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानित्याशुचिदु:खानुविद्धत्वेन पुरुषार्थत्वाभावात् तत्स्वरूपतज्ज्ञानतत्साधनप्रतिपादकत्वेन वेदानां प्रामाण्यमित्यर्थ:।

यस्माद्वेदा: स्वच्छन्दयोगेन तत्रैव परमात्मनि प्रमाणं भवन्ति, तेन च हेतुना तान् वेदानधीत्य अधिगम्य वेदान्तश्रवणादिकं कृत्वा गता: प्राप्ता वेदस्य संविद्रूपस्य परमात्मन: स्वरूपं न वेद्यं प्रपञ्चम् आर्या: पण्डिता ब्रह्मविद: ॥२/४१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे नरश्रेष्ठ! छन्द अर्थात् वेद स्वच्छन्दता से, स्वतन्त्रता (स्वच्छन्दता) स्वाधीनता को कहते हैं, अर्थात् यथेष्टरूप से उस परमात्मा में ही हैं, अर्थात् उसी में प्रमाण हैं। इस प्रकार से ही "समस्त वेद जिस पद का निरूपण करते हैं" यह श्रुति भी कहती है। वेद का तात्पर्य पुरुषार्थ में है, तथा उस (ब्रह्म) से भिन्न और सभी अन्य पदार्थ अनित्य, अपवित्र और दु:खमिश्रित होने के कारण पुरुषार्थस्वरूप नहीं हैं। अत: तात्पर्य यह समझना चाहिए कि वेदों का प्रामाण्य, उसके स्वरूप, उसके ज्ञान एवं उसी की प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन (निष्पादन) करने के कारण ही है।

कारण यह है कि वेद स्वच्छन्दरूप से उस परमात्मा में ही प्रमाण हैं, इस कारण से आर्य—पण्डितजन अर्थात् ब्रह्मवेत्तालोग उन वेदों का अध्ययन कर—उनका ज्ञान प्राप्त करके, यानी वेदान्तश्रवणादि करके, वेद के स्वरूप को, अर्थात् ज्ञानस्वरूप परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हो गये हैं, वे विद्वज्जन वेद्य=प्रपञ्च को प्राप्त नहीं होते ॥२/४१॥

(अब आगे में ब्रह्म ही वेद है इसको प्रकाशित करते हैं—)

शां० भा०—एवं तर्हि वेदवेद्यत्वे 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि'', ''यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह'' इत्यादिश्रुतिविरोध: प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—ऐसा होने पर तो ''वह विदित से भिन्न (अलग) और अविदित से भी परे (सर्वथा भिन्न) है, ''जहाँ मन के सहित वाणी (वचनादि), अर्थात् समस्तज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ उस सर्वप्रकाशक परमाऽऽत्मतत्त्व को प्राप्त न होकर लौट आती है'' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने का प्रसङ्ग आ जायेगा—ऐसी आशङ्का उत्पन्न होने पर कहते हैं—

मू०— न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम् ।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ।। २/४२।।

अन्वयः—वेदानाम्, कश्चित्, वेदिता, न, अस्ति, वेदेन, न, वेदम्, न, वेद्यम्, विदु:, च, य:, वेदम्, वेद, स:, वेद्यम्, वेद, य:, वेद्यम्, वेद, स:, सत्यम्, न, वेद ॥२/४२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—वेदानाम्=ऋग्वेदाऽऽदिकों के समुदाय में से , कश्चित्=कोई भी वेद, (ज्ञानस्वरूप परमाऽऽत्मा का) वेदिता न अस्ति=जानने वाला नहीं है, क्योंकि वेदों का जडाऽऽत्मकस्वरूप है, प्रकाशाऽऽत्मक नहीं। अत एव, वेदेन=जडस्वरूप वेद के द्वारा, वेदम्=ज्ञानस्वरूप परमाऽऽत्मा को, न विदु:=ब्रह्मजिज्ञासु जन नहीं जान सकते हैं, तथा, न वेद्यम् (विदु:)=(जड होने के कारण ही वेद से) वेद्यभूत जागतिक प्रपञ्च को ही लोग जान सकते हैं। च=परन्तु, य:=जो विवेकशीलव्यक्ति, वेदम्=जो ज्ञानस्वरूप परमाऽऽत्मतत्त्व को, वेद=जानता है, स:=वह पुरुष, वेद्यम्=जडस्वरूप जगत्प्रपञ्च को, वेद=जानता है, (''तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'' उस ज्ञानाऽऽत्मा के प्रकाशित होने पर ही, उनके प्रकाश से सांसारिक जडवर्ग प्रकाशित होता है।'' यह श्रुति इसी बात को कहती है।) तथा, य:=जो, वेद्यम्=जागतिक प्रपञ्च को ही, वेद=जानता है, स:=वह अनात्मदर्शी, सत्यं न वेद=सत्यस्वरूप परमाऽऽत्मा को नहीं जान पाता है ॥२/४२॥

भावाऽर्थप्रभा—वेदों में से कोई भी वेद उस परमाऽऽत्मा को जानने वाला नहीं है। क्योंकि वेद के द्वारा न परमेश्वर का ही ज्ञान होता है और न ही दृश्यपदार्थ का ही ज्ञान सुलभ हुआ करता है। इस कारण से जो पुरुष ज्ञानाऽऽत्मक परमाऽऽत्मतत्त्व का जानकार होता है, वही पुरुष दृश्यवर्ग को भी जान सकता है। किन्तु जो व्यक्ति केवल सांसारिक वस्तु को ही जान पाता है, वह पुन: सत्यस्वरूप आत्मा को जानने में असमर्थ हो जाता है ॥२/४२॥

शां० भा०—न वेदानामिति। न वेदानामृगादीनां मध्ये कश्चिदपि वेद: परमात्मनो

वाचामगोचरस्य संविद्रूपस्य वेदितास्ति:, कस्मात्? यस्माद् वेदेन ऋगादिरूपेण जडेन वेदं संविद्रूपं परमात्मानं न विदुः । न वेद्यम्, प्रपञ्चमपि न विदुः, संविदधीनत्वात्सर्वसिद्धेः । यस्मात् संविदधीना सर्वसिद्धिस्तस्माद् यो वेदं संविद्रूपं परमात्मानं वेद जानाति स च वेद वेद्यमिदं सर्वम् । तथा च श्रुतिः—"आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इति । यो वेद वेद्यमिदं रूपं न स वेद=न जानाति सत्यं सत्वादिलक्षणं परमात्मानम् ॥२/४२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—ऋगादिवेदों में से कोई भी वेद वाणी के अविषयभूत संवित्स्वरूप परमात्मा को जानने वाला नहीं है । क्या कारण है? ऐसा क्यों है?—क्योंकि ऋगादिरूप जड़ वेद के द्वारा ज्ञानस्वरूप परमात्मा का ज्ञान नहीं होता और न वेद्य—प्रपञ्च का ही बोध (ज्ञान) होता है, कारण, समस्त पदार्थों (विषयों) की सिद्धि तो ज्ञान के ही अधीन (नियन्त्रण में) है ।

इस प्रकार, क्योंकि समस्त पदार्थों की सिद्धि ज्ञान के ही अधीन है, इसलिए जो कोई ज्ञानस्वरूप परमात्मा से परिचित है, वही वेद्य—इस सभी प्रपञ्च को भी जानता है । "अरे मैत्रेयि! आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, ज्ञान, अथवा विज्ञान से यह सब जाना जाता है" यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है और जो वेद्य, अर्थात् इस रूप को जानता है, वह सत्य=सत्यादिस्वरूप परमात्मा को नहीं जानता ॥२/४२॥

शां० भा०—नन्वेवं तर्हि "वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम्' इति वदता अनात्मविदः प्रपञ्चासिद्धिरेवेत्युक्तं भवतीत्याशङ्क्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—तब इस प्रकार तो "वेद से न तो वेद अर्थात् परमात्मा का ज्ञान होता है और न वेद्य का ही ज्ञान प्राप्त होता है" ऐसा कहने वाले पुरुष के अनुसार तो अनात्मवेत्ता के लिए प्रपञ्च की असिद्धि ही होगी, इस प्रकार की आशङ्का उपस्थित होने पर समाधान कहते हैं—

मू०— यो वेदान् स च वेद वेद्यं न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः ।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ।। २/४३।।

अन्वयः—यः, च, वेदान्, वेद, सः, वेद्यम् वेद, तम्, वेदवि, न विदुः, न, वेदाः, (विदुः,) तथाऽपि, ये, ब्राह्मणाः, वेदविदः, भवन्ति, (ते) वेदेन, वेदम्, विदन्ति ॥२/४३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः च=और जो, वेदान्=ऋग्वेदाऽऽदिकों को, वेद=जानता है, सः=वह वेदज्ञाता पुरुष, वेद्यं वेद=जागतिकप्रपञ्च को ही जानता है, अर्थात् सृष्टि के रहस्य का तो ज्ञाता हो सकता है, किन्तु, तम्=उस अद्वैतस्वरूप आत्मतत्त्व को, वेद-

विदः=वेद को जानने में कुशल वेदज्ञ, न विदुः=नहीं जान पाते हैं और, न वेदाः (विदुः=) न ही वेद ही उस तत्त्व को जान सकते हैं। तथाऽपि=तो पर भी, ये ब्राह्मणाः वेदविदः= जो वेदों को जानने वाले ब्राह्मणगण हैं, (ते=वे) वेदेन=वेद के द्वारा ही, वेदम्=परमेश्वर को, विदन्ति=तात्पर्यविषय के रूप से निर्धारित किया करते हैं ॥२/४३॥

भावाऽर्थप्रभा—जो ब्रह्मवेत्ता वेदों के रहस्याऽर्थ (वेदाऽन्त के तत्त्वाऽर्थ को) जानते हैं, वे जानने योग्य परमतत्त्व को भी जान लेते हैं। परन्तु उस विज्ञानाऽऽत्मतत्त्व को वेद भी नहीं जानते और न ही उन वेदों के विज्ञाता ही जानने में समर्थ होते हैं। तथाऽपि जो ब्रह्माऽनुसन्धानपरायण ब्रह्मवेत्ता हैं, वे उन वेदों के द्वारा ही विज्ञानाऽऽत्मा ब्रह्म को जान लेते हैं। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता ही वास्तविकरूप से वेदज्ञ माने जाते हैं। इसका आशय यह है कि वह तत्त्व प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान शब्द अर्थाऽऽपत्ति एवम् अनुपलब्धिस्वरूप किसी भी प्रमाणों के द्वारा जानने के योग्य नहीं होता है। किन्तु कर्म उपासना आदि के द्वारा रागाऽऽदिमलों से शून्य हुए अन्तःकरण में वह प्रकाशाऽऽत्मक परमाऽऽत्मा स्वयमेव प्रकाशित होता है। अतः आत्मप्रकाशोपयोगी श्रवण-मनन-निदिध्यासन का क्रमिकरूप से अभ्यास करते रहना चाहिए ॥२/४३॥

शां० भा०—यो वेदेति। यो=वेद जानाति ऋगादीन् वेदान् स च वेद वेद्यं सोप्यनात्मविदेव भिन्नेन संवेदनेन वेद्यं प्रपञ्चं वेद। नन्वेवं चेत् तर्हि वेद्यवत् परमात्मानमपि विजानीयादित्या-शङ्क्याह—न तं परमात्मानं वाचामगोचरं विदुर्वेदविदः, न वेदाः, वेदा अपि न तं विदुः=न तं विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथंचिल्लक्षणया बोधयन्तीति भावः।

नन्वेवं तर्हि कथमौपनिषदं ब्रह्म स्यादित्याशङ्क्याह—"तथापि वेदेन विदन्ति वेदम्" यद्यपि वागाद्यविषयं ब्रह्म, तथापि वेदेन=ऋगादिना विदन्ति=विजानन्ति वेदं संविद्रूपं परमा-त्मानम्। के ते? ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति। वेदानां वेदप्रतिपादनप्रकारं जानन्तीत्यर्थः ॥२/४३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो ऋगादि वेदों को जानता है, वह तो वेद्यवर्ग को ही जानता है। वह व्यक्ति भी अनात्मज्ञ ही कहा जाता है और भेदज्ञान के द्वारा वेद्य—प्रपञ्च को ही जानता है। अतः इस प्रकार तो वेद्यवर्ग के समान वह परमात्मा को जानने में सक्षम ही होता है—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—वाणी के अविषयभूत उस परमात्मा को न तो वेदवेत्ता जानते हैं और न ही वेद उसे पाते हैं अर्थात् वेद भी उसे विषय नहीं कर सकते। किसी प्रकार लक्षणावृत्ति द्वारा उसका बोध कराते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है।

तो पुनः ऐसी स्थिति में ब्रह्म उपनिषद्वेद्य कैसे हो सकता है? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तथापि वेदेन विदन्ति वेदम्'—यद्यपि ब्रह्म वागादि इन्द्रियों का अविषय है तथापि—फिर भी ऋगादि वेद के द्वारा वेद—ज्ञानस्वरूप परमात्मा को जानते हैं? वे

जानने वाले कौन हैं?—जो ब्राह्मण वेदवेत्ता अर्थात् वेदों के वेद (परमात्मतत्त्व) के प्रतिपादन का प्रकार जानते हैं, वे ही इसके जानकार, अर्थात् जानने वाले हैं ॥२/४३॥

(वेद तटस्थवृत्ति से परमात्मा का बोध कराता है—)

शां० भा०—कथं तर्ह्यविषयमेव ब्रह्म वेदाः प्रतिपादयन्तीत्याशङ्क्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—तो, पुनः, जो ब्रह्म किसी का भी विषय नहीं है, उसका वेद किस प्रकार से प्रतिपादन करते हैं? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

मू०— यामांशभागस्य तथा हि वेदा यथा हि शाखा च महीरुहस्य ।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन् हि नित्ये परमात्मनोऽर्थे ।। २/४४।।

अन्वयः—यथा च, महीरुहस्य, शाखा, हि, यामांऽशभागस्य, यथा, तथा, हि, वेदाः, परमाऽऽत्मनः, नित्ये, तस्मिन्, सम्वेदने, अर्थे, च, एव, आमनन्ति ॥२/४४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यथा च=एवं जिस प्रकार, महीरुहस्य=वृक्ष की शाखा= अवयवाऽऽत्मक भागविशेष, हि=निश्चितरूप से, यामांऽशभागस्य=चन्द्रमा के एक भाग का, अर्थात् प्रतिपदा तिथि में स्थित चन्द्रभाग के दर्शन का कारण, यथा=जैसे हुआ करता है। तथा=उसीप्रकार, हि=निश्चितरूप से वेदाः=सभी वेद, परमाऽऽत्मनः=परमेश्वर के, नित्ये=सार्वकालिक, तस्मिन् सम्वेदने=परमाऽऽत्मस्वरूप ज्ञानाऽऽत्मक, अर्थे=अर्थ की उपलब्धि में, च=भी, एव=तात्पर्याऽऽख्यवृत्ति से, आमनन्ति=कारण बनते हैं ॥२/४४॥

भावाऽर्थप्रभा—प्रतिपदा अथवा द्वितीयातिथि की सूक्ष्म चन्द्रज्योत्स्ना को जनाने के लिए किसी वृक्ष की शाखारूप देश का आश्रयण किया जाता है। क्यों कोई पूछता है कि चन्द्रमा कहाँ है तो उसके उत्तर में कहा जाता है कि "शाखा चन्द्रः"=अर्थात् इस वृक्षशाखा में चन्द्रमा है। यहाँ पर चन्द्रदर्शन के आधाररूप से वृक्ष की शाखा का आश्रयण किया जाता है। उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमाऽऽत्मा का ज्ञान कराने के लिए ही वेदों का अवलम्बन किया जाता है। ऐसा विद्वान् लोग स्वीकार करते हैं। इसी अभिप्राय से वेदान्त सूत्रकार अपने सूत्र की रचना करते हुए कहते हैं—"शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र०सू० १/१/३) शास्त्र प्रमाण वाला परमाऽऽत्मा होने से शास्त्राऽऽत्मक वेद से उसकी सिद्धि होती है ॥२/४४॥

शां० भा०—यामेति। यामांशभागस्य, "त्रियामश्चन्द्रः" इति श्रुतेः, चन्द्रांशभागस्य। प्रतिपच्चन्द्रकलादर्शने यथा महीरुहस्य वृक्षस्य शाखा हेतुर्भवति। तथा हि वेदास्तस्यैव परमात्मनः स्वरूपभूते संवेदने नित्येऽविनाशिन्यर्थे परमपुरुषार्थस्वरूपे पूर्णानन्दरूपे हेतवो भवन्ति। न पुनः साक्षाद्वाचामगोचरं परमात्मानं प्रतिपादयन्तीत्येवमामनन्ति ॥२/४४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—''त्रियाम चन्द्रमा को कहा जाता है'' इस श्रुति के अनुसार जिस प्रकार यामांशभाग—चन्द्रांशभाग अर्थात् प्रतिपदा की चन्द्रकला के दर्शन में पेड़ की डाल (शाखा) हेतु होती है, उसी प्रकार परमात्मा के स्वरूपभूत ज्ञान में, जो नित्य-अविनाशीतत्त्व, परमपुरुषार्थस्वरूप, तथा पूर्णानन्दमय हैं, जिनके उपर्युक्त स्वरूप प्रकाशन में, वेद कारण हैं।

(अब अग्रिम ग्रन्थ से वेदार्थ का ज्ञाता ही सच्चा ब्राह्मण है, इसका प्रकाशन करते हैं—)

शां० भा०—य एवं वेदानां वेदरूपात्मप्रतिपादनप्रकारमवगम्य व्याचष्टे, सोऽपि ब्राह्मण इत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब यह बतलाते हैं कि जो इस प्रकार वेदों के स्वरूप को, वेदस्वरूप आत्मा के प्रतिपादन का प्रकार समझकर, उनकी व्याख्या करता है, वही ब्राह्मण है—

मू०— अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणम्।
एवं योऽभिविजानाति स जानाति परं हि तत्।।२/४५।।

अन्वयः—यः हि, आख्यातारम्, विचक्षणम्, ब्राह्मणम्, अभिजानामि, एवम् अभिविजानाति, सः, तत्, परम्, जानाति ।।२/४५।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः हि=जो वेदज्ञब्राह्मण वेदों के प्रतिपादन की शैली की व्याख्या करने में कुशल है, आख्यातारम्=उस प्रकार से वेद की व्याख्या प्रदर्शित करने वाले को, विचक्षणम्=वेदान्ततत्त्व के रहस्यवेत्ता के रूप में, उसी को वास्तविक, ब्राह्मणम्= ब्राह्मण, अभिजानामि=मैं मानता हूँ। एवम्=इस प्रकार मेरे द्वारा उपदिष्ट जो वेदों के तात्पर्याऽर्थस्वरूप ज्ञानाऽऽत्मा के प्रतिपादन प्रकार को, अभिजानाति=पूर्णरूप से जानता है, सः=वही पुरुष तत्=उस, परम्=सबसे ऊपर में रहने वाले सर्वाऽतिशायी ब्रह्म को, जानाति=जानने में योग्य होता है। इसका आशय यह है कि—जो प्रापञ्चिकपाण्डित्य का परित्याग कर आत्माऽभिमुख होकर स्थित है, ब्रह्म के प्राप्ति में प्रयासरत वह पुरुष, सब प्रकार से ब्राह्मण हो जाया करता है ।।२/४५।।

भावाऽर्थप्रभा—जो पुरुष वेदों के रहस्यों का उपयुक्त व्याख्यान करने वाला होता है, उसे मैं कुशल ब्राह्मण मानता हूँ। जो ब्रह्म के विषय से सम्बद्ध वेदों का व्याख्यान मदुक्त नियमाऽनुसार करता है और उस व्याख्यान के विषयभूत विज्ञानाऽऽत्मवस्तु को तत्त्व से जानता है, वही उस परमाऽऽत्मा को वास्तविक रूप से जानता है ।।२/४५।।

शां० भा०—अभीति। यो वेदप्रतिपादनप्रकारं व्याचष्टे तमाख्यातारं विचक्षणं

ब्राह्मणमभिजानामि । ननु बाल्यपाण्डित्यादिकं निर्विद्यावस्थितमेव ब्राह्मणं ब्रूते श्रुतिः । तथा हि "ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासे तथा बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिर्भवति । मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति । कथमुच्यते—अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणमिति? तत्राह—एवं वेदानां वेदनरूपात्मप्रतिपादनप्रकारं मयोक्तं योऽभिविजानाति स जानाति परं हि तत्परं ब्रह्म जानात्येव । यो हि पाण्डित्यं निर्विद्य स्थितः स क्षिप्रं बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥२/४५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो वेदों के प्रतिपादन की शैली (व्याख्यात्मक शैली) की व्याख्या करता है, उस व्याख्याता को मैं कुशल ब्राह्मण समझता हूँ; किन्तु श्रुति तो जो बाल्य और पाण्डित्य का परित्याग करके स्थित है, उसी व्यक्ति को ब्राह्मण कहती है; जैसा कि पूर्व में कहा गया है—"ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) को पाण्डित्य का त्याग करके बाल्य-भाव से स्थित होना चाहिए और फिर बाल्य तथा पाण्डित्य से निवृत्त होकर, वह मुनि हो जाता है, तथा पुनः मौन एवं अमौन का भी त्याग करके, ब्रह्मनिष्ठ होता है।" लेकिन फिर यहाँ प्रश्न उठता है कि ऐसा कैसे कह सकते हैं कि मैं वेदों की व्याख्या करने वाले को विचक्षण ब्राह्मण समझता हूँ? इसके समाधान में कहते हैं—इस प्रकार जो वेदों का मेरे द्वारा बताये गये ज्ञानस्वरूप आत्मा के प्रतिपादन के प्रकार को भली तरह से जानता है, वह उस परब्रह्म को भी जानता ही है। कहने का तात्पर्य है कि जो कोरे पाण्डित्य से परित्यक्त (निवृत्त) होकर स्थित है, वह शीघ्र ही बाल्यादि से भी निर्विण्ण होकर ब्राह्मण हो जाता है ॥२/४५॥

(आत्मकामी को विषयों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए–इसका प्रतिपादन)

शां० भा०—यस्मात्सत्यनिष्ठस्यैव ब्राह्मणत्वप्रसिद्धिस्तस्माद्विषयपरो न भवेदित्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—क्योंकि ब्राह्मणत्व की प्राप्ति (सर्वदा ही) सत्यनिष्ठ को ही होती है, अतः यह बताया जाता है कि विषयपरायण अर्थात् विषयासक्त नहीं होना चाहिए।

मू०— नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कदाचन ।
अविचिन्वन्निमं वेदे ततः पश्यति तं प्रभुम् ।। २/४६ ।।

अन्वयः—अस्य, पर्येषणम्, कदाचन, प्रत्यर्थिषु, न, गच्छेत्, इमम्, अविचिन्वन्, ततः, वेदे, तम्, प्रभुम्, पश्यति ॥२/४६॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—अस्य=अपने विज्ञानाऽऽत्मस्वरूप का, पर्येषणम्=अनुसन्धान, कदाचन=कभी भी, प्रत्यर्थिषु=आत्मा के प्रतिपक्षस्वरूप शरीर-इन्द्रियाऽऽदि विषयों में, न गच्छेत्=विषयों के अनुसन्धानस्वरूप अन्वेषण=परीक्षण नहीं करना चाहिए। (क्योंकि) इमम्=इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व को, अविचिन्वन्=शरीरेन्द्रियाऽऽदि स्वरूपविषयों में अनुसन्धान न करने वाला, ततः=इसलिए, वेदे=वेद में अर्थात् "तत्त्वमसि" इत्यादिस्वरूप

महावाक्य में, तम्=उस प्रभुम्=परमेश्वर को, पश्यति=देखता है ॥२/४६॥

भावाऽर्थप्रभा—इस अद्वैताऽऽत्मा के प्रतिपक्षभूत शरीर-इन्द्रिय आदि विषयों में आत्मतत्त्व का अनुसन्धान नहीं करना चाहिए, अर्थात् शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों एवं उनके धर्मों को आत्मा के स्वरूप में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। शरीर-इन्द्रिय और उनके धर्मों को आत्मरूप में अनुभव न करने से शरीराऽऽदिविषयों के साक्षी को ही आत्मरूप से जानते हुए वह पुरुष, तत् एवं त्वं पदार्थ के शोधन के अनन्तर, इस प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय एवं प्रमिति के साक्षीभूत परमाऽऽत्मा का साक्षात्कार किया करता है ॥२/४६॥

शां० भा०—नाऽस्येति। "विषयाश्चेन्द्रियाण्येव देहोऽहंकार एव च। बाह्या आभ्यन्तरा घोराः शत्रवो योगिनः स्मृताः" इति दर्शनान्नास्य आत्मनः प्रत्यर्थिषु=प्रतिपक्षभूतेषु देहेन्द्रिय-शब्दादिविषयेषु पर्येषणं=परित एषणं गच्छेत्, विषयान्वेषणपरो न भवेदित्यर्थः। अविचिन्वन् विषयसंचयमकुर्वन्निमं प्रत्यगात्मानं वेदे उपनिषत्सु तत्त्वमस्यादिवाक्येषु, ततः पश्चात्पश्यति तं प्रभुं=परमात्मानम् आत्मत्वेन जानातीत्यर्थः। अथवा, नास्यात्मनः पर्येषणम्, अन्वेषणं गच्छेत्। प्रत्यर्थिषु=प्रतिपक्षभूतदेहेन्द्रियादिषु देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः। अविचिन्वन् देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेनासंचिन्वन् तत्साक्षिणमात्मानमेव प्रतिपद्यमानस्तत्त्वं पदार्थशोधनानन्तरमिमं प्रमात्रादिसाक्षिणं परमात्मानं पश्यति। देहेन्द्रियतद्धर्मनात्मत्वेना-प्रतिपद्यमानस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैः परमात्मानमात्मत्वेन पश्यतीत्यर्थः ॥२/४६॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"विषय, इन्द्रियाँ, देह और अहंकार ही इस योगी के बाह्य और आन्तरिक भयंकर शत्रु कहे गये हैं" ऐसा होने के कारण साधक को इस आत्मतत्त्व के प्रत्यर्थी—प्रतिपक्षभूत देह, इन्द्रिय, तथा शब्द इत्यादि विषयों का पर्येषण-परीक्षण नहीं करना चाहिए; अर्थात् उसे विषयानुसंधान में प्रयास नहीं करना चाहिए। 'अविचिन्वन्'—विषयसंचय न करने से वह वेद अर्थात् उपनिषदों में—"तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में उस प्रत्यगात्मा प्रभु अर्थात् परमात्मा को आत्मस्वरूप से जान लेता है।

अथवा, इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि इस आत्मा का प्रत्यर्थियों=प्रतिपक्षभूत देह, एवं इन्द्रिय और उनके धर्मों को, आत्मभाव से ग्रहण (=अर्थात् स्वीकार) नहीं करना चाहिए। देह, इन्द्रिय और उनके धर्मों का अनुसंधान नहीं करने से, अर्थात् उन्हें आत्मस्वरूप से अनुभव नहीं करने पर, उनके साक्षी को ही आत्मस्वरूप से जानते हुए, वह तत् और त्वपदार्थ के शोधन के अनन्तर इस प्रमाता आदि के साक्षी परमात्मा का साक्षात्कार करता है। तात्पर्य यह है कि देह, इन्द्रिय और उनके धर्मों को आत्मभाव से न देखकर वह "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से परमात्मा को आत्मभाव से अनुभव करता है ॥२/४६॥

(ब्रह्मप्राप्ति के क्रम का प्रदर्शन)

शां० भा०—यस्मात्सर्वविषयपरित्यागेनैवात्मदर्शनसिद्धिः, तस्मात्—

भाष्याऽर्थप्रभा—क्योंकि सभी विषयों का सर्वथा त्याग करने पर ही आत्मदर्शन सम्भव है, इसलिए—

मू०— तूष्णींभूत उपासीत न चेच्छेन्मनसा अपि ।

अभ्यावर्त्तेत ब्रह्मास्मै बह्वनन्तरमाप्नुयात् ।।२/४७।।

अन्वयः—तूष्णींभूतः, उपासीत, मनसा, अपि, न च इच्छेत्, अस्मै ब्रह्म, अभ्यावर्त्तेत, अनन्तरम् , बहु, आप्नुयात् ॥२/४७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तूष्णींभूतः=सर्वकर्मों का त्याग करके, तथा आत्मवस्तु से भिन्न समस्त वस्तुओं से विमुख होकर, अद्वैताऽऽत्मभाव में स्थितिलाभ करता हुआ, अपने आत्मलोक की ही, उपासीत्=उपासना (निरन्तर ध्यान) करे, एवं मनसा अपि=मन से भी, न च इच्छेत्=विषयसुख की इच्छा न करे। अस्मै=सर्वकर्मसन्यासी एवं सर्व वस्तुओं का त्याग करने वाले ब्राह्मण के लिए, ब्रह्म=अद्वैताऽत्मा, अभ्यावर्त्तेत=सम्मुख हो जाता है। अनन्तरम्=ब्रह्माऽत्मस्वरूप के अभिव्यक्त होने पर, बहु=अज्ञान से परे, व्यापकीभूत अद्वैताऽऽत्मा को, आप्नुयात्=प्राप्त किया करता है ॥२/४७॥

भावाऽर्थप्रभा—वागादिस्वरूप बाह्य इन्द्रियव्यापार से विरत, एवं मन के संकल्पाऽऽत्मक बाह्यविषयों को प्राप्त करने की इच्छा से विरहित हुआ आत्ममात्र चिन्तन में दत्तचित्त वाला होकर, ब्रह्ममय स्थिति में लीन रहे। इस प्रकार परमात्मा की उपासना में लीन साधक सदा ब्रह्म के सन्मुख हो जाता है। (उस ब्रह्मज्ञानी को 'अहं ब्रह्माऽस्मि'' इस प्रकार के श्रुतियों के तात्पर्याऽर्थस्वरूप अद्वैताऽऽत्मविषयक साक्षात्कार से सम्पन्न हो जाता है। जिसके अनन्तर वह ब्रह्मज्ञानी बहुरूपाऽऽत्मक परब्रह्म से सदा के लिए अपृथक् हो जाता है ॥२/४७॥

शां० भा०—तूष्णीमिति। तूष्णींभूतः सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा स्वात्मव्यतिरिक्तं सर्वं परित्यज्य केवलो भूत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपासीत। न चेच्छेन्मनसा अपि विषयेच्छां न कुर्यात्।

यस्तूष्णींभूतो विषयोपसंहारं कृत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपास्ते, अस्मै तूष्णींभूताय ब्राह्मणाय ब्रह्म अपूर्वादिलक्षणमभ्यावर्तेत—अभिमुखीभवेदित्यर्थः। श्रूयते च—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' इति। अनन्तरमाविर्भूतस्वरूपः सन् बहु भूमानं तमसः पारं परमात्मानमाप्नुयादित्यर्थः ॥४७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—'तूष्णींभूत:' अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास का सम्पादन करके=आत्मा से भिन्न एवं सभी का परित्याग कर एकमात्र एकत्व में स्थित हो, अपने आत्मलोक की ही उपासना करे, तथा किसी भी अनात्म वस्तु की इच्छा न करे, अर्थात् मन से भी विषयों की अभिलाषा न करे।

जो पुरुष तूष्णीभूत हो सम्पूर्ण विषयों का उपसंहार कर, स्वात्मलोक की ही उपासना करता है, उस तूष्णींभूत अर्थात् आत्मवस्तु की लब्धि के लिए मौनव्रत को धारण करने वाले ब्राह्मण के अपूर्व-अनपरादि लक्षणों से लक्षित ब्रह्म अभ्यावर्तित अर्थात् अभिमुख हो जाता है। इस विषय में 'जिसे वह (आत्मा) वरण करता है, उसी पुरुष को यह प्राप्त हो सकता है, उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है, अर्थात् वह पुरुष आत्मा को पूर्णत: जान लेता है।' ऐसी श्रुति भी है। इसके पश्चात् स्वरूपसाक्षात्कार होने पर यह बहुभूमा, अर्थात् अज्ञानातीत (अज्ञान से सर्वथा रहित) परमात्मा को प्राप्त कर लेता है—यह इसका तात्पर्य है ॥४७॥

(''ब्रह्मज्ञ ही मुनि कहलाता है'' आगामी श्लोक से अब इसका प्रदर्शन किया जा रहा है—)

शां० भा०—मुनिरप्येष एवेत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—आगे इस तथ्य की पुष्टि करने जा रहे हैं कि यही आत्माऽन्वेषणपरायणपुरुष मुनि भी है—

मू०— मौनाद्धि मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।

अक्षरं तं तु यो वेद स मुनिश्रेष्ठ उच्यते ।।२/४८।।

अन्वयः—हि, मौनाद्, मुनि:, भवति, अरण्यवसनाद्, न, य:, तु, तम्, अक्षरम्, वेद, स:, मुनिश्रेष्ठ:, उच्यते ॥२/४८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—हि=जिस कारण, मौनात्=अन्त:करण में आत्मविषयक अनुसन्धान करते रहने से ही, आत्मध्यानपरायणमनुष्य, मुनि: भवति=आत्मनिश्चय वाला होता है, अरण्यवसनात्=केवल वन में वास करने मात्र से, न=आत्मबोद्धा मुनि नहीं बनता है, य: तु=(इस प्रकार) जो कोई, तम्=उस अक्षरम्=ज्ञानस्वरूप अविनाशी आत्मा को, वेद=निश्चित् रूप से जान लेता है, स:=वही, मुनिश्रेष्ठ:=आत्मचिन्तकमुनियों में श्रेष्ठमुनि, उच्यते=कहा जाता है ॥२/४८॥

भावाऽर्थप्रभा—आत्मचिन्तनाऽऽत्मकमौन को धारण करने के कारण ही, आत्मचिन्तनपरायण मनुष्य मुनि हुआ करता है। केवल वन में आकर मुनि के उपयोगी कषायवस्त्र, कमण्डलु आदि को धारण कर लेने मात्र से कोई मुनि नहीं होता है। अत:

जो मुनष्य आत्मचिन्तनपारायण हुआ अविनाशी परब्रह्म का शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों से भिन्न रूप में निश्चय कर लेता है उसी आत्मचिन्तक को श्रेष्ठमुनि कहा जाता है ॥२/४८॥

शां० भा०—मौनात्पूर्वोक्तात्तूष्णींभावादेव मुनिर्भवति न पुनररण्यवासमात्रान्मुनिर्भवति। तेषामपि तूष्णींभूतानां मध्ये यस्तु पुनरक्षरमविनाशिनं तं परमात्मानं वेद 'अयमहमस्मि' इति साक्षाज्जानाति स मुनिश्रेष्ठ उच्यते। श्रूयते च—'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' इति ॥२/४८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—मौन यानी पहले कहे गये तूष्णींभाव से ही साधक मुनि होता है। मात्र वनों में निवास करने से ही कोई व्यक्ति मुनि नहीं होता। उन तूष्णींभूतों=मौनसाधकों में भी जो उस अक्षर, अर्थात् अविनाशी परमात्मा को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् रूप से जानता है, वह श्रेष्ठ मुनि कहा जाता है। श्रुति की भी उक्ति है—'इसी को जानकर मुनि हो जाता है' इत्यादि ॥२/४८॥

(आगे के श्लोक से ''ब्रह्मज्ञ ही वैयाकरण है'' इस विषय का प्रदर्शन।)

शां० भा०—वैयाकरणोऽप्येष एवेत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अवतरित होने वाले श्लोक से यह कहते हैं कि यही ब्रह्माऽऽत्मवेत्ता वैयाकरण (भी) है—

मू०— सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते।

तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ।।२/४९।।

अन्वयः— सर्वार्थानाम्, व्याकरणात्, वैयाकरण:, उच्यते, तथा, तत्, व्याकरोति, इति, तन्मूलत:, व्याकरणम् ॥२/४९॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सर्वार्थानाम्=समस्त शब्दों के प्रतिपाद्यभूत अर्थों के, व्याकरणात्=स्पष्टीकरण करने से, वैयाकरण:=कोई पण्डित व्याकरणशास्त्र का ज्ञाता वैयाकरण, उच्यते=कहा जाता है। इति=इसे भी वैयाकरणपण्डित ही जानो जो पुरुष, तन्मूलत: व्याकरणम्=वही ब्रह्ममूलव्याकरण है, क्योंकि उसी मूलतत्त्व से समस्तलोक की सृष्टि-स्थिति-संहाररूपी व्याकृतिस्वरूपअभिव्यक्ति होती है। अर्थात् उसी व्याकृतिसाधनस्वरूप व्याकरण से नाम रूपाऽऽत्मिका शब्दाऽर्थाऽऽत्मिका व्याकृतिस्वरूपविभाग हुआ करता है ॥२/४८॥

भावाऽर्थप्रभा—समस्त साधुशब्दों एवम् अर्थों के विवेचन (व्याख्यान) करने के साधन विशेष को व्याकरण कहा जाता है, तथा शब्दाऽर्थनिर्वचन के साधनीभूत व्याकरण

के जानकार को वैयाकरण कहते हैं। अविनाशी अक्षरब्रह्म ही वास्तविक व्याकरण है क्योंकि—"अनेन जीवाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इस जीवाऽऽत्मा के रूप में जगत् निर्माण के मूल कारण प्रकृति में भोक्तास्वरूप जीव के रूप में प्रवेश करके, समस्त शब्दों और उन शब्दों के अर्थों की सृष्टि करूं।" इस श्रुति के माध्यम से ब्रह्म में समस्त शब्दार्थ प्रकाशकत्व सिद्ध होता है। अत: साक्षात् व्याकरण स्वरूपता एवं तदवबोधस्वरूप वैयाकरणत्व साक्षात् ब्रह्म में ही प्रमाणित होता है, एवं ब्रह्माऽद्वैत का वेत्ता ब्राह्मण भी इस प्रकार के ब्रह्माऽऽत्मा का इसी प्रकार विवेचन करता है, इसलिए वह भी ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप व्याकरण को जानने वाला वैयाकरण परम्परया सिद्ध होता है ॥२/४९॥

शां० भा०—सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते, न पुन: शब्दैकदेशव्याकरणाद् वैयाकरणो भवति। भवतु सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरणत्वं तत: किमिति चेत्तत्राह—तन्मूलतो व्याकरणम्। पूर्वोक्तादक्षराद्धि सर्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य व्याकरणम्। श्रूयते च—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूप व्याकरवाणि' इति। तस्माद् ब्रह्मण एव साक्षाद्वैयाकरणत्वम्। 'व्याकरोतीति तत्तथा' असावपि विद्वान् तद् ब्रह्म तथैव व्याकरोतीति वैयाकरण: ॥४९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—सभी प्रकार के अर्थों का व्याकरण करने (मात्र) से ही कोई पुरुष वैयाकरण कहा जाता है—शब्दरूप एकदेश का व्याकरण करने से ही कोई वैयाकरण नहीं हो सकता। सब प्रकार के साधुशब्दों एवंअर्थों का व्याकरण करने पर ही वैयाकरणत्व सिद्ध होता है तो होने दें—इससे क्या? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—वही मूल रूप से व्याकरण है अर्थात् पूर्व में कहे गये अक्षर से ही सारे नामरूपप्रपञ्च का विभाग होता है। श्रुति का भी कथन है—"इस जीवरूप से अनुप्रविष्ट होकर मैं नाम और रूपों का विभाग करता हूँ।" अत: साक्षात् वैयाकरण ब्रह्म का ही है। "व्याकरोतीति तत्तथा"—यह विद्वान् भी उन सर्वव्यापी ब्रह्म का इसी तरह व्याकरण अर्थात् विवेचना करता है, इस कारण वह ब्राह्मण भी "वैयाकरण" है ॥२/४९॥

(आगे के श्लोक में ब्रह्मज्ञ ही सर्वज्ञ होता है—इस रहस्य का प्रदर्शन करते हैं—)

शां० भा०—सर्वज्ञोऽप्येष एवेत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब यह स्पष्ट करते हैं कि शब्दाऽर्थाऽऽत्मक जगत् के मूल ब्रह्म का ज्ञाता ही सर्वज्ञ भी होता है—इस का प्रकाशन करते हैं—

मू०— प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नर:।

सत्ये वै ब्रह्मणि तिष्ठंस्तद्विद्वान् सर्वविद्भवेत् ॥२/५०॥

अन्वयः—लोकानाम्, प्रत्यक्षदर्शी, नरः, सर्वदर्शी, भवेत्। वै, सत्ये, ब्रह्मणि, तिष्ठन्, तद्विद्वान्, सर्ववित्, भवेत् ॥२/५०॥

अन्वयाऽर्थप्रभाः—लोकानाम्=समस्त लोकों का, प्रत्यक्षदर्शी नरः=(योगाऽभ्यास के सामर्थ्य से लब्ध प्रत्यक्षयोग्यता से) हस्ताऽऽमलक के समान प्रत्यक्ष देखने वाला पुरुष, सर्वदर्शी भवेत्=सर्वस्वरूपपरमेश्वर को ही देखने वाला हो सकता है। किन्तु जो वै=निश्चित रूप से, सत्ये ब्रह्मणि तिष्ठन्=सत् चित् एवम् आनन्दस्वरूप लक्षण से लक्षित ब्रह्म में स्थित होकर मन को एकाऽग्र करता है, या ब्रह्म में मन को लीन करने वाला होता है। तद्विद्वान्=सत्यादिलक्षण (=स्वरूप) ब्रह्म को जानने वाला (अपने आत्मा के रूप में ब्रह्म का अनुभव करने वाला पुरुष), सर्ववित् भवेत्= सर्ववस्तु को विशेषरूप से जानने वाला सर्ववेत्ता कहलाता है। अर्थात् योगबल से सर्व अनात्मवस्तु को प्रत्यक्ष करने वाला सर्ववेत्ता नहीं हुआ करता, किन्तु सर्वमय सत्यादिस्वरूपा परमेश्वर को अपनी आत्मा के रूप में निर्धारित करने वाला ही "सर्ववित्" कहलाने योग्य है ॥२/५०॥

भावाऽर्थप्रभा—समस्त भू आदि लोकों को प्रत्यक्षरूप में देखने वाला पुरुष सर्वदर्शी ही होता है, सर्वविषयकविशेषज्ञानवान् नहीं हुआ करता, किन्तु सत्यादिस्वरूप ब्रह्म में वर्तमान होकर, सर्वाऽधिष्ठानस्वरूप उस ब्रह्म का अपने आत्मा के रूप में निर्भ्रान्त रूप से अनुभव करने वाला पुरुष सर्वदर्शी के साथ-साथ, प्रत्येक को ब्रह्मरूप में अनुभव करने वाला "सर्ववित्' भी होता है ॥२/५०॥

शां० भा०—प्रत्यक्षदर्शी लोकानां यः प्रत्यक्षेण भूरादीन लोकान् पश्यति स सर्वदर्शी नरो भवेत् सर्वरूपं परमात्मानं पश्यति। असौ पुनः सत्ये सत्यादिलक्षणे ब्रह्मणि तिष्ठन्मनः समादधाति। तद्विद्वान् सत्यादिलक्षणं ब्रह्म विद्वानात्मत्वेन जानन् सर्वविद् भवेत्=सर्वं जानातीत्यर्थः। तस्मादेष एव साक्षात् सर्वज्ञो न अनात्ममात्रदर्शी ॥२/५०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—लोकों का प्रत्यक्षदर्शी (साक्षी) अर्थात् जो भूः आदि लोकों को प्रत्यक्षरूप से देखता है, वह पुरुष सर्वदर्शी होता है, वह सर्वरूप परमात्मा को देखता है। यह विद्वान् पुरुष सत्यादि लक्षणों से लक्षित ब्रह्म में स्थित हो मन को समाहित करता है (अर्थात् मन को ब्रह्म में पूर्णतः केन्द्रित करता है। अतः "तद्विद्वान्'—सत्यादिलक्षण ब्रह्म का ज्ञाता, अर्थात् उसे आत्मभाव से जानने वाला पुरुष सर्ववित् होता है अर्थात् वह सभी को जानता है, अतः वही साक्षात् सर्वज्ञाता है। जो मात्र अनात्मा को देखने वाला है, वह नहीं ॥२/५०॥

(अब आगे का ग्रन्थ यह कहता है कि—ज्ञानादिगुणयुक्त पुरुष ही ब्रह्म का प्रत्यक्षीकरण कर सकता है—)

शां० भा०—'यस्त्वेतेभ्यः' इत्यादिना उक्तमेवार्थं पुनरपि दर्शयति अवश्यकर्तव्यत्व-

प्रदर्शनार्थम्—

भाष्याऽर्थप्रभा—यस्त्वेतेभ्यः' (२/२०) इत्यादि श्लोकों द्वारा वर्णित अर्थ को ही उसकी अवश्य-कर्तव्यता दिखलाने के लिए पुनः प्रदर्शित करते हैं—

मू०— ज्ञानादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।
वेदानां चारपूर्वेण चैतद्विद्वन् ब्रवीमि ते ।। २/५१ ।।

।। इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

अन्वयः—क्षत्रिय! एवम्, ज्ञानाऽऽदिषु, स्थितः, अपि, वेदानाम्, चारपूर्वेण, ब्रह्म, पश्यति, च, ते, एतत्, ब्रवीमि ॥२/५१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—क्षत्रिय!=हे भूपाल!, एवम्=ज्ञानञ्च(२/१९) इत्यादिग्रन्थों में कही गयी रीति के अनुसार, ज्ञानाऽऽदिषु=ज्ञान सत्य आदि साधनों में, स्थितः=रत हुआ पुरुष, अपि=भी, वेदानाम्=वेदों के, चारपूर्वेण=विचार पूर्वक ही, ब्रह्म पश्यति=ब्रह्म को देखता है, अर्थात् वेदान्तविषयक श्रवणमनन-निदिध्यासनपूर्वक इसी प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार किया करता है, जिस प्रकार सत्यस्वरूपब्रह्म में स्थित हुआ पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न होता है। ज्ञानाऽऽदिसाधनों में स्थित हुआ पुरुष भी केवल ज्ञानाऽऽदिकों के सम्बन्धमात्र से ही ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न नहीं हुआ करता है, अपितु वेदान्तश्रवणाऽऽदिपूर्वक ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है। अतः हे विद्वान् भूपाल!, ते=तुम्हारे लिए, एतत्=वेदान्तों का श्रवणाऽऽदिविचारप्रकार, ब्रवीमि=बतलाता हूँ ॥२/५१॥

भावाऽर्थप्रभा—हे नृप श्रेष्ठ! इसी प्रकार ज्ञानाऽऽदिसाधनों में स्थित हुआ पुरुष भी वेदान्त श्रवणपूर्वक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। हे विज्ञ नरेश! यही तथ्य मैं आपके लिए उपदेश करने जा रहा हूँ ॥२/५१॥

शां० भा०—ज्ञानादिषु 'ज्ञानं च' (२/१९) इत्यादिना पूर्वोक्तेषु स्थितोऽप्येवं यथा सत्ये तिष्ठन् ब्रह्म पश्यति, एवमेव ब्रह्म पश्यति। वेदानां चारपूर्वेण वेदान्तश्रवणपूर्वकमित्यर्थः। अथवा गुणान्तरविधानमेतत्। ज्ञानादिषु स्थितोऽपि न केवलं तावन्मात्रेण पश्यति, अपि तु एवमेव वक्ष्यमाणप्रकारेण वेदान्तविचारपूर्वेण वेदान्तश्रवणादिपूर्वकमेव पश्यति ब्रह्म। एतद्वेदान्तानां विचारप्रकारं हे विद्वन्! ब्रवीमि ते वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥२/५१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य
श्रीशंकरभगवतः कृतौ श्री सनत्सुजातीयभाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

भाष्याऽर्थप्रभा—'ज्ञानं चं (२/१९) इत्यादि श्लोकों से पूर्व में बतलाये गये ज्ञानादि साधनों में स्थित हुआ पुरुष भी वेदों के विचारपूर्वक, अर्थात् वेदान्तश्रवणपूर्वक ब्रह्म का इसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, जैसे सत्यस्वरूप ब्रह्म अर्थात् पूर्णत: सत्य में स्थित हुआ पुरुष । अथवा यह गुणान्तर का विधान भी हो सकता है । (और इसका यह तात्पर्य होगा कि) ज्ञानादि में स्थित हुआ पुरुष भी मात्र उतने से ही ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता, अपितु इसी प्रकार अर्थात् आगे बताये जाने वाले प्रकार से वेदान्तविचारपूर्वक अर्थात् वेदान्तश्रवणादिपूर्वक ही ब्रह्म का प्रत्यक्षीकरण करता है । हे विद्वन्! मैं तुम्हें यह वेदान्तों का आचार विचार-प्रकार बतलाता हूँ, अर्थात् अब इसी का वर्णन करूँगा ॥२/५१॥

।। इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमारसम्बादे श्रीसनत्सुजातीये श्रीपरिब्राजकाऽऽचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य श्रीशङ्करभगवतः कृतस्य श्रीसनत्सुजातीयभाष्यस्य व्याकरणन्यायसांख्ययोगपूर्वोत्तरमीमांसाचार्येण मैथिलपण्डितेन पाठकोपाधिना श्रीचित्तनारायणेन कृतयोः अन्वयाऽर्थप्रभाभावाऽर्थप्रभानामकयोः व्याख्ययोः द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

**

तृतीयोऽध्यायः

(अब अग्रिम ग्रन्थ के माध्यम से ब्रह्मनिरूपण के लिए धृतराष्ट्र की प्रार्थना का निर्देश—)

शां० भा०—इदानीं ब्रह्मचर्यादिसाधनान्तरं तत्राप्यं च ब्रह्म प्रतिपादयितुं तृतीयचतुर्थावध्यायावारभ्येते। तत्र तावद् ब्रह्मचर्यादिसाधनं श्रुत्वा तद् ब्रह्मवेदनाकाङ्क्षी प्राह धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब ब्रह्मचर्यादि साधनों के अनन्तर उनसे प्राप्त होने वाले ब्रह्म को प्रतिपादित करने के लिए तीसरे और चौथे अध्यायों का आरम्भ किया जाता है। उस समय ब्रह्मचर्यादि साधनों का श्रवण कर ब्रह्म को जानने के इच्छुक होकर राजा धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

सनत्सुजात यदिमां परार्थां ब्राह्मीं वाचं वदसि हि विश्वरूपाम्।
परां हि कार्येषु सुदुर्लभां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यमेवं कुमार ।।३/१।।

अन्वयः— धृतराष्ट्र उवाच—सनत्सुजात! हि, यद्, इमाम्, पराऽर्थाम्, विश्वरूपाम्, ब्राह्मीम्, वाचम्, वदसि, हि, कार्येषु, पराम्, दुर्लभाम्, कथाम्, मे, प्रब्रूहि, कुमार!, एवम्, वाक्यम् ।।३/१।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र कहने लगे कि, सनत्सुजात!=हे सनत्सुजात !, हि=निश्चितरूप से, यद्=जो, इमां पराऽर्थां विश्वरूपां ब्राह्मीं वाचम्=इस सर्वोत्कृष्ट, समस्तजगत् को प्रकाशित करने वाली, ब्रह्मसम्बन्धिनी वाणी को, वदसि=कहते हो, वह वाणी, हि=वास्तविक रूप से, कार्येषु=कार्यस्वरूप जागतिकप्रपञ्चों में, पराम्=सर्वप्रकार से अलौकिक, दुर्लभाम्=साधारण जनों को सुलभ न हो पाने के योग्य, कथाम्=कहने योग्य कथा का, मे=मेरे लिए, प्रब्रूहि=आप उपदेश करें। कुमार!=हे सनत्सुजात! एवम्=इस प्रकार से कही गयी हमारी, वाक्यम्=प्रार्थना रूप में प्रस्तुत वाणी को आप सुनें ।।३/१।।

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र सनत्कुमार जी से कहते हैं कि=हे सनत्सुजात जी! आपने जिस सर्वश्रेष्ठ और विविध प्रकार की ब्रह्मसम्बन्धिनी वाणी को व्यक्त किये हैं, जिन वाणियों का इस कार्यस्वरूप जगत् के अन्तर्गत सुलभ हो पाना अत्यन्त कठिन है। अत: हे सनतकुमार! आप मेरे लिए पुन: ब्रह्मसम्बन्धिनी इस कथा को सुनावें, यही मेरी आपसे प्रार्थना है ।।३/१।।

शां० भा०— सनत्सुजातेति। हे सनत्सुजात! यद्=यस्मादिमां परार्थाम्=उत्कृष्टार्थां

ब्राह्मीं=ब्रह्मसम्बन्धिनीं वाचं वदसि हि विश्वरूपां=नानारूपां पराम् उत्तमां कार्येषु=कार्यवर्गेषु प्रपञ्चेषु सुदुर्लभां श्रवणायाप्यशक्यां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यम् एवंभूतं कुमार, यस्मात्त्वं ब्राह्मीं वाचं परमपुरुषार्थसाधनभूतां सुदुर्लभां वदसि तस्मात्त्वमेव वक्तुमर्हसीत्यभिप्राय: ॥३/१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे सनत्सुजात जी ! क्योंकि आप ये परार्थ—उत्कृष्ट अर्थवाली ब्राह्मी-ब्रह्मसम्बन्धिनी विश्वरूपा—अनेक प्रकार की बातें कह रहे हैं, अत: जो अत्युत्कृष्ट एवं कार्यवर्ग अर्थात् प्रपञ्च में अत्यन्त दुर्लभ है—जिसका श्रवण मात्र होना कठिन है, वह बात मुझसे कहिए। हे कुमार! आपके प्रति मेरी ऐसी प्रार्थना है, क्योंकि आप परमपुरुषार्थ की साधनभूत अत्यन्त दुर्लभ बातें कर रहे हैं, इस कारण केवल आप ही ऐसी बात कहने में समर्थ हैं—यह इसका तात्पर्य है ॥१॥

(ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मविद्या का मूल है)

शां० भा०—एवं पृष्ट: प्राह भगवान्—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार आग्रहपूर्वक प्रश्न करने पर भगवान् श्री सनत्सुजात ने कहा—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छस्यभिषङ्गेण राजन्।

बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या।।३/२।।

अन्वय:— सनत्सुजात उवाच, राजन्!, एतद्, ब्रह्म, त्वरमाणेन, न, लभ्यम्, यत्, अभिषङ्गेन, माम्, पृच्छसि, मनसि, बुद्धौ, प्रलीने, प्रचिन्त्या, हि, सा, विद्या, ब्रह्मचर्येण, लभ्या ॥३/२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच=सनत्सुजात जी कहते हैं कि, राजन्=हे भूपते!, एतद् ब्रह्म=इस ब्रह्म को, त्वरमाणेन=ब्रह्मप्राप्ति के उद्देश्य से शीघ्राऽतिशीघ्र प्रयत्न करने वालों के द्वारा, ब्रह्म न लभ्यम्=यह ब्रह्म प्राप्त होने के योग्य नहीं हुआ करता है। यत्=जिससे, अभिषङ्गेन=बहुत आग्रह के साथ, माम्=मुझको ब्रह्मविषय में, पृच्छसि=जिज्ञासा करते हो। **प्रश्न**—यदि पूर्वप्रकार से ब्रह्म प्राप्त होने के योग्य नहीं, तो पुन: उससे भिन्न किस उपाय से ब्रह्म का लाभ हो सकता है ? इसपर कहते हैं कि— मनसि=मन को, बुद्धौ=बुद्धि में, प्रलीने=विलीन कर दिये जाने पर ही, प्रचिन्त्या= ब्रह्मविषयिणीविद्या पूर्णरूप से चिन्तन किया जा सकता है। हि=जिस कारण से, सा विद्या=ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली वह ब्रह्मविद्या, ब्रह्मचर्येण=आगे कहे जाने वाले ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा ही, लभ्या=प्राप्त करने के योग्या होती है ॥३/२॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात जी कहते हैं कि हे राजन्! जिस तत्त्वज्ञान के लिए

तुम्हारे हृदय में उत्कण्ठा जगी है, वह ब्रह्म ज्ञान अति उत्साहित वा शीघ्रता करने वाले पुरुष से प्राप्त होने योग्य नहीं है, किन्तु जिस परब्रह्म की प्राप्ति श्रवणाऽऽदिविचार के माध्यम से ही मन को बुद्धि में लीन कर दिये जाने पर, ब्रह्मचर्यपूर्वक उसका चिन्तन किये जाने पर हो सकती है और वह भी पुनः ब्रह्मवेत्ता आचार्य की सन्निधि में ही होना सम्भव है ॥३/२॥

शां० भा०—नैतदिति। नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन पुरुषेण लभ्यं यद् ब्रह्म मां पृच्छस्याभिषङ्गेण राजन्। कथं तर्हि लभ्यमित्याह—बुद्धावध्यवसायात्मिकायां प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा, यदा पुनः संकल्पविकल्पात्मकं मनो विषयेभ्यः परावृत्य स्वात्मन्येव निश्चलं भवतीत्यर्थः। येयं बुद्धां प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या सा विद्या ब्रह्मचर्येण वक्ष्यमाणेन लभ्या ॥३/२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे राजन्! जिसके विषय में तुम आग्रहपूर्वक पूछ रहे हो, वह ब्रह्म व्यग्रचित्त अर्थात् उतावलेपन से प्राप्त नहीं हो सकता। तो फिर उन ब्रह्म को प्राप्त करने का क्या मार्ग है ? इसे उत्तर में कहते हैं—निश्चयात्मिका बुद्धि में मन के लीन हो जाने पर ही उस विद्या का प्रकृष्टतया चिन्तन मनन किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जिस क्षण संकल्प-विकल्पात्मक मन विषयों से हटकर अपने में (स्वयं में) निश्चल हो जाता है, उसी समय उसकी उपलब्धि होती है। बुद्धि में मन के समाहित (लीन) हो जाने पर, जिस विद्या का प्रकृष्टतया चिन्तन स्मरणादि किया जाता है, उसकी प्राप्ति आगे कहे जाने वाले ब्रह्मचर्य रूपी साधन से सम्भव है ॥३/२॥

शां० भा०—किञ्च—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस विषय में और भी कहा जा रहा है—

मू०— आद्यां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः।
यां प्राप्यैनं मर्त्यभावं त्यजन्ति या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥३/३॥

अन्वयः—हि, सत्यरूपाम्, आद्याम्, वदसि, या, सद्भिः, ब्रह्मचर्येण, प्राप्यते, याम्, प्राप्य, एनम्, मर्त्यलोकम्, त्यजन्ति, गुरुवृद्धेषु, नित्या ॥३/३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—हि=क्योंकि आप, सत्यस्वरूपाम्=परमाऽर्थस्वरूप को प्राप्त कराने वाली, आद्याम्=समस्तभूतों के कारणीभूत ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली विद्या को ही, वदसि=मुझसे पूछते हो, या=ब्रह्मसम्बन्धिनी जो विद्या, सद्भिः=ब्रह्मनिष्ठसत्पुरुषों के द्वारा, ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य व्रत के धारण से ही, प्राप्यते=प्राप्त किया जाता है। यां प्राप्य=जिस विद्या को प्राप्त करके, एनम्=इस, मर्त्यलोकम् (मर्त्यभावम्)= मृत्युलोक का (ब्रह्मवेत्तागण), त्यजन्ति=परित्याग कर पाने में समर्थ होते हैं। (एवं, जो ब्रह्मविद्या)

गुरुवृद्धेषु=गुरुजी के द्वारा विद्यादानाऽऽदिद्वारा वृद्धि को प्राप्त कराये गये शिष्यों में, नित्या=नियता=सर्वदा प्रकाशित होकर रहती है ॥३/३॥

भावाऽर्थप्रभा—राजन्! आप जिस सत्यस्वरूप सर्वश्रेष्ठ आदि (ब्रह्म) विद्या के विषय में जिज्ञासा कर रहे हो, उस विद्या की प्राप्ति विवेक-वैराग्याऽऽदिसाधनचतुष्टयसम्पन्न सत्पुरुषों के द्वारा, आचार्य के समीप ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए ही प्राप्त करने के योग्य है, वह ब्रह्मविद्या पुनः ब्रह्मवेत्ता गुरुजनों में ही प्रकाशित है जिसको प्राप्त करके, मानव मरण जन्माऽऽदिस्वरूप अनात्मस्वभाव से सदा के लिए छूट जाता है ॥३/३॥

शां० भा०—आद्यामिति । आद्यां सर्वादिभूतब्रह्मविषयां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां परमार्थरूपां मे ब्रूहीति । यद्वा, आद्याम् अकार्यभूताम् असत्यप्रपञ्चाविषयां विद्यां वदसि तस्मादत्वरमाणेन ब्रह्मचर्यादिसाधनोपेतेन उपसंहृतान्तःकरणेनैव लभ्येत्यर्थः । या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः । यां प्राप्य एनं मर्त्यभावं त्यजन्ति । या वै विद्या गुरुवृद्धेषु गुरुणा विद्याप्रदानादिना वर्द्धितेषु शिष्येषु नित्या नियता ॥३/३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—तुम आद्या—सभी के आदिभूत ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली विद्या के बारे में ही कहते हो कि उन सत्यरूपा—परमार्थभूता विद्या का मेरे प्रति वर्णन करें, इसका यह तात्पर्य है कि तुम आद्या—अकार्यभूता अर्थात् असत्य प्रपञ्च से सम्बन्ध न रखने वाली विद्या के विषय में जिज्ञासु हो । अतः, हे राजन्! वह आद्या विद्या तो उतावलापन न करने वाले, अर्थात् धैर्यवान् पुरुष को, ब्रह्मचर्यादि साधनों से सम्पन्न और शान्त अन्तःकरण वाले मनुष्य को ही प्राप्त हो सकती है । जो सत्पुरुषों को ब्रह्मचर्य के माध्यम से प्राप्त होती है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुरुष इस मर्त्यभाव का त्याग कर देते हैं, एवं जो विद्या गुरुवृद्धों में, अर्थात् गुरु के द्वारा विद्यादानादि से वृद्धि को प्राप्त कराए हुए शिष्यों में समाहित हैं ॥३/३॥

ब्रह्मचर्य क्या है?

शां० भा०—एवमुक्ते ब्रह्मचर्यविज्ञानायाह धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार कहने पर धृतराष्ट्र ने ब्रह्मचर्यविज्ञान के लिए प्रार्थना की—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा ।

तत्कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद्विद्वन् ब्रवीहि मे ।।३/४।।

अन्वयः—धृतराष्ट्र उवाच—ब्रह्मन्! ब्रह्मचर्येण, या, विद्या, अञ्जसा, वेदितुम्, शक्या, तत्, ब्रह्मचर्यम्, कथम्, स्यात्, मे, एतत्, ब्रवीहि ॥३/४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र कहने लगे—ब्रह्मन्=ब्रह्मविद्या के रहस्य को जानने वाले हे ब्राह्मणदेवता!, ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्यव्रत के द्वारा, या, विद्या=जो विद्या, अञ्जसा वेदितुं शक्या=सुगमता के साथ जानने के योग्य है, तत्=वह, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचर्य व्रत, कथं स्यात्=किस प्रकार का है? अर्थात् किस प्रकार से सम्पादन करने योग्य है? एतत्=इस रहस्य का, मे=मेरे लिए, ब्रवीहि=उपदेश करें ॥३/४॥

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र ने कहा—हे ब्रह्मन्! जिस विद्या का ब्रह्मचर्य के माध्यम से सुगमता के साथ ज्ञान हो सकता है, उस विद्या का साधनीभूत ब्रह्मचर्य का क्या स्वरूप है? मोक्षकारणीभूत ब्रह्मविद्या को सुलभ कराने वाले उस ब्रह्मचर्यव्रत के स्वरूप का मेरे प्रति कृपया उपदेश करें ॥३/४॥

शां० भा०—ब्रह्मचर्येणेति। या विद्या ब्रह्मचर्येण वेदितुं शक्या तत्साधनभूतं ब्रह्मचर्यं कथं स्यादेतद् ब्रह्मचर्यं विद्वन्! ब्रवीहि मे ॥३/४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस विद्या का ज्ञान ब्रह्मचर्य से हो सकता है, उस विद्या के साधनभूत ब्रह्मचर्य का स्वरूप कैसा है? हे विद्वन्! उस ब्रह्मचर्य का मेरे प्रति वर्णन कीजिए।

(अग्रिम श्लोक से सनत्कुमार जी ब्रह्मचर्य का विवरण प्रस्तुत करते हैं—)

शां० भा०—एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार पूछने पर भगवान् सनत्सुजात ने कहा—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।

इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥३/५॥

अन्वयः—सनत्सुजात उवाच—ये, इह, आचार्ययोनिम्, प्रविश्य, गर्भम्, भूत्वा, ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति, ते, इह, एव, शास्त्रकाराः, भवन्ति। देहम्, विहाय, परमम्, सत्यम्, यान्ति ॥३/५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच=सनत्कुमार जी कहते हैं कि—ये=जो मुमुक्षुगण, इह=इस मर्त्यलोक में, आचार्ययोनिम्= विद्योपदेष्टा आचार्य के सान्निध्य को, प्रविश्य=प्राप्त करते हुए, गर्भं भूत्वा=उपासना आदि के द्वारा अनन्यशिष्यस्वरूपता को प्राप्त होकर, ब्रह्मचर्यम्=गुरुजी की शुश्रूषा आदि का आचरणस्वरूप ब्रह्मचर्यव्रत को, चरन्ति=किया करते हैं, ते=वे मुमुक्षगण के रूप में वर्त्तमान शिष्य, इह=इस लोक में, एव=ही, शास्त्रकाराः=शास्त्रों के उपदेशकपण्डित, भवन्ति=होते हैं, एवम्, देहम्=इस

शरीर का, विहाय=परित्याग करके, परम्=सर्वोत्तम, सत्यम्=ब्रह्माऽऽत्मकसत्यस्वरूप को, यान्ति=प्राप्त हो जाते हैं ॥३/५॥

भावाऽर्थप्रभा—सनत्कुमार जी धृतराष्ट्र से कहने लगे कि—हे राजन्!, जो लोग इस लोक में आचार्य के सान्निध्य को प्राप्त करके, तथा गुरु वचनों में अमोघनिष्ठा रखते हुए, उनका अनन्य पारायण होकर सर्वभाव से उनकी सेवा के अनुरूप ब्रह्मचर्यव्रत में संलग्न रहते हैं, वे जब तक मुक्त नहीं हो जाते हैं तब तक लोककल्याणमार्ग के शास्त्रोपदेशक हुआ करते हैं और प्रारब्धकर्मसमाप्तिदशा को प्राप्त कर प्रारब्धकर्मप्राप्त-शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों का परित्याग करते हुए सत्याऽऽत्माब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित करते हैं ॥३/५॥

शां० भा०—आचार्येति । आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य=आचार्यसमीपं गत्वेत्यर्थः । भूत्वा गर्भम्=उपसदनादिना शिष्या भूत्वा ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषादिकं चरन्ति कुर्वन्ति, इहैवास्मिन् लोके ते शास्त्रकाराः शास्त्रकर्तारः पण्डिता भवन्ति । ततो बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणा भूत्वा आरब्धकर्मक्षये विहाय देहं परमं यान्ति सत्यं=सत्याऽऽदिलक्षणं परमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥३/५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जो लोग यहाँ आचार्ययोनि में प्रवेश करके, अर्थात् आचार्य के पास जाकर उनके गर्भ हो, अर्थात् उपसत्ति इत्यादि के माध्यम से उनका शिष्य बनकर, ब्रह्मचर्य यानी गुरुशुश्रूषादि का आचार-विचार करते हैं, वे लोग यहीं=इस लोक में ही शास्त्रकार-शास्त्रकर्ता अर्थात् पण्डित होते हैं और इसके पश्चात् बाल्यादि अवस्थाओं को त्याग कर (=अर्थात् इन मानवीय अवस्थाओं से ऊपर उठकर) ब्रह्मनिष्ठ होते हुए, प्रारब्धकर्म का क्षय होने पर इस देह का त्याग करके, परम सत्य अर्थात् सत्यादिलक्षण उन परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥३/५॥

शां० भा०—किञ्च—

भाष्याऽर्थप्रभा—इसी प्रकार इस विषय में और भी कहा जा रहा है—

मू०— अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीं स्थितिमनुतितिक्षमाणाः ।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहान्मुञ्जादिषीकामिव धीरभावात् ॥३/६॥

अन्वयः—अस्मिन्, लोके, ब्राह्मीं स्थितिम्, अनुतितिक्षमाणाः, इह, कामान्, विजयन्ति, धीरभावात्, मुञ्जात्, इषीकः, इव, देहात्, आत्मानम्, निर्हरन्ति ॥३/६॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—अस्मिन् लोके=इसी मनुष्यलोक में, ब्राह्मीं स्थितिम्=ब्रह्मनिष्ठ-स्थिति को, अनुतितिक्षमाणः=प्राप्त करते हुए, धीरभावात्=धैर्यसमन्वित होने के कारण, मुञ्जात्=मूँज से निकाले गए इषीका इव=उसके रेसा के समान, मूञ्जस्थानीय अपने,

देहात्= शरीर से(योगाऽभ्यास द्वारा) आत्मानम्=रेसास्थानीय अपने आत्मा को, निर्हरन्ति= अलग कर पाने में समर्थ हो जाते हैं ।।३/६।।

भावाऽर्थप्रभा—इस लोक में विवेकसम्पादनद्वारा जो अपनी कामनाओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, एवं सर्वदु:खाऽतीत अद्वैताऽऽत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए विविध प्रकार के द्वन्द्वों को सहन किया करते हैं, वे धैर्यशाली पुरुष शरीर से अपनी आत्मा को उसी प्रकार पृथक् कर पाने में समर्थ हुआ करते हैं, जिस प्रकार जानकार लोग मूँज से सींक को पृथक् किया करते हैं ।।३/६।।

शां० भा०—अस्मिन्निति । अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीमेव स्थितिं ब्रह्मण्येव स्थितिम् अनुतितिक्षमाणा अनुदिनं क्षममाणास्ते आत्मानं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं चिन्मात्रं निर्हरन्ति पृथक् कुर्वन्ति । किमिव? मुञ्जादिषीकामिव । यथा मुञ्जादि-षीकामन्त:स्थां निर्हरन्ति, एवं कोशपञ्चकेभ्यो निष्कृष्य सर्वात्मानं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थ: ।केन? धीरभावाद् धैर्येण । श्रूयते च कठवल्लीषु—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम् ।।इति ।।३/६।।

भाष्याऽर्थप्रभा—वे लोग इस लोक में समस्त इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति को—जो स्थिति ब्रह्ममात्र में ही विद्यमान है, उसे निरन्तर सहते हुए, वे अपने शरीर और इन्द्रिय आदि से निकालकर उनके साक्षीभूत चिन्मात्र आत्मा को अलग कर लेते हैं । किस प्रकार एवं किसकी तरह अलग कर लेते हैं?—तो इसके समाधान में कहा गया है, मूँज से सींक के सदृश । इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार मूँज में से उसके अन्दर विद्यमान सींक को निकाल लेते हैं, उसी प्रकार पञ्चकोशों से निकालकर सर्वात्मा को प्राप्त कर लेते हैं । अब पुन: प्रश्न होता है, किस प्रकार निकाल लेते हैं? उत्तर में कहा गया है कि मनीषी पुरुष धीरभाव से अर्थात् धैर्यपूर्वक इस कार्य को सम्पादित करते हैं । जैसा कि कठवल्लियों में सुना भी जाता है—

"अंगुष्ठपरिमाणमात्र अन्तर्यामी पुरुष सदा सर्वदा समस्त जीवों के हृदय में विद्यमान है । उसे मूँज से सींक के समान धैर्यपूर्वक अपने शरीर से अलग करें; उसे शुद्धतम एवं अमृत जानें" इत्यादि ।।३/६।।

(आचार्य की महिमा का प्रदर्शन)

शां० भा०—"आचार्ययोनिमिह' इत्यत्र आचार्यस्य योनित्वं दर्शितम् । तत्कथं मातापितृव्यतिरेकेण आचार्यस्य योनित्वमित्याशङ्क्य स एव साक्षाज्जनयितेत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—"आचार्ययोनिमिह' (३/५) आदि श्लोक में आचार्य का योनित्व

प्रदर्शित किया गया है। इसलिए माता-पिता से भिन्न आचार्य का योनित्व किस प्रकार का है? ऐसी शङ्का करके यह बतलाते हैं कि वह (आचार्य) ही साक्षात् जन्मदाता है—

मू०— शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यतस्तु यज्जन्म तत्सत्यं वै तथामृतम्॥३/७॥

अन्वयः—भारत! एतौ माता च पिता शरीरम्, कुरुतः तु, आचार्यतः, यत्, जन्म, तत्, सत्यम्, अमृतम्॥३/७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—भारत!=हे नृपश्रेष्ठ!, एतौ=ये दोनों, पिता माता च=पिता और माता, शरीरम्=इस पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर को, कुरुतः=उत्पन्न करने में निमित्त होते है। तु=किन्तु, आचार्यतः=आचार्य से विद्योपदेश द्वारा, यत्=जो, जन्म=शिष्य के बोधमय शरीर की सृष्टि होती है, तत्=शिष्य का वह बोधमय शरीर, सत्यम्=परमाऽर्थ-स्वरूप एवम्, अमृतम्=विनाशरहित ब्रह्मस्वरूप हुआ करता है॥३/७॥

भावाऽर्थप्रभा—हे नृपोत्तम! इस विनाशशील स्थूल शरीर को तो माता एवं पिता दोनों मिलकर उत्पन्न करते हैं, किन्तु इस शरीर के भीतर जो विद्याप्रदाता आचार्य के द्वारा जन्म दिया जाता है, सच्चिदानन्दस्वरूप होने के कारण वही अविनाशी एवं परमाऽर्थ-स्वरूप=मोक्षस्वरूप हुआ करता है। अर्थात् माता पिता जन्ममरणाऽऽदि को प्राप्त होने वाले बन्धनाऽऽत्मकशरीर को ही उत्पन्न करने में योग्य होते हैं, किन्तु आचार्योपदेश के माध्यम से जो ब्रह्मबोधाऽऽत्मक शरीर की अभिव्यक्ति होती है। वह शरीर अनात्म जगत् के बन्धन से मुक्त कराने वाला, नित्यभूत परमाऽर्थस्वरूप हुआ करता है॥३/७॥

शां०भा०—शरीरमेताविति। शरीरमिहास्य तौ मातापितरौ कुरुतः, नात्मानं स्वरूपेण जनयतः। यदिदं देहद्वयात्मना जन्म तदसत्यम्, आचार्यतस्तु यदिदं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना जन्म तत्सत्यं परमार्थभूतम्। तथैवामृतं विनाशवर्जितम्। तस्मात्स एव जनयितेत्यर्थः। श्रूयते च प्रश्नोपनिषदि—"त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' इति। तथा चाहापस्तम्बः—"स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म शरीरमेव मातापितरौ जनयतः" इति॥३/७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस लोक में शरीर को तो ये माता-पिता ही उत्पन्न करते हैं, किन्तु वे आत्मा को स्वरूप से जन्म नहीं देते। आत्मा का स्थूल-सूक्ष्म द्विविध देहरूप से उत्पन्न होना, वास्तव में मिथ्या ही है; लेकिन आचार्य से (अर्थात् आचार्य की कृपादृष्टि से) सच्चिदानन्दा-द्वितीय ब्रह्मरूप से जन्म लेना, तो सत्य—परमार्थरूप एवं अमृत—विनाशरहित ही है। इसका तात्पर्य यह है कि आचार्य ही वास्तविक जन्मदाता है। प्रश्नोपनिषद् में ऐसी श्रुति भी है—"आप ही हमारे पिता हैं, जिन्होंने हमें अविद्या के उस

पार उतार दिया है।'' एवं इसी सन्दर्भ में आपस्तम्ब ऋषि का भी यही कहना है—''वह (आचार्य) तो उसे विद्या के द्वारा जन्म प्रदान करता है, अत: वह इसका श्रेष्ठ जन्म है। माता-पिता तो केवल शरीर को उत्पन्न करते हैं'' ॥३/७॥

शां० भा०—यस्मादाचार्याधीना परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्—

भाष्याऽर्थप्रभा—क्योंकि परमपुरुषार्थ की सिद्धि आचार्य के ही अधीन है, इसलिए कहते हैं—

मू०— स आवृणोत्यमृतं सम्प्रयच्छंस्तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन्।

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेच्च सदाप्रमत्तः ॥३/८॥

अन्वयः—सः, अमृतम्, सम्प्रयच्छन्, आवृणोति, अस्य, कृतम्, जानन्, शिष्यः, तस्मै, न, द्रुह्येत्, गुरुम्, नित्यम्, अभिवादयति, च, सदा, अप्रमत्तः, स्वाऽध्यायम्, इच्छेत्।

अन्वयाऽर्थप्रभा—सः=ब्रह्मविद्योपदेष्टा वह गुरु, अमृतम्=पूर्णाऽऽनन्दब्रह्म को अपने आत्मा के रूप में, सम्प्रयच्छन्=प्रदान करते हुए, आवृणोति=परिपूर्ण कर देते हैं, (इस कारण से) अस्य=गुरुजी के, कृतम्=उपकार को, जानन्=स्मरण करता हुआ, शिष्यः=अनुगृहीत होने वाला शिष्य, तस्मै=गुरुजी के लिए न द्रुह्येत्=कभी भी दोह की भावना को मन में न आने दे, (एवम्) गुरुम्=गुरु जी को, नित्यम्=नित्य ही, अभिवादयति=प्रणामाऽऽदिकों से प्रसन्न करे, च=एवम्, सदा, अप्रमत्तः= सर्वकाल में सावधान होकर, स्वाध्यायम्, इच्छेत्=अध्ययन की इच्छा किया करे ॥३/८॥

भावाऽर्थप्रभा—वह गुरु जिस कारण से अद्वैताऽऽत्मस्वरूप अमृतदान से शिष्य को परिपूर्ण कर देता है,इसलिए गुरुजी के उपकार को जानते हुए कभी भी उनसे द्रोह न करे। शिष्य को चाहिए कि वह सर्वदा विद्याप्रदाता गुरु के श्रीचरणों में प्रणामाऽऽदि करता हुआ, नित्य सावधान होकर वेदों के स्वाध्याय की इच्छा करे ॥३/८॥

शां० भा०—सेति। स आवृणोति=आपूरयति अमृतं पूर्णानन्दं ब्रह्म आत्मत्वेन सम्प्रयच्छन्, तस्मै आचार्याय न द्रुह्येद् द्रोहं नाचरेत्। तथा च श्रुतिः—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥इति॥

तथा चापस्तम्बः—''तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन। स हि विद्यातस्तं जनयति'' इति। कृतमस्य जानन्, अस्येति तृतीयार्थे षष्ठी। अनेनात्मनः कृतमुपकारं जानन्।

भाष्याऽर्थप्रभा—उन अमृत—पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म का आत्मभाव से दान

करके, आवरण अर्थात् सब ओर से पूर्ण कर देता है। अतएव उस आचार्य के प्रति कभी विद्रोह न करे। जैसा कि श्रुति का कथन है—"जिसकी भगवान् में अनन्य भक्ति है और जितनी (व जैसी) भगवान् में है, उतनी ही (और वैसी ही) गुरु में भी भक्ति है, केवल उस महात्मा के प्रति कहे गये वेदविहित उन अर्थों का प्रकाश होता है।" इसी प्रकार आपस्तम्बजी भी कहते हैं—"उन गुरुदेव से कभी द्रोह न करे; क्योंकि वही विद्या के द्वारा उसे जन्म देता है।" "कृतमस्य जानन्" इसमें "अस्य" शब्द में तृतीया के अर्थ में षष्ठी विद्यमान है; अर्थात् उनके द्वारा किये हुए अपने उपकार को जानकर (सदैव कृतज्ञता का भाव रखें।)

शां० भा०—किं तर्हि कर्त्तव्यमित्याह—गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत, देवमिवाचार्य-मुपासीत। तथा च श्रुतिः—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" इति। तथा स्वाध्यायमिच्छेच्च श्रवणादिपरो भवेत्। सदाप्रमत्तोऽप्रमादी सन्॥२/८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—तो फिर क्या करना उचित है? इसके उत्तर में कहते हैं—शिष्य को नित्य गुरु की वन्दना करनी चाहिए—भगवान् के सदृश ही गुरु की पूजा करनी चाहिए। ऐसी ही श्रुति इस विषय में उपलब्ध होती है—"जिसकी भगवान् में प्रगाढ़ भक्ति है, एवं जैसी भगवान् में है, वैसी ही गुरु में भी है" इत्यादि श्रुति का भी कहना है, (ऐसा श्रुति भी कहती है)। तथा स्वाध्याय की इच्छा करनी चाहिए अर्थात् सदैव अप्रमत्त—प्रमादशून्य भाव से श्रवण आदि में तत्पर रहना चाहिए॥३/८॥

(अग्रिम ग्रन्थ से चतुष्पाद ब्रह्मचर्य का वर्णन किया जा रहा है—)

शां० भा०—इदानीं चतुष्पादब्रह्मचर्यं श्लोकचतुष्टयेनाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब अग्रांकित चार श्लोकों से चार पाद वाले ब्रह्मचर्य का वर्णन किया जा रहा है—

मू०— शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते॥३/९॥

अन्वयः—यः, शुचिः, शिष्यवृत्तिक्रमेण, एव, विद्याम्, आप्नोति, अस्य, ब्रह्मचर्य-व्रतस्य, प्रथमः पादः, उच्यते॥३/९॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो शिष्य, शुचिः=विशुद्ध मन वाला होकर, शिष्यवृत्ति-क्रमेण=पूर्व में कहे गये आचार्यसान्निध्य, आचार्यसेवा आदि क्रम से, एव=ही, विद्याम्=ब्रह्मविद्या को, आप्नोति=ग्रहण करता है, (यह कार्य) अस्य=शिष्य के, ब्रह्मचर्यव्रतस्य=ब्रह्मचर्यव्रत का, प्रथमःपादः=प्रथमचरण, उच्यते=कहा जाता है॥३/९॥

भावाऽर्थप्रभा—जो शिष्यता ग्रहण के योग्य गुरुसान्निध्याऽऽदिकों के क्रम से

पवित्र होकर, अर्थात् आचार्य के शरणाऽऽगति को प्राप्त करके, उनके शास्त्रोपदेश में श्रद्धाऽवनत् हुआ विद्याग्रहण किया करता है, अर्थात् वेदान्त के गूढरहस्य को निष्कपट भाव से ग्रहण करता है, उस गुरुसेवापारायण विद्याऽभ्यासी शिष्य के ब्रह्मचर्यव्रत का यह प्रथमचरण कहा जाता है ॥३/९॥

शां० भा०—शिष्येति। शिष्यवृत्तिक्रमेणैव। "आचार्ययोनिमिह" इत्यादिनोक्तक्रमेण शुचिर्विद्यामाप्नोति यत्, तद् ब्रह्मचर्यं तस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥३/९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—शिष्यवृत्तिक्रम से अर्थात् "आचार्ययोनिमिह" इत्यादि श्लोक में वर्णित क्रम से पवित्र होकर जो विद्या प्राप्त करता है, उसका वह ब्रह्मचर्य इस ब्रह्मचर्यव्रत का प्रथम पाद कहलाता है ॥३/९॥

मू०— यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्मुख्यपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।

तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥३/१०॥

अन्वयः—यथा, गुरौ, नित्यम्, वृत्तिः, तथा, गुरुपत्न्याम्, आचरेत्, तथा, तत्पुत्रे, कुर्वन् च, द्वितीयः, पादः, उच्यते ॥३/१०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यथा=जिसप्रकार, गुरौ=गुरुचरणों में, नित्यं वृत्तिः=नैरन्तरिक श्रद्धाभक्ति शिष्य में हुआ करता है, तथा=उसी प्रकार की श्रद्धाभक्ति वह अपनी, गुरुपत्न्याम्=गुरुजी की धर्मपत्नी में भी, आचरेत्=सदा रखे, तथा तत्पुत्रे=और उसी प्रकार की भावना गुरुपुत्र में भी, कुर्वन्=करे, इस प्रकार की भावना से भावित होना, इस शिष्य के ब्रह्मचर्यव्रत का, द्वितीयःपादः=द्वितीयचरण, उच्यते=कहा जाता है ॥३/१०॥

भावाऽर्थप्रभा—जिस प्रकार सर्वदा गुरु जी के साथ शिष्य भक्ति-श्रद्धायुक्त व्यवहार किया करता है, उसी प्रकार गुरुपत्नी के साथ भी व्यवहार होना चाहिए, एवम् उसी प्रकार की श्रद्धाभक्तिमयी भावना गुरुपुत्र में भी होनी चाहिए, यह ब्रह्मचर्यव्रत का द्वितीय चरण कहा जाता है ॥३/१०॥

शां० भा०—यथेति। स्पष्टार्थः श्लोकः। तथा चोक्तम्—"आचार्यवदाचार्यदारेषु वृत्तिः", "आचार्यवदाचार्यपुत्रे वृत्तिश्च" इति ॥३/१०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—श्लोक का भाव स्पष्ट है। ऐसा ही कहा भी गया है—"आचार्य के समान ही आचार्यपत्नी से व्यवहार करे' एवं "आचार्य के समान ही आचार्यपुत्र के साथ व्यवहार करे" इत्यादि ॥३/१०॥

मू०—आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।

यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥३/११॥

अन्वयः—आचार्येण, आत्मकृतम्, विजानन्, अर्थम्, ज्ञात्वा, भावितः, अस्मि, इति अनेन, यत्, मन्यते, सम्प्रति, हृष्टबुद्धिः, सः, वै, ब्रह्मचर्यस्य, तृतीयःपादः ॥३/११॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—आचार्येण=आचार्य के द्वारा किये गये, आत्मकृतम्=अपने उपकार का, विजानन्=स्मरण करता हुआ, अर्थम्=वेदाऽर्थभूत अद्वैताऽऽत्मा को, ज्ञात्वा=बोध करके, भावितः अस्मि=मैं स्वाभाविकरूप से सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैताऽऽत्मा के रूप से अपने स्वरूप का लाभ प्राप्त करके कृताऽर्थ हो चुका हूँ'' इति अनेन=इस प्रकार से, यत्=जो मन्यते=अपने को अनुभव करता है, सम्प्रति=गुरु के प्रति, हृष्टबुद्धिः=प्रमुदितचित्तवाला, सः=वह शिष्य, वै=निश्चितरूप से, ब्रह्मचर्यस्य=ब्रह्मचर्यव्रत का, तृतीयः पादः=तीसरा चरण, (उच्यते=कहा जाता है।) ॥३/११॥

भावाऽर्थप्रभा—आचार्य के द्वारा किये गये उपकार का स्मरण करता हुआ, अर्थात् आचार्यप्रदत्तविद्या से सुख का अनुभव करता हुआ, जो शिष्य अपने आचार्य के प्रति आदरभाव प्रकट किया करता है और वेदाऽर्थस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म से अभिन्नरूप में अपने आत्मा को प्राप्त करके अपने को कृतार्थ समझता है, वह इस शिष्य के ब्रह्मचर्यव्रत का तृतीय चरण कहा जाता है ॥३/११॥

शां० भा०—आचार्येणेति। आचार्येणात्मकृतम् आत्मनः कृतमुपकारं विजानन् ज्ञात्वा अर्थं वेदार्थं परमपुरुषार्थं ज्ञात्वा च अवगम्य भावितोऽस्मीत्यनेन स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्राह्मात्मना यथावदुत्पादितोऽस्मीति चिन्तयन् तमाचार्यं प्रति हृष्टबुद्धिः सन् यद् आत्मनः कृतार्थत्वं मन्यते स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य स पादः ॥३/११॥

भाष्याऽर्थप्रभा—आचार्य के द्वारा किए गए अपने प्रति उपकार को भलीभाँति जानकर तथा अर्थ-वेदार्थ अर्थात् परमपुरुषार्थ को जानकर यह विचार करते हुए कि इन्होंने मुझे उत्पन्न किया है, अर्थात् अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूप से मुझे यथावत् जन्म प्रदान किया है, उन आचार्य के प्रति आनन्दचित्त एवं प्रफुल्लित होकर जो अपनी कृतकृत्यता अर्थात् अत्यन्त आभार मानता है, वही निश्चय ब्रह्मचर्य का तृतीय पाद है ॥३/११॥

मू०— आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते ॥३/१२॥

अन्वयः—प्राणैः, धनैः, अपि, (तथा) कर्मणा, मनसा, वाचा, आचार्याय, प्रियम्, कुर्यात्, (सः) चतुर्थः, पादः, उच्यते ॥३/१२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—प्राणैः=शरीर इन्द्रियाऽऽदिकों के द्वारा (तथा) धनैरपि=संसार यात्रा निर्वाहक गोहिरण्याऽऽदिस्वरूप द्रव्यों से भी, कर्मणा, मनसा, वाचा=सत्कर्म से,

विशुद्धमन से एवं विशुद्ध वाणी से भी, अर्थात् सर्व प्रकार से, आचार्याय=विद्याप्रदाता आचार्य के लिए, प्रियं कुर्यात्=सुखसाधक कार्य सम्पादित करना चाहिए, सः=शिष्यकर्तृक ऐसा कर्तव्य कर्म ही ब्रह्मचर्य व्रत का, चतुर्थः पादः उच्यते=चौथा चरण कहा जाता है ॥३/१२॥

भावाऽर्थप्रभा—श्रीगुरुजी की सेवा में अपने प्राणों, (=शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों को) एवम् अपने पास पूर्व से विद्यमान धनों से अथवा उद्योग के द्वारा प्राप्त धनों से,तथा मन, वाणी एवं शुभ कर्मों के द्वारा आचार्य के लिए सुख प्राप्त कराने वाला कार्य करना चाहिए ॥३/१२॥

शां० भा०—आचार्ययेति । स्पष्टोऽर्थः ॥३/१२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥३/१२॥

चतुष्पाद ब्रह्मविद्या का वर्णन

शां० भा०—इदानीं चतुष्पदीं विद्यां दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब चार पादों वाली विद्या का निरूपण करते हैं—

मू०— कालेन पादं लभते तथायं तथैव पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छेच्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ।।३/१३।।

अन्वयः—अयम्, कालेन, पादम्, लभते, च, तथैव, गुरुयोगतः, पादम्, च, तथा, उत्साहयोगेन, पादम्, तदच्छेत्, च, ततः, शास्त्रेण, पादम्, अभियाति ॥३/१३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—अयम्=विद्याप्राप्त करने वाला शिष्य, कालेन=कालक्रम से, पादम्=प्रथम अंश को, लभते=उपलब्ध करता है । च=एवम्, तथैव=उसी प्रकार, गुरुयोगतः=गुरु जी के सान्निध्य से, पादम्=द्वितीय पाद को प्राप्त करता है, च=और, तथा=अनन्तर, उत्साहयोगेन=उत्साह के द्वारा बुद्धिविशेष का प्रादुर्भाव होने से, पादम्=तृतीय पाद को, ऋच्छेत्=प्राप्त करता है । च=और, ततः=उसके अनन्तर, शास्त्रेण=शास्त्राऽभ्यास द्वारा, पादम्=चतुर्थपाद को, अभियाति=सर्व प्रकार से प्राप्त होता है ॥३/१३॥

भावाऽर्थप्रभा—ब्रह्मचर्य के समान उससे प्राप्त होने वाली ब्रह्मविद्या भी चार पादों वाली कही जाती है । जिज्ञासुशिष्य विद्या का एकपाद कालक्रम से प्राप्त करता है, दूसरा पाद गुरु के सान्निध्य से प्राप्त करता है । उत्साहमूलिकाबुद्धि के माध्यम से तृतीय पाद को अधिगत करता है और शास्त्राऽभ्यास के द्वारा पुनः चतुर्थपाद को प्राप्त करता है ॥३/१३॥

शां० भा०—कालेनेति । अत्र क्रमो न विवक्षितः । प्रथमं गुरुयोगतः, तत उत्साहयोगेन

बुद्धिविशेषप्रादुर्भावेन, ततः कालेन बुद्धिपरिपाकेण, ततः शास्त्रेण सहाध्यायिभिस्तत्त्व-विचारेण। तथा चोक्तम्—"आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया। कालेन पादमादत्ते पादं सब्रह्मचारिभिः" इति ॥३/१३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—यहाँ पादों का क्रम बतलाना अभीष्ट (प्राथमिकता) नहीं है। सर्वप्रथम गुरु के योग से, तत्पश्चात् उत्साह के द्वारा बुद्धिविशेष का प्रादुर्भाव होने पर और इसके बाद कालक्रम से बुद्धि का परिपाक होने पर, शास्त्र के द्वारा सहपाठियों के संग तत्त्व का विचार करने से इनकी प्राप्ति होती है। ऐसा ही कहा भी गया है—"शिष्य (विद्या का) एक पाद आचार्य से प्राप्त करता है, एक अपनी बुद्धि-कौशल से, एक कालक्रम से और एक अपने साथ विद्याध्ययन करने वाले (अर्थात् संग में पढ़ने वाले) साथियों के द्वारा प्राप्त करता है। चतुष्पाद ब्रह्मविद्या को और अधिक स्पष्ट करते हुए बताया जाता है—

यहाँ (इस श्लोक में) श्रवण (सुनना), मनन (विचार करना) और निदिध्यासन (निरन्तर चिन्तन करना, अभ्यास करना) ही ब्रह्मविद्या के पादरूप से विवक्षित है। श्रवण (पहला) प्रथम पाद है, इसकी प्राप्ति गुरु के द्वारा होती है। मनन के दो भेद हैं। मनन का पूर्वार्द्ध द्वितीय पाद है, इसकी प्राप्ति उत्साह से होती है। इस अवस्था में जिज्ञासु (शिष्य) उत्साहपूर्वक अनेक प्रकार की युक्ति-प्रत्युक्तियों से श्रवण की हुई विद्या की अर्थवत्ता का विचार करता है। तृतीय पाद मनन का उत्तरार्द्ध है। इसकी प्राप्ति सहाध्यायियों के साथ शास्त्राध्ययन से होती है, अर्थात् तीसरे पाद की प्राप्ति सहपाठियों के साथ समूह में बैठकर पढ़ने से होती है। इस स्थिति में वह मनन द्वारा निश्चय किये हुए अर्थ को शास्त्र से मिलान करता है। (=मिलाता है।) ब्रह्मविद्या का चतुर्थ पाद निदिध्यासन है। इस अवस्था में निश्चित किए हुए तत्त्व का, निरन्तर एकरस भाव से अर्थात् एकाग्रतापूर्वक चिन्तन किया जाता है। इसकी पूर्ति कालक्रम से अर्थात् दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करने पर होती है।)

गुरुसेवा का महत्त्व

शां० भा०—ज्ञानादीनामाचार्यसंनिधाने फलसिद्धिरित्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब ज्ञानादि साधनों का आचार्य की संनिधि में फलप्राप्ति का वर्णन करते हैं—

मू०— ज्ञानादयो द्वादश यस्य रूपमन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च।

आचार्ययोगे फलतीति चाहुर्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥३/१४॥

अन्वयः—यस्य, ज्ञानाऽऽदयः, द्वादशरूपम्, अन्यानि, च, अङ्गानि, तथा,

बलम्, च, आचार्ययोगेन, फलति, ब्रह्माऽर्थयोगेन, च ब्रह्मचर्यम्, आहुः, इति च ॥३/१४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यस्य=जिस साधक का, ज्ञानाऽऽदयः द्वादश=ज्ञान आदि बारह गुण, रूपम्=स्वरूप हुआ करता है। अन्यानि च अङ्गानि="श्रेयांस्तु षड्विधः त्यागः" (२/२५) तथा—"सत्यं ध्यानम्" (२/२८) इन दोनों श्लोकों से कहे गये अन्य गुण जिसके अङ्ग हैं, तथा बलञ्च=एवं बलस्वरूप पुरुषाऽर्थ, ये सभी, आचार्ययोगेन= आचार्य के सान्निध्य से ही, फलति=व्यक्त होता है। ब्रह्माऽर्थयोगेन=ब्रह्मस्वरूप वेदाऽर्थ के सम्बन्ध से पुनः, ब्रह्मचर्य (फलति) इति च आहुः=ब्रह्मचर्यपूर्ण होता है, ऐसा कहते हैं ॥३/१४॥

भावाऽर्थप्रभा—ज्ञान, सत्य, दम आदि पूर्व प्रतिपादित बारह गुण जिनके स्वरूप हैं, तथा उसके अन्य अङ्ग और बल ये सब आचार्य के सान्निध्य योग से शिष्य में अभिव्यक्त होते हैं, एवं ब्रह्मस्वरूप वेदाऽर्थ के योग से ब्रह्मचर्य सफल हुआ करता है ॥३/१४॥

शां० भा०—ज्ञानादय इति। ज्ञानादयः "ज्ञानं च" इत्यादिना पूर्वोक्ता द्वादश गुणा यस्य पुरुषस्य रूपम्, अन्यानि चाङ्गानि "श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः", "सत्यं ध्यानम्" इति श्लोकद्वयेन चोक्तानि। तथा बलं च तद्धर्मपरिपालनसामर्थ्यं च सर्वमाचार्ययोगे एव फलति, नाचार्ययोगं बिना फलति। श्रूयते च—"आचार्याद्धैव विद्या विदिता" इति, "आचार्यवान्पुरुषो वेद" इति च। ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यं यदिदं गुरुसंन्निधौ शुश्रूषाद्याचरणं तद् ब्रह्मचर्यं ब्रह्मार्थयोगेन फलति, स्वात्मनश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वसम्पादनद्वारेण फलतीत्यर्थः ॥३/१४॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"ज्ञानादयः" अर्थात् "ज्ञानं च" इत्यादि श्लोक से पूर्व वर्णित ज्ञानादि बारह गुण जिस पुरुष के रूप हैं, तथा "श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः" एवं "सत्यं ध्यानम्" इत्यादि दो श्लोकों के द्वारा वर्णन किये गये अन्य गुण जिसके अङ्ग अर्थात् भाग हैं, और उसकी जो शक्ति—स्वधर्मपालन का सामर्थ्य है, वे सब आचार्य का सम्बन्ध होने पर ही सफल होते हैं, आचार्य के सम्बन्ध के बिना उनकी सफलता नहीं होती है। इस विषय में "आचार्य से ही विद्या का ज्ञान होता है", आचार्यवान् पुरुष को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है" ऐसी श्रुतियाँ भी हैं और यह भी सत्य है कि ब्रह्मतत्त्व का सम्बन्ध होने से ब्रह्मचर्य सफल होता है। अर्थात् आचार्य की संनिधि में रहकर जो शिष्य गुरुशुश्रूषादि का आचरण करता है, उस ब्रह्मचर्य की सफलता ब्रह्मतत्त्व का सम्बन्ध होने पर प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्म के साथ अपनी एकता सम्पादन करने अर्थात् अभिन्नता सिद्ध करने पर ब्रह्मचर्य की सफलता होती है ॥३/१४॥

(ब्रह्मचर्य की स्तुति का प्रदर्शन)

शां० भा०—ब्रह्मचर्यस्तुतिं करोति द्वाभ्याम्—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब दो श्लोकों से ब्रह्मचर्य की स्तुति-वन्दन करते हैं—

मू०— एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् ।

ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मचर्येण चाभवन् ।।३/१५।।

अन्वयः—देवाः, एतेन, ब्रह्मचर्येण, देवत्वम्, आप्नुवन्, च, महाभागाः, ऋषयः, ब्रह्मचर्येण, च, अभवन् ॥३/१५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—देवाः=देवगण, एतेन, ब्रह्मचर्येण=पूर्वप्रतिपादितब्रह्मचर्य के द्वारा, देवत्वम्=देवता के पद को, आप्नुवन्=प्राप्त हुए हैं, च=एवम्, ऋषयः=ऋषिगण, ब्रह्मचर्येण च=ब्रह्मचर्य से ही, महाभागाः=सर्वश्रेष्ठपूजनीयता के स्थान पर आरूढ, अभवन्=हुए ।

भावाऽर्थप्रभा—इस पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, अर्थात् सम्पादित ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही, देवताओं ने देवत्वस्वरूप को प्राप्त किये थे, तथा ऋषिगण भी ऋषित्वधर्म की प्राप्ति ब्रह्मचर्य के माध्यम से ही किये थे ॥३/१५॥

मू०- एतेनैव सगन्धर्वा रूपमप्सरसोऽजयन् ।

एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्य अह्नाय जायते ।।३/१६।।

अन्वयः—एतेन, एव, सगन्धर्वाः, अप्सरसः, रूपम्, अजयन्, एतेन, ब्रह्मचर्येण, सूर्यः, अह्नाय, जायते ॥३/१६

अन्वयाऽर्थप्रभा—एतेन, एव=इस ब्रह्मचर्य के सम्पादन से ही, सगन्धर्वाः अप्सरसः=गन्धर्व के सहित अप्सरागण, रूपम्=आकर्षकरूप को, अजयन्=अपने इच्छाऽनुसार ग्रहण करने में योग्य सिद्ध हुए, एतेन=इसी, ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य की महिमा से, सूर्यः अह्नाय जायते=भगवान् सूर्यनारायण, प्रकाशमय दिन के लिए, जायते=योग्यतासम्पन्न हुए हैं ॥३/१६॥

भावाऽर्थप्रभा—इस ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध से ही गन्धर्वों और अप्सराओं को दिव्यरूप की प्राप्ति हो पाई है तथा इसी ब्रह्मचर्य से विभूषित होने के कारण सकल लोक के अन्धकार निवारणाऽर्थ ज्योतिर्मय स्वरूप को निरन्तर धारण किये रहने में भगवान् सूर्यनारायण सर्वथा समर्थ सिद्ध हुए हैं ॥३/१६॥

शां० भा०—एतेनेति । देवा देवत्वमेतेन प्राप्नुवन् । ऋषयोऽपीह ऋषित्वमेतेन प्राप्ताः । सगन्धर्वा गन्धर्वैः सह वर्तमाना रूपमप्सरसोऽजयन्, रूपाणि रमणीयानि एतेन

ब्रह्मचर्येण अजयन्। अह्नो दीप्तिसमूहः, अह्नाय जगतां द्योतनाय सूर्यश्च जायते। उक्तं च—"अह्नो दीप्तिश्च कथ्यते" इति ॥३/१५-१६॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस ब्रह्मचर्य के द्वारा देवताओं ने देवत्व प्राप्त किया था। ऋषिगण भी इसी के प्रभाव से ऋषित्व को प्राप्त हुए। सगन्धर्व अर्थात् गन्धर्वों के सहित अप्सराओं ने इसी की महिमा के कारण रमणीय रूप का लाभ प्राप्त किया था। इसी के कारण सूर्य 'अह्नाय'='अह्न' दीप्तिसमूह कहा जाता है। अतः अह्नाय—जगत् के प्रकाशित होने का कारक होता है। ऐसी उक्ति भी है कि 'अह्न दीप्ति को कहते हैं।'' ॥३/१५-१६॥

शां० भा०—कथमेकस्य ब्रह्मचर्यस्यानेकविधफलसाधकत्वमित्यत आह—

भाष्याऽर्थप्रभा—एक ब्रह्मचर्यमात्र से विभिन्न प्रकार के फलों का साधकत्व किस प्रकार है?, इसके समाधान में कहते हैं—

मू०— आकाङ्क्षार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव।
एवं ह्येतत् समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥३/१७॥

अन्वयः—रसभेदाऽर्थिनाम्, आकांक्षाऽर्थस्य, संयोगात्, इव, हि, एतत्, समाज्ञाय, एवम्, इमे, तादृग्भावम्, गताः ॥३/१७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—रसभेददर्शिनाम्=विभिन्न प्रकार के रसों को चाहने वालों के, आकांक्षाऽर्थस्य=इच्छित वस्तु की, संयोगात्=प्राप्त कराने वाले चिन्तामणि आदि के, इव=सदृश, हि=ही, एतत्=चिन्तामणि स्थानीय इस ब्रह्मचर्यव्रत का, समाज्ञाय=सम्पादन करके, एवम्=(विभिन्न रसार्थियों की इच्छापूर्ति के समान ही) इस प्रकार, इमे=ये देवाऽऽदिगण भी अपनी इच्छा के अनुरूप, तादृग्भावम्=आकांक्षित उसी-उसी पद को, दिव्यस्वरूप को, ऐश्वर्य को, गताः=प्राप्त हुए ॥३/१७॥

भावाऽर्थप्रभा—जिस प्रकार इच्छाऽनुसार वस्तु को प्रदान करने वाले कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि दिव्य शक्ति वाले वस्तुओं के सान्निध्य को पाकर विभिन्न वस्तु को खाने की इच्छा रखने वालों को अपने-अपने वाञ्छित अर्थ की पूर्ति जिस प्रकार अनायास सम्पन्न हुआ करती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत के सम्बन्ध से अपने-अपने अभीष्ट अर्थ को चाहने वाले देव-ऋषि, गन्धर्व-अप्सरा आदि के आन्तरिक इच्छा की पूर्ति हो जाती है। भाव यह है कि जिस-जिस भावना से भावित होकर मनुष्याऽऽदि प्राणियाँ ब्रह्मचर्यव्रत का अनुष्ठान करती हैं, वे पुनः ब्रह्मचर्यसम्बन्ध की महिमा से उन-उन इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति अवश्य किया करते हैं ॥३/१७॥

शां० भा०—आकांक्षेति। यथा चिन्तामण्यादयो रसभेदार्थिनाम् आकाङ्क्षार्थस्य

संयोगात् तत्तदाकाङ्क्षितमर्थं प्रयच्छन्ति, एवमेवैतद् ब्रहमचर्यमाकाङ्क्षार्थस्य संयोगात् तत्तदाकाङ्क्षितमर्थं प्रयच्छतीति ज्ञात्वा तत्तत्फलार्थं ब्रह्मचर्यं चरित्वा तादृग्भावं=तादृशं-भावं गता इमे देवादय: । यस्मादाचार्यसंनिध्यनुष्ठिताद् ब्रह्मचर्यात् परमपुरुषार्थप्राप्तिस्तस्मादाचार्ययोनिं प्रविश्य गर्भो भूत्वा ब्रह्मचर्यं चरेदित्यर्थ: ॥३/१७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस प्रकार रसभेद के इच्छुकों को चिन्तामणि आदि उनके आकाङ्क्षित पदार्थ का संयोग, अर्थात् स्पर्श कराकर उन्हें अभीष्ट पदार्थ प्रदान करते हैं, उसी प्रकार यह ब्रह्मचर्य आकाङ्क्षित अर्थ के संयोग द्वारा उस-उस अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति कराता है—यह जानकर (सभी) देवादि उस-उस प्रकार के फल की प्राप्ति हेतु ब्रह्मचर्य का पालन करके वैसे ही अपने-अपने इच्छित भाव को प्राप्त हुए हैं, क्योंकि आचार्य के सान्निध्य में अनुष्ठान किये गये ब्रह्मचर्य से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, अत: आचार्ययोनि में प्रवेश कर उनके गर्भ होकर ब्रह्मचर्य का नियमपूर्वक आचरण करें—यह इसका तात्पर्य है ॥३/१७॥

(कर्म और ज्ञान के विभिन्न फल का प्रदर्शन)

शां०भा०—नन्वेवं ज्ञाननिष्ठता यदि ज्ञानस्यैव पुरुषार्थत्वं भवेत्; अपितु कर्मेण एवेत्याशङ्क्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—यहाँ आशङ्का उत्पन्न होती है कि ज्ञाननिष्ठा तो तब ही सम्भव हो पाती है जब केवल ज्ञान ही पुरुषार्थ होता, लेकिन पुरुषार्थ का हेतु तो कर्म भी है, यह विचार करके कहते हैं—

मू०—अन्तवन्त: क्षत्रिय ते जयन्ति लोकाञ्जना: कर्मणा निर्मितेन ।

ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं न विद्येति ह्यन्यथा तस्य पन्था: ।।३/१८।।

अन्वय:—क्षत्रिय!, ते, अन्तवन्त:, जयन्ति, स्वाऽऽत्मभूतम् अनन्तम्, न, जयन्ति । विद्वान्, ज्ञानेन, नित्यम्, तेज:, अभ्येति, हि, अन्यथा, पन्था:, न, विद्यते ॥३/१८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—क्षत्रिय!=हे नृप!, ते अन्तवन्त:=विभिन्न प्रकार के अनित्यभूत सांसारिक कामनाओं में फँसे रहने वाले आत्मज्ञान से रहित लोग, अनात्मभूत काम्यमान विनाशशील वस्तुओं को ही, जयन्ति=प्राप्त किया करते हैं । स्वाऽऽत्मभूतम् अनन्तम् न=आत्मतत्त्व को जानने वाला विद्वान् आत्मज्ञान के द्वारा, नित्यं तेज:=नित्यस्वरूप प्रकाशाऽऽत्मा को, अभ्येति=प्राप्त करता है । हि अन्यथा=जिस कारण से आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्राप्तिसाधनीभूत आत्मज्ञान के अलावा दूसरा उस आत्मा को प्राप्त कराने वाला, पन्था:=साधन, न विद्यते=होता ही नहीं है ॥३/१८॥

भावाऽर्थप्रभा—हे राजन्! यज्ञाऽऽदिकर्मों को कामनापूर्ति के उद्देश्य से करने

वाले मनुष्याऽऽदि प्राणियाँ स्वर्गाऽऽदिस्वरूप अनित्यफलों को ही प्राप्त होते हैं, परन्तु ब्रह्मवेत्ता अपने आत्मज्ञान के प्रभाव से स्वप्रकाशस्वरूप परमाऽऽत्मा को अपने आत्मा के रूप में ही प्राप्त किया करता है। भाव यह है कि तत्तत् को चाहने वाले नाशवान् तत्तत् फलों को प्राप्त होकर, एक दिन उन फलों से च्युत होकर दुःखी हो जाते हैं, किन्तु आत्मज्ञानी "अहं ब्रह्माऽस्मि" इस रूप में आत्मसाक्षात्कार कर सदा के लिए दुःखशून्य हो जाते हैं ॥३/१८॥

शां० भा०—अन्तवन्त इति। हे क्षत्रिय! अन्तवन्तः=अन्तवन्तो लोकान्=पितृलोक-देवलोकादीन् ते जयन्ति=प्राप्नुवन्ति नानन्तं स्वात्मभूतं परमात्मानं लोकं जयन्ति। केन तर्ह्यनन्तलोकप्राप्तिरित्याशङ्क्याह—ज्ञानेन विद्वान् तेज अभ्येति नित्यमिति। नित्यमविना-श्यात्मभूतमेवाभ्येति तेजो ज्योतिर्न कर्मणा।

कस्मात् पुनर्ज्ञानेनैवाभ्येति? तत्राह—न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः। तस्य पूर्णा-नन्दज्योतिषो ज्ञानमेकं मुक्त्वान्यः पन्था मार्गो नास्त्येव। श्रूयते च—"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति ॥३/१८॥

भाष्याऽर्थप्रभा—हे क्षत्रिय! वे कर्मपरायण लोग अन्तवान् अर्थात् पितृलोक, देवलोक आदि नाशवान् लोकों में ही जाते हैं, उन्हें अनन्त, अर्थात् स्वआत्मस्वरूप परमात्मलोक की प्राप्ति नहीं होती। तो प्रश्न उठता है कि अनन्त लोक की प्राप्ति किस प्रकार से होती है? इस शङ्का के समाधान में कहते हैं—विद्वान् लोग ज्ञान के द्वारा नित्य तेज को प्राप्त होते हैं, नित्य अविनाशी अर्थात् आत्मभूत तेज, अर्थात् ज्योति को प्राप्त होता है, मात्र ज्ञान के द्वारा, कर्म के द्वारा नहीं।

किन्तु केवल ज्ञान के माध्यम से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा क्यों? इसके उत्तर में स्पष्ट करते हुए कहते हैं—अनन्त लोक की प्राप्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है, अर्थात् उस पूर्णानन्दमय प्रकाश का एक ज्ञान के अतिरिक्त और कोई वैकल्पिक मार्ग नहीं है। श्रुति भी यही कहती है—"उसे ही जानकर, अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त करके, पुरुष मृत्यु से परे चला जाता है, अर्थात् अविनाशी स्वरूप को प्राप्त करता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए इसके अलावा अन्य दूसरा मार्ग नहीं है ॥३/१८॥

(धृतराष्ट्र का ब्रह्मस्वरूपविषयक प्रश्न)

शां० भा०—ज्ञानेन विद्वान् यद् ब्रह्म पश्यति, तत्किमिवाभातीति पृच्छति धृतराष्ट्रः—

भाष्याऽर्थप्रभा—ज्ञान की सहायता से विद्वान् जिस ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वह किसके सदृश प्रतीत होता है, इसके समाधान की इच्छा से धृतराष्ट्र प्रश्न करते हैं—

मू०—धृतराष्ट्र उवाच—

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा ।

यद् ब्राह्मणः पश्यति यत्र विद्वान् कथंरूपं तदमृतमक्षरं परम् ।। ३/ १९।।

अन्वयः—विद्वान्, ब्राह्मण:, यत्र, अमृतम्, अक्षरम्, परम्, पश्यति, तत्, शुक्लम्, लोहितम्, कृष्णम्, काद्रवम्, वा, कथम्, रूपम्, आभाति ॥३/१९॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—धतृराष्ट्र ने पूछा कि—विद्वान् ब्राह्मण:=ब्रह्माऽऽत्मज्ञानी, यत्र=जिस बुद्धि गुफा में, विद्यमान, अमृतम्=अविनाशी, अक्षरम्=निर्विकारस्वरूप, परम्=कार्य-कारण भाव से अतीत हुए अद्वैताऽऽत्मा को, पश्यति=अपनी आत्मा से अभिन्न रूप में देखता है। (वहाँ पर) तत्=वह अद्वैताऽऽत्मा, शुक्लम् इव, लोहितम् इव=अत्यन्त शुक्लरूप वाले के समान है? कि रक्तरूपवाले जैसा है? अथो=अथवा, कृष्णम्=काला है? अर्जुनम्=श्वेतवर्ण है, काद्रवम्=अथवा धुएँ के समान रूप वाला है? कथं रूपम्=इन रूपों में से किस रूप वाले के समान रूपवान् के रूप में, आभाति=प्रतीति का विषय बनता है? ॥३/१९॥

भावाऽर्थप्रभा—धृतराष्ट्र कहते हैं कि—ब्रह्मनिष्ठपुरुष जिस हृदय के गह्वर में आत्मा का साक्षात्कार करता है, वहाँ पर वह ब्रह्म उसे अतिशय सफेद के समान दिखाई देता है, कि रक्तवर्णयुक्त, या श्यामवर्ण, श्वेतवर्ण, धूम्रवर्ण अथवा किस रूप से विशिष्ट होता हुआ दिखाई देता है? वह सर्वोत्कृष्ट अमृतमय, अविनाशी ब्रह्म किन रूपों में दृष्टिविषय बनता है? कृपया इस रहस्य को प्रकाशित किया जाय ॥३/१९॥

शां० भा०—आभातीति ज्ञानेन यद्विद्वान् पश्यति ब्रह्म, तत्किं शुक्लमिव आभाति, कृष्णमिव अर्जुनं काद्रवमिव आभाति। यत्र देशे भाति कथंरूपं तदमृतमक्षरं परं ब्रह्म ॥३/१९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—ज्ञान के द्वारा विद्वान् जिस अविनाशी परब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वह ब्रह्म क्या शुक्लरूप में आभासित होता है? अथवा लौह वर्ण का प्रतीत होता है? या कृष्णवर्ण, अर्जुन (श्वेत) या इसके अतिरिक्त धूम्रवर्ण वाला प्रतीत होता है? वह अमृतमय अविनाशी उत्कृष्ट ब्रह्म जिस देश में रहता है (या आभास होता है), वह किस रूप वाला जान पड़ता है? ॥३/१९॥

(ब्रह्मस्वरूप की विलक्षणता)

शां० भा०—एवं पृष्ट: प्राह भगवान्—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार प्रश्न पूछने पर भगवान् सनत्सुजात ने कहा—

मू०—सनत्सुजात उवाच—

नाभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा ।

न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्ति ।। ३/ २०।।

अन्वयः—सनत्सुजात उवाच—शुक्लम्, इव, लोहितम्, इव, अथो, कृष्णम्, अथ, अर्जुनम्, वा, काद्रवम्, न, आभाति, न, पृथिव्याम्, न, अन्तरिक्षे, तिष्ठति, न एतत्, समुद्रे सलिलम्, बिभर्ति ॥३/२०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात उवाच=सनत्कुमार जी ने कहा—शुक्लम् इव=यह ब्रह्म शुक्लरूप के समान, लोहितम् इव=लाल रूप के सदृश, अथो=अथवा, कृष्णम्=श्यामवर्ण के तुल्य, अथ=या पुनः, अर्जुनम्=मन्दश्वेत रूप के समान, वा=अथवा, काद्रवम्=धूम्र-पीतवर्ण के तुल्य भी, न=नहीं, आभाति=प्रकाशित होता है। न पृथिव्यां न अन्तरिक्षे तिष्ठति=इसी प्रकार वह ब्रह्म न पृथिवी में और न ही अन्तरिक्ष में रहता है। न एतत्=न पुनः इस ब्रह्म को, समुद्रे=समुद्र में, सलिलम्=जल, बिभर्ति=धारण कर सकता है। अथवा समुद्रे=इस संसारसागर में, एतत्=इस परमाऽऽत्मा को, सलिलम्=जल,अर्थात् जलोपलक्षित पञ्चभूताऽऽत्मक शरीर, न बिभर्ति=पोषण या धारण कर पाने में असमर्थ होता है। अथवा समुद्र के जल में रहने वाले रूप के समान रूपवाला ब्रह्म नहीं हो सकता है ॥३/२०॥

भावाऽर्थप्रथा—भगवान् सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र से कहा—हे नृपश्रेष्ठ! वह आत्मस्वरूपप्रकाशाऽऽत्मा न तो सफेद रङ्ग में ही व्यक्त होता है न लाल रङ्ग में, न काले रङ्ग में और न ही धूम्रवर्ण में ही प्रकाशित होता है। ब्रह्म के स्वरूप का आधार न पृथिवी ही है और न वह अन्तरिक्ष में ही प्रकाशित होता है। इसी प्रकार उस ब्रह्म को समुद्र का जल ही धारण कर पाने के लायक होता है ॥३/२०॥

शां० भा०—नेति। नैतद् ब्रह्म शुक्लादिरूपत्वेनावभासते, अरूपत्वाद् ब्रह्मणः। श्रूयते च—"ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्" इति। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इति च। तथा न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे। तथा च श्रुतिरन्यत्रानवस्थानं दर्शयति—"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति।"

भाष्याऽर्थप्रभा—सनत्सुजात जी कहते हैं कि यह ब्रह्म शुक्ल आदि रूपों द्वारा नहीं जाना जाता; क्योंकि ब्रह्म रूपरहित है। इस विषय में "उससे जो आगे है, वह अरूप तथा अनामय है" और "वह शब्दरहित, स्पर्शरहित तथा रूपरहित है" इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं। इसके विषय में और भी कहा जाता है कि वह ब्रह्म न पृथ्वी में स्थित है और न ही आकाश में विद्यमान है। तो भगवन्! वह कहाँ और किसमें स्थित है? इसके उत्तर में कहते हैं—"अपनी महिमा में" यह श्रुति भी उस ब्रह्म की अन्यत्र अनवस्थिति दर्शाती है।

शां० भा०—कस्मात्पुनः कारणात् पृथिव्यादिषु न तिष्ठति? तत्राह—नैतत्समुद्रे सलिलं पञ्चभूतात्मकं देहं बिभर्ति। सलिलशब्दो भूतपञ्चकोपलक्षणार्थः। यथा "अप एव

ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्'' इत्यत्रापि अप्शब्दो भूतपञ्चकोपलक्षणार्थः। श्रूयते च पञ्चाग्निविद्यायाम् ''पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'' इति अपामेव पुरुषशब्दवाच्यत्वम्।

भाष्याऽर्थप्रभा—किन्तु किस कारण से वह पृथिवी आदि में स्थित नहीं है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—यह सागर में भी जल अर्थात् पञ्चभूतात्मक शरीर धारण नहीं करता। यहाँ 'सलिल' शब्द पाँचों भूतों का उपलक्षण कराने हेतु प्रयोग किया गया है; जिस प्रकार ईश्वर ने सर्वप्रथम जल की ही सृष्टि की और उसमें वीर्याधान किया'' इस श्रुति में ''अप् (जल)'' शब्द पाँच भूतों के उपलक्षण के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त ऐसी श्रुति भी है—पञ्चाग्निविद्या के अनुसार ''पञ्चम आहुति में आप (जल) की संज्ञा पुरुष हो जाती है।'' यहाँ जल का ही ''पुरुष'' शब्दवाच्यत्व दिखलाया है।

शां० भा०—एतदुक्तं भवति—यदि ब्रह्मणः संसारान्तर्वर्त्तित्वं भवेत् तदा संसारानु-प्रविष्टत्वाद् घटादिवदीदृग्रूपादिमत्त्वमन्यस्मिंश्चावस्थानं भवेत्। इदं तु पुनरपूर्वादिलक्षणत्वाद् संसाराननु-प्रविष्टमेव ब्रह्म, तस्माद्रूपादिरहितमेव तदिति ॥३/२०॥

भाष्याऽर्थप्रभा—उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट किया गया है कि यदि ब्रह्म की स्थिति संसार के अन्तर्गत हो तो संसार में अनुप्रविष्ट होने के कारण घटादि के समान उसका अमुकरूपादिमत्त्व एवं दूसरे किसी अन्य में अवस्थिति होनी सम्भव है। लेकिन अपूर्वादिरूप होने के कारण यह ब्रह्म उसमें अनुप्रविष्ट है ही नहीं; अतः वह रूप आदि से सर्वथा रहित है ॥३/२०॥

शां० भा०—तर्हि न कस्य कुत्राप्युपलभ्यते इत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब, ब्रह्म के रूपादिरहित होने के कारण उनकी अनुपलब्धता की ओर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं—

मू०— न तारकासु न च विद्युदाश्रितं न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।

न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥३/२१॥

नैवर्क्षु तन्न यजुःषु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।

रथन्तरे वार्हते वापि राजन् महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तत् ॥३/२२॥

अन्वयः—न, तारकासु, च, न, विद्युदाश्रितम्, च, न, अभ्रेषु, अस्य, रूपम्, दृश्यते, च, अपि, न, वायौ, च, न, देवतासु, न, एतत्, चन्द्रे, उत, न, सूर्ये, दृश्यते ॥३/२१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—न=न तो, तारकासु=ताराओं में, न च=और न, विद्युदाश्रितम्=बिजली के आश्रय में, न=एवं न, अभ्रेषु=बादलों में ही, अस्य=इस ब्रह्म का, रूपं-

दृश्यते=स्वरूप देखा जाता है, अपि च=और इसी प्रकार, न वायौ=न वायु में, च=और, न देवतासु=देवताओं में, न एतत्=न यह, चन्द्रे=चन्द्रमा में, उत=या, न सूर्ये=न सूर्य में ही, दृश्यते=दर्शन विषय बनता है ॥३/२१॥

भावाऽर्थप्रभा—यह ब्रह्म न तारों में, न विद्युत् में स्थित है, न मेघों में ही इस ब्रह्म का रूप देखा जाता है। पुनः यह ब्रह्म न वायु में, न देवताओं में, न चन्द्रमा में, और न ही सूर्य में अनुभव विषय बनता है ॥३/२१॥

अन्वयः—राजन्! न, एव, ऋक्षु, न तत्, यजुष्षु, अपि, न, अथर्वसु, वै, न, विमलेषु, सामसु, वा, रथन्तरे, बृहद्रथे, अपि, दृश्यते, तत्, महाव्रतस्य, आत्मनि, दृश्यते ॥३/२२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—राजन्=हे महाराज! न एव ऋक्षु=(वह ब्रह्म) न तो ऋग्मंत्रों में, न तत् यजुष्षु=और न वह यजुर्मन्त्रों में, अपि न अथर्वसु=और न अथर्ववेद के मन्त्रों में, वै=इसी प्रकार, न विमलेषु सामसु=न निर्मल सामवेद के मन्त्रों में, वा=या पुनः, रथन्तरे-बृहद्रथे अपि, दृश्यते=(न) रथन्तर एवं न बृहद्रथ सामगान में भी देखा जाता है। तत्=(किन्तु)वह ब्रह्म, महाव्रतस्य=ब्रह्मचर्याऽऽदिस्वरूपमहाव्रत के अनुष्ठाता, पुरुष के, आत्मनि=आत्मस्वरूप में ही प्रकाशित हुआ करता है ॥३/२२॥

भावाऽर्थप्रभा—यह ब्रह्म न ऋग्वेद में, न यजुर्वेद में, न अथर्ववेद में, न निर्मल सामवेद में, न गाने योग्य रथन्तर एवं वृहद्रथ सामवेदविशेष में ही उपलब्ध हुआ करता है, किन्तु इस ब्रह्म का साक्षात्कार तो पूर्वोक्त ज्ञान-सत्य आदि बारह गुणस्थ रूप महाव्रतों का आचरण करने वाले ब्राह्मण को हुआ करता है ॥३/२२॥

शां०भा०—"ज्ञानं च सत्यं च" इत्युपक्रम्य "महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य" "महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य" इति ये गुणा उक्तास्तत्संयुक्तस्यात्मनि दृश्यते तत्परं ब्रह्म न घटादिवदिदंतया सिध्यति, अपि त्वात्मन्येवात्मतया सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥३/२१-२२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—"ज्ञानं च सत्यं च" यहाँ से आरम्भ करके, "महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य" इस वाक्य तक जिन गुणों का वर्णन किया गया है, उन गुणों से सम्पन्न पुरुष को वह परब्रह्म अपने अन्तःकरण में प्राप्त होता है। वह घटादि के समान इदंरूप से सिद्ध नहीं होता, अपितु स्वयं के अन्तःकरण में आत्मस्वरूप से ही सिद्ध होता है—यह इसका तात्पर्य है ॥३/२१-२२॥

(ब्रह्मसाक्षात्कार का स्वरूप और फल)

शां०भा०—इदानीं तत्स्वरूपं तद्दर्शनं—

तत्फलं च श्लोकद्वये निर्दिशति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब अग्रलिखित दो श्लोकों द्वारा उसके स्वरूप, उसके दर्शन और उसके दर्शन के अनन्तर प्राप्त होने वाले फल का वर्णन किया जा रहा है—

अवारणीयं तमसः परस्तात् तदन्तोऽभ्येति विनाशकाले ।

अणीयरूपं च तथाप्यणीयसां महत्स्वरूपं त्वपि पर्वतेभ्यः ।।३/२३।।

तदेतदह्ना संस्थितं भाति सर्वं तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात् ।

तस्मिन् जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।३/२४।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-सनत्सुजातसंवादे श्रीसनत्सुजातीये तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

अन्वयः—तमसः, परस्तात्, अवारणीयम्, अपि, अन्ततः, विनाशकाले, तत्, अभ्येति, च, तथा, अणीयसाम्, अणीयरूपम्, अपि, तु, पर्वतेभ्यः, महत्स्वरूपम् ॥३/२३॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तमसः=अज्ञानाऽऽत्मक अन्धकार से, परस्तात्=अतीत होने के कारण, अवारणीयम्=इस ब्रह्म का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है । अपि=इसके विपरीत, जगत् के विनाशशाली होने से भी, विनाशकाले=संहारकाल में, तत्=वह काल भी, अभ्येति=उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है । च=और, तथा=उसी प्रकार, अणीयसाम्=अत्यन्तसूक्ष्मों से भी अणीयरूपम्=अतिसूक्ष्म स्वरूप वाला वह ब्रह्म होता है । अपि तु=और इसके विपरीत, पर्वतेभ्यः=पर्वतों से भी, महत्स्वरूपम्=अति विशाल स्वरूपवाला भी ब्रह्म है ॥३/२३॥

भावाऽर्थप्रभा—सत्यज्ञानाऽऽदिस्वरूपमहाव्रत के पालक ब्राह्मण जिसका साक्षात कर मोक्षलाभ प्राप्त करता है वह ब्रह्म अज्ञानाऽन्धकार से अतीत होने के कारण एवं व्यापक होने से सर्वथा देश-काल एवं वस्त्वात्मक तीनों परिच्छेदों से रहित है । सृष्टि के अन्त में जगत् के प्रलयकाल में उपस्थित होने पर भी वह स्थिर रहा करता है । वह सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म एवं हिमालय पर्वत से भी बहुत बड़ा है ॥३/२३॥

अन्वयः—सर्वम्, तत्, एतत्, अह्ना, संस्थितम्, भाति, आत्मवित्, ज्ञानयोगात्, तत्, पश्यति, इदम्, सर्वम्, जगत्, तस्मिन्, प्रतिष्ठितम्, ये, एतत्, विदुः, ते, अमृताः भवन्ति ॥३/२४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—सर्वम्=समस्त, तत्=चर-अचरस्वरूप प्रत्यक्ष, एतत्=दृश्याऽऽत्मकजगत्, अह्ना=प्रकाशरूप से, संस्थितम् भाति=ब्रह्म में विद्यमान होता हुआ भासता है, अर्थात् समस्त जगत् ब्रह्मतादात्म्यापन्न हुआ ब्रह्मरूप से ही प्रकाशित होता है। आत्मवित्=आत्मज्ञानी लोग, ज्ञानयोगात्=आत्मज्ञान के सम्बन्ध से, तत पश्यति=उस

ब्रह्म का प्रात्यक्षिक अनुभव करता है। इदं सर्वम्, जगत्=यह समस्त संसार, तस्मिन्=उसी ब्रह्म में, प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित=आश्रित है। ये एतत् विदुः=जो लोग सर्वाऽऽधार स्वरूप इस ब्रह्म को, जान लेते हैं, ते अमृताः भवन्ति=वे ब्रह्मवेत्ता मुक्त हो जाते हैं ॥३/२४॥

भावाऽर्थप्रभा—उस ब्रह्म में आश्रित हुआ यह समस्त जगत् प्रकाशस्वरूप ब्रह्म से ही प्रकाशित हो रहा है। आत्मज्ञानी लोग आत्मज्ञान के माध्यम से ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार किया करते हैं। यह सम्पूर्णसंसार उसी ब्रह्म में आश्रित है, जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं वे ब्रह्मज्ञानी इस संसार से मुक्त हो जाते हैं ॥३/२४॥

शां० भा०—यदिदं महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तदवारणीयं ब्रह्म सर्वगतत्वात्। तमसोऽज्ञानात् परस्तात् तद्=ब्रह्म अन्ततोऽभ्येति=प्रविशति विनाशकाले=प्रलयकाले, जगदिति शेषः। तथा अणीयसामपि अणीयरूपं पर्वतेभ्योऽपि महत्स्वरूपम्। श्रूयते च—"अणोरणीयान् महतोमहीयान्" इति।

भाष्याऽर्थप्रभा—महाव्रतशील ब्राह्मण को जिसका साक्षात्कार होता है, वह ब्रह्म सर्वगत (एवं व्याप्त) होने के कारण अवारणीय अर्थात् अविच्छिन्न है और तम्-अज्ञान से सर्वथा पृथक् है। प्रलयकाल अर्थात् जगत् के नाश होने के समय में भी वह ब्रह्म स्थित रहता है। यहाँ 'जगत्' पद वाक्य में शेष है। तथा वह अणुओं से भी अणु अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और पर्वतादि से भी महान् है; यह तो श्रुतियाँ भी बतलाती हैं—"वह परब्रह्म अणु से भी अणु एवं महान् से भी महानतम है।" यह बात कहती है।

शां० भा०—दृश्यन्ते च ये अणुत्वमहत्त्वाऽऽदयोलोके तदेतत् सर्वं जगद् अह्ना=अह्नोरूपेण= प्रकाशरूपेण ब्रह्मणि संस्थितम्, तदात्मत्वेनैवाऽवभाति। श्रूयते च—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति, "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च। तद्=ब्रह्म आत्मवित् पश्यति ज्ञानयोगाद् न कर्मयोगेन, तस्मिन्नेव परमाऽऽत्मनि जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितम्। ये एतद् विन्दुरमृतास्ते भवन्ति ॥३/२३-२४॥

॥ इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाऽऽचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद शिष्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ श्रीसनत्सुजातीयभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस लोक में जो अणुत्व एवं महत्त्वाऽऽदिपरिमाणों वाले दृष्टिगोचर होते हैं, अणु एवं महत् परिमाणाऽऽदिकों से समृद्ध जो सम्पूर्ण संसार, वह समस्त संसार अह्ना=दिवसरूप से, अर्थात् प्रकाशस्वरूप से ही ब्रह्म में स्थित है, अर्थात् समस्त जगत् ब्रह्मतादात्म्यरूप से ही प्रतीति विषय हुआ करता है। इस विषय में श्रुति द्वारा भी इस प्रकार कही जाती है—"उस ब्रह्म के प्रकाश से यह सम्पूर्ण चराऽचराऽऽत्मक जगत्,

प्रकाशित हुआ करता है।'' तथा ''जिसके तेज (=प्रकाश) से प्रकाशित हुआ सूर्य जगत् के अन्धकारनाशक प्रकाश को उद्भासित करता है। इत्यादि। उस ब्रह्म को आत्मवेत्ता ज्ञानयोग से ही साक्षात्कार किया करता है, कर्मयोग से नहीं। उसी परमाऽऽत्मा में सम्पूर्ण यह स्थूल-सूक्ष्माऽऽत्मकसंसार सदा आश्रित रहा करता है। जो ब्रह्मज्ञानी उसका साक्षात्कार कर लेते हैं वे ब्रह्मज्ञानी, अविनाशीस्वरूपमोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

।। इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमारसम्बादे श्रीसनत्सुजातीये श्रीपरिव्राजकाऽऽचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य श्रीशङ्करभगवतः कृतस्य श्रीसनत्सुजातीयभाष्यस्य व्याकरणन्यायसांख्ययोगपूर्वोत्तरमीमांसाचार्येण मैथिलपण्डितेन पाठकोपाधिना श्रीचित्तनारायणेन कृतयोः अन्वयाऽर्थप्रभाभावाऽर्थप्रभानामकयोः व्याख्ययोः तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

**

चतुर्थोऽध्यायः

(ब्रह्म के योगिदृश्यरूप का वर्णन)

शां० भा०—"अवारणीयं तमसः परस्तात्" इत्यादिना ब्रह्मणोरूपं निर्धार्य "तदात्मवित् पश्यति ज्ञानयोगात्' इति ज्ञानयोगेनाऽऽत्मदर्शनमुक्तम्। पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयित्वा योगिनस्तद्रूपं पश्यन्तीत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—"अवारणीयं तमसः परस्तात्" पूर्वकथित इत्यादि स्वरूपश्लोक के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का निश्चय करके "तदात्मवित् पश्यति ज्ञानयोगात्" श्लोक घटक इस वाक्य से आत्मज्ञान की उपलब्धिद्वारा आत्मसाक्षात्कार को कहा गया है। पुनः उस ब्रह्म के स्वरूप को प्रदर्शित करके "योगिजन उस ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन करते हैं" इस तथ्य को उद्घाटित करने के लिए आगे का ग्रन्थ कहते हैं—सनत्सुजात उवाच—

मू० — यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीयमानं महद्यशः।

यद् वै देवा उपासते यस्मादर्को विराजते।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४/१।।

अन्वयः—यत्, तत्, शुक्रम्, महज्ज्योतिः, दीप्यमानम्, महद्यशः, वै, देवाः, यद्, उपासते, यस्मात्, अर्कः, विराजते, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ॥४/१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यत्=जो, तत्=वह, शुक्रम्=विशुद्ध अर्थात् विद्या आदि दोषों से रहित, महज्ज्योतिः= महान् प्रकाशस्वरूप, दीप्यमानम्=अतिशयशोभायमान, एवम्, महद्यशः=महान् यश का स्वरूप है, अर्थात् सूर्याऽऽदिरूप से महायशस्वी नाम वाला, वै=पुराणाऽऽदिकों में प्रसिद्ध, देवाः=इन्द्राऽऽदिदेवगण, यत् उपासते=जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं, यस्मात्=जिससे, प्रकाशित हुआ, अर्क=सूर्य जगत् के प्रकाशनाऽर्थ, विराजते=इस जगत् में विराजमान हो रहा है, तं सनातनम्=उस अनादिस्वरूप, भगवन्तम्=परमेश्वर को, योगिनः प्रपश्यन्ति=योगी जन ही साक्षात्कार किया करते हैं।

भावाऽर्थप्रभा—सनत्सुजात जी ने धृतराष्ट्र से ब्रह्म के स्वरूप और उसके प्राप्त करने के अधिकारी को इस प्रकार कहा—जो विशुद्ध महान् ज्योतिस्वरूप देदीप्यमान महान् यशस्वरूप है, देवगण जिसकी उपासना किया करते हैं, तथा जिसके द्वारा सूर्य शोभायमान है, उस अनादिस्वरूपपरमेश्वर को योगिजन ही सम्प्रज्ञात एवम् असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा साक्षात्कार किया करते हैं ॥४/१॥

शां० भा०—यत्तदिति । यद्ब्रह्मवित् पश्यतिज्ञानयोगात्, यज्ज्ञात्वा अमृता भवन्ति, तच्छुक्रम्=शुद्धम्=अविद्याऽऽदिदोषरहितम्, महज्ज्योति:सर्वाऽवभासकत्वात् । श्रूयते च—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति । दीप्यमानम्=भ्राजमानं महद्यशः । श्रूयते च—"तस्य नाम महद्यशः" इति । यद् वै=ब्रह्म, देवा:=इन्द्राऽऽदय उपासते । श्रूयते च—"यद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपांसतेऽमृतम्" इति । यस्मात्=परज्योतिषो ब्रह्मणोऽर्कः= आदित्यो विराजते "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति श्रुतेः । एवंभूतं परमाऽऽत्मानं भगवन्तं सनातनं योगिन एव (प्र-)पश्यन्ति, न पुनर्ज्ञानयोगरहिताः ॥४/१॥

भाष्याऽर्थप्रभा—ब्रह्मज्ञानी जन ज्ञानयोग के माध्यम से जिसको जानकर (जिसका साक्षात्कार करके) मोक्षाऽऽत्मक अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, सर्व जागतिक वस्तु का प्रकाशक होने के कारण वह ब्रह्म शुक्र=शुद्ध=अर्थात् अविद्या आदि दोषों से रहित महान् ज्योति है । श्रुति द्वारा यहाँ यह सुना जाता है—"उसी ब्रह्म के प्रकाश से यह समस्त आविद्यक जगत् प्रकाशित होता है ।" इत्यादि । एवं जो ब्रह्म दीप्यमान अर्थात् प्रकाशमान महद्यश (महान् यशस्वी) के नाम से विख्यात है । इस विषय में श्रुति कहती है कि—"तस्य नाम महद्यशः"—अर्थात् "उसका नाम महद्यश है ।" इति । एवं जिस ब्रह्म की इन्द्राऽऽदि समस्त देवतागण उपासना किया करते हैं, जैसा कि श्रुति से ज्ञात होता है—"तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ।"=अर्थात् "उस ब्रह्म को देवतागण ज्योतियों के ज्योति, आयु एवम् अमृतरूप से उपासना किया करते हैं" इति । जिस परमज्योतिस्वरूप ब्रह्म के रूप में सूर्यनारायण आदि इस संसार में विराजमान हैं । इस विषय में श्रुतिवाक्य इस प्रकार उपलब्ध होता है—जिसके तेज से प्रज्वलित होकर इस संसार में सूर्य प्रकाशित होता है ।" इति । इस प्रकार के परमाऽऽत्मा श्रीभगवान् को योगीजन ही ज्ञानयोग द्वारा साक्षात् कर पाते हैं, किन्तु जो श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा परिशोधित अद्वैताऽऽत्मज्ञान को प्राप्त कर पाए हैं वे परब्रह्म परमेश्वर को नहीं देख पाते हैं ॥४/१॥

(आगे के श्लोक में ब्रह्म के सर्वकारणत्व, एवं स्वयं प्रकाशत्वस्वरूप का वर्णन किया जा रहा है)

शां० भा०—इदानीं परस्मादेव ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाऽऽद्युत्पत्तिं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब आगे के श्लोक से, परब्रह्म से ही हिरण्यगर्भ आदि की उत्पत्ति होती है इसको दिखलाते हैं—

मू०— शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते ।

तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम् ।।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/२।।

अन्वयः—शुक्रात्, ब्रह्मा, प्रभवति, ब्रह्म, शुक्रेण, वर्द्धते, तच्छुक्रम्, ज्योतिषाम्, मध्ये, अतप्तम्, तापनम्, तपति, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ।।४/२।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—शुक्रात्=रागाऽऽदिदोषों से शून्य ब्रह्म से, ब्रह्म=हिरण्यगर्भाऽऽख्य ब्रह्माजी, प्रभवति=उत्पन्न हुआ करते हैं। ब्रह्म=हिरण्यगर्भनामक उत्पन्न हुआ वह ब्रह्माजी पुनः, शुक्रेण=शुद्धब्रह्म के तेज से, वर्द्धते=क्रमशः बढ़ता हुआ विराट रूप में परिणत हो जाता है। तच्छुक्रम्=वह शुद्ध ब्रह्म, ज्योतिषां मध्ये=प्रकाशों के अन्दर में स्थित होता हुआ, अतप्तम्=स्वयं न तपकर, तापनम्=जगत के तापक सूर्यादिकों को, तपति=तापाऽऽत्मक प्रकाश से प्रकाशित किया करता है, तं सनातनम्=उस सनातन= अनादिअनन्तस्वरूप, भगवन्तम्=भगवान को, योगिनः=योगी जन ही, प्रपश्यन्ति=अपने आत्मस्वरूप में साक्षात्कार कर पाते हैं ।।४/२।।

भावाऽर्थप्रभा—उस शुद्ध ब्रह्म से कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। पुनः शुद्ध ब्रह्म से ही उस उत्पन्न ब्रह्म की विराट्रूप में वृद्धि हुआ करती है आदित्य, चन्द्र, आदि ज्योतिर्गणों के मध्य उन सभी प्रकाशक तत्त्वों से अप्रकाशित एवं उन सभी सूर्याऽऽदिप्रकाशक तत्त्वों को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता हुआ जो स्वप्रकाशाऽऽत्म स्वरूप है। इस प्रकार जो अन्यों से अप्रकाशित हुआ और समस्त प्रकाशकों का भी प्रकाशक है, स्वयंप्रकाशस्वरूप उस अविनाशी भगवान् का योगीजन ही दर्शन कर पाने में समर्थ हुआ करते हैं ।।४/२।।

शां० भा०—शुक्रादिति। शुक्रात्=शुद्धात् पूर्वोक्ताद् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाऽऽख्यं ब्रह्म प्रभवति=उत्पद्यते। अथोत्पन्नं ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते विराडात्मना। तच्छुक्रं=ब्रह्म, ज्योतिषाम्= आदित्यानां मध्ये तैरतप्तम्=अप्रकाशितम् सत् तपति=स्वयमेव प्रकाशते, तेषामपि तापनम्=प्रकाशकम्, योऽन्याऽनवभास्यः सर्वाऽवभाषकः स्वयमेवाऽवभासते तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/२।।

भाष्याऽर्थप्रभा—शुक्र अर्थात् पूर्वोक्त शुद्ध ब्रह्म से हिरण्यगर्भनामक कार्यब्रह्म की उत्पत्ति हुआ करती है। पुनः उत्पन्न हुआ वह कार्यब्रह्म शुद्धब्रह्म के द्वारा ही विराट्पुरुष के रूप में वृद्धि को प्राप्त होता है। वह शुक्र अर्थात् शुद्ध ब्रह्म सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि जगद् अवभासकों के मध्य में, उन सूर्य-अग्नि आदि जगदवभासकों से अतप्त=अप्रकाशित होते हुए भी स्वयं तपते रहते हैं=प्रकाशित होते हैं, तथा उन जगद् अवभासक सूर्याऽऽदिज्योतियों के भी, तापन=प्रकाशक होते हैं। इस प्रकार जो अन्य प्रकाशकों से प्रकाशित होने के योग्य न होते हुए भी, सभी प्रकाशकों को प्रकाशकत्वसामर्थ्य प्रदान करने वाले हैं, वे ब्रह्म स्वयं ही प्रकाशवान् हैं, उस भगवान् का योगीजन ही दर्शन कर पाते हैं ।।४/२।।

(शुद्धब्रह्म, कारणब्रह्म, एवं कार्यब्रह्म की एकता का वर्णन)

शां० भा०—इदानीं पूर्णवाक्याऽर्थं कथयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अग्रिम ग्रन्थ से 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्...'' इत्यादि स्वरूपमन्त्राऽऽत्मक वाक्य के अर्थ को प्रकाशित करते हैं—

मू०— पूर्णात् पूर्णमुद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णं प्रचक्षते।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णं च पूर्णे नैवाऽवशिष्यते॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥४/३॥

अन्वयः—(सनातनम्, भगवन्तम्,) पूर्णात्, पूर्णम्, उद्धरन्ति, पूर्णात्, पूर्णम्, प्रचक्षते, पूर्णात् पूर्णं च हरन्ति, पूर्णेन, एव, अवशिष्यते, तम्, भगवन्तम्, सनातनम्, योगिनः प्रपश्यन्ति।

अन्वयाऽर्थप्रभा—पूर्णात्=देशकृत, कालकृत, एवं वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य परमाऽऽत्मा से, पूर्णम्=चित्प्रतिबिम्बभूत जीवाऽऽत्मा को ही, उद्धरति=प्राणाऽऽदिस्वरूप-उपाधिदर्पण पृथक् किया करते हैं। पूर्णात्=जिस कारण पूर्ण से जीवाऽऽत्मरूप में पृथक् किये गये, पूर्णम्=प्रत्यक्षरूप से अनुभव विषय बने इस जीवस्वरूप को भी पूर्ण ही विद्वान् जन, प्रचक्षते=कहा करते हैं। पूर्णात्=भ्रम से शरीरेन्द्रियतादात्म्याऽऽपन्न हुए जीवरूप में अवस्थित से, पूर्णम्=शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों में अनुप्रविष्ट हुए आत्मस्वरूपमात्र को, हरन्ति=शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों से विवेकज्ञान द्वारा शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों के साक्षीस्वरूप में विद्यमान आत्मतत्त्व को शरीराऽऽदिकों से पृथक् करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप पृथक् हुआ वह आत्मा, पूर्णेन एव अवशिष्यते=पूर्णाऽऽनन्दस्वरूप ब्रह्म से अभिन्न हुआ ही अवस्थित होता है। उस तम्=उस पूर्णस्वरूप, सनातनं भगवन्तम्=अविनाशी परमाऽऽत्मा का, योगिनः=ज्ञानयोगी जन ही, प्रपश्यन्ति=साक्षात्कार कर पाने में सफल होते हैं॥४/३॥

भावाऽर्थप्रभा—परमाऽऽत्मा से जीवस्वरूप में स्थित उस पूर्णस्वरूप को शरीराऽऽदि उपाधियाँ पृथक् किया करते हैं। पूर्ण से पृथक् होने के कारण विद्वान् गण इनको भी पूर्ण कहा करते हैं। शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों में तादात्म्यभाव से स्थित हुए सोपाधिक उस जीवाऽऽत्मस्वरूप से आत्म-अनात्मविज्ञानद्वारा उपाधिविनिर्मुक्तरूप से उस आत्मा का ग्रहणाऽऽत्मक निश्चय कर लिये जाने पर उपाधिविनिर्मुक्तरूपनिर्धारित वह आत्मा सच्चिदानन्द अद्वितीयरूप में ही अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार के पूर्णस्वरूप परमाऽऽत्मा का योगी लोग ही साक्षात्कार किया करते हैं॥४/३॥

शां० भा०—पूर्णादिति। पूर्णाद्=देशतः कालतो वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नात् परमाऽऽत्मनः

पूर्णमेवोद्धरन्ति जीवरूपेण। यत्पूर्णात् पूर्णमुद्धृतं जीवाऽऽत्मना, अतः पूर्णादेव समुद्धृतत्त्वादिदमपि जीवस्वरूपं पूर्णमेव प्रचक्षते विद्वांसः। तथा हरन्ति पूर्णाद् जीवाऽऽत्मनाऽवस्थितात् पूर्णमात्मस्वरूपमात्रं देहेन्द्रियाऽऽद्यनुप्रविष्टं देहेन्द्रियाऽऽदिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वाऽन्तरं देहद्वयादुद्धरन्तीत्यर्थः। ततः उद्धृतेनैव मूलभूतेन पूर्णानन्देनाऽवशिष्यते, तेनैव पूर्णाऽऽनन्देन ब्रह्मणा संयुज्यते। चिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मनाऽवतिष्ठत इत्यर्थः।

"पूर्णमेवाऽवशिष्यते" इति वा पाठः। यदा देहेन्द्रियाऽऽदिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वाऽन्तरं देहद्वयादुद्धरन्ति, तदा पूर्णमेवाऽवशिष्यत इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते॥'

अस्याऽयमर्थः—पूर्णमदः=तच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं ब्रह्म। पूर्णमिदम्=त्वच्छब्दनिर्दिष्टं प्रत्यगात्मस्वरूपम्। अनयोस्तत्त्वं पदार्थयोः कथं पूर्णत्वमिति चेत्! तत्राऽऽह—पूर्णाद्=अनवच्छिन्नात् पूर्णमेवोदच्यते=उद्रिच्यते जीवरूपेण यस्मात् तस्मादनयोः पूर्णत्वमित्यर्थः। पूर्णस्य=तत्त्वमात्मनाऽवस्थितस्य पूर्णरूपमादाय=तत्त्वंपदार्थयोः शोधनं कृत्वा शोधितपदार्थः सन्। पूर्णमेव ब्रह्म अवशिष्यते=पूर्णमेव ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। यः पूर्णस्वरूपस्तं परमाऽऽत्मानं योगिन एव पश्यन्ति॥४/३॥

भाष्याऽर्थप्रभा—पूर्ण से, अर्थात् देश, काल एवं वस्तु से अपरिच्छिन्न (=अपरिमित) जो परमाऽऽत्मा है, उस परमाऽऽत्मा से जीव के रूप में दर्पणस्थानीय प्राणाऽऽदिस्वरूप उपाधियाँ पूर्णस्वरूपपरमेश्वर को ही पृथक् किया करते हैं। क्योंकि पूर्णस्वरूपनिर्गुणब्रह्म से जीवाऽऽत्मस्वरूप में पूर्णाऽऽत्मा को ही पृथक् किया जाता है। इसलिए पूर्णस्वरूप से उपाधिद्वारा पृथक् होने के कारण विद्वान् लोग जीव के रूप में इस उद्धृतस्वरूप को ही पूर्ण कहते हैं। इसी प्रकार जीवाऽऽत्मस्वरूप में स्थित इस पूर्ण से आत्मस्वरूपमात्र पूर्ण को पृथक् करते हैं। इसका भाव यह है कि—शरीर एवं इन्द्रियाऽऽदिकों में अनुप्रविष्ट हुए शरीराऽऽदिकों के साक्षी को जो शरीराऽऽदिकों की अपेक्षा सबसे भीतर में स्थित है उसको, आत्म-अनात्मविवेकज्ञान के माध्यम से शरीर एवम् इन्द्रियाऽऽदिकों से पृथक् रूप में निश्चय करके इन्द्रियों के आश्रयीभूत स्थूल एवं सूक्ष्म नाम से ख्यात इन दोनों शरीरों से भी विवेकद्वारा उस पूर्णात्मा को पृथक् योगी जन कर लेते हैं। इस प्रकार अनादिअज्ञानप्रयुक्त उपाधि द्वारा पूर्णाऽऽनन्दस्वरूप से पृथक् हुए, जीवाऽऽत्मस्वरूप इस पूर्णाऽऽत्मा को योगीजन जब अपनी अमलप्रज्ञा से स्थूलशरीर, एवं कारणशरीररूप उपाधियों से पृथक् (अलग) किये हुए होने की स्थिति में, अपने मूलभूत पूर्णाऽऽनन्दरूप से ही संयुक्त हो जाता है (पूर्णाऽऽनन्दरूप में अभिव्यक्त स्वरूप हो जाता है।) अर्थात् योगी सत्-चित्-आनन्द एवम् अद्वितीय ब्रह्मरूप से अवस्थित हो जाता है।

अथवा, "पूर्णेनैवाऽवशिष्यते' के स्थान पर "पूर्णमेवाऽवशिष्यते" ऐसा पाठ होना श्रुतिसम्मत होने के कारण उचित ज्ञात होता है। तदनुसार उसके अर्थ का स्वरूप होगा—योगीजन जिस समय शरीर एवं इन्द्रियाऽऽदिकों से अलग करके शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों के साक्षी स्वरूप सर्वाऽन्तर्यामी आत्मा को, स्थूल-सूक्ष्म इन दोनों शरीरों से विलक्षणरूप में निश्चय कर लेते हैं, उस अवस्था में उपाधिविनिर्मुक्त होने के कारण वह आत्मवस्तु पूर्णरूप में ही अवशिष्ट हुआ करता है। इस विषय को प्रकाशित करने वाली श्रुति भी इसी प्रकार की उपलब्ध होती है। तथा हि—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूणमिवाऽवशिष्यते।"

इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—पूर्णम् अदः=तत् शब्द का वाच्य जगत् का कारणस्वरूप ब्रह्म, (एवम्) पूर्णम् इदम्=त्वं शब्द से निर्दिष्ट प्रत्यगात्मस्वरूप (कार्यस्वरूप) ब्रह्म भी पूर्ण है। यदि यहाँ पर प्रश्न हो कि तत् और त्वं पद के वाच्यों की पूर्णता किस प्रकार से सिद्ध हो सकती है? तो इसका समाधान श्रुति के "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" इस अंश से किया गया है। तदनुसार अर्थ होगा—पूर्णाद्=जीवाऽऽत्मा एवम् ईश्वर के रूप में अनवच्छिन्न (अपरिमित) स्वरूप ब्रह्म से, पूर्ण ही पृथक् किया जाता है, इसीलिए जीव, एवम् ईश्वर की ही पूर्णता है। इस पूर्ण, अर्थात् तत् एवं त्वं रूप से स्थित जीव एवम् ईश्वर इन दोनों के पूर्ण को, अर्थात् स्वरूप को पृथक् करके=तत् एवं त्वं पदार्थों का शोधन कर, अर्थात् उपाधिविनिर्मुक्त दशा में शुद्धता की स्थिति होने पर, पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रूप में विद्यमान होता है। अर्थात् जीव-ईश इन दोनों के अपने-अपने उपाधियों से विनिर्मुक्त होने की अवस्था में, वे दोनों पूर्ण ब्रह्म ही हो जाते हैं। यह जो ब्रह्म का पूर्णस्वरूप है, उस परमाऽऽत्मस्वरूप का योगीजन ही दर्शन कर पाते हैं ॥४/३॥

मू०—यथाऽऽकाशेऽवकाशोऽस्ति गङ्गायां वीचयो यथा।

(ब्रह्म का सर्वाऽऽश्रयत्व)

तद्वच्चराऽचरं सर्वं ब्रह्मण्युत्पद्य लीयते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥४/४॥

अन्वयः—यथा, आकाशे, अवकाशः, अस्ति, यथा, गङ्गायाम्, वीचयः, तद्वत्, सर्वम्, चराऽचरम्, ब्रह्मणि, उत्पद्य, लीयते, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ॥४/४॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यथा आकाशे अवकाशः अस्ति=जिस प्रकार से आकाश में अवकाश=विकास प्राप्त कराने की योग्यता रहती है। एवं यथा गङ्गायां वीचयः (अस्ति)=जिस

प्रकार से गङ्गा जी आदि नदियों में तरङ्गे=लहरें हुआ करती हैं, तद्वत्=उसी प्रकार, सर्वं चराऽचरम्=समस्त जड़ चेतनाऽऽत्मक यह संसार ब्रह्मणि=ब्रह्म में, उत्पद्य=उत्पन्न हो-होकर, लीयते=पुनः उसी ब्रह्म में लीन हो जाया करता है । तं सनातनं भगवन्तम्=उन नित्यभूत परमेश्वर का, योगिनः प्रपश्यन्ति=योगीजन ही साक्षात् किया करते हैं ॥४/४॥

भावाऽर्थप्रभा—जिस प्रकार आकाश में समस्त जागतिक वस्तुओं को विकास प्रदान करने की योग्यता है, एवं गङ्गाजी में लहरें उठा करती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराऽचर जगत् ब्रह्म में उत्पन्न होकर, ब्रह्म में ही स्वरूपस्थिति का अनुभव करते कराते हुए अन्त में उसी आत्मवस्तु में लीन हो जाया करता है । उस सनातन परमाऽऽत्मा का ज्ञानयोग के द्वारा केवल योगीजन ही स्वाऽऽत्मस्वरूप में साक्षात् करते हैं ॥४/४॥

शां० भा०—स्पष्टोऽर्थः श्लोकः ।

भाष्याऽर्थप्रभा—श्लोक का अर्थ सुस्पष्ट होने के कारण इस पर भाष्य व्याख्यान प्रस्तुत नहीं किया गया ॥४/४॥

(जीव और ब्रह्म की सहस्थिति का वर्णन)

शां० भा०—इदानीं "द्वा सुपर्णावि"ति मन्त्राऽर्थ कथयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस समय "द्वा सुपर्णा" इस मन्त्र के अर्थ को प्रकाशित किया जा रहा है—

मू० — आपोऽथाऽद्भ्यः सलिलं तस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियाऽतेऽन्तरिक्षे ।
आदध्रीचीः सविषूचीर्वसानावुभौ विभर्त्ति पृथिवीं दिवं च ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/५।।

अन्वयः—(अस्मात्) आपः, अथ, अद्भ्यः, सलिलम्, तस्य, अन्तरिक्षे, उभौ, शिश्रियाते, आदध्रीचीः, सविषूचीः, वसानौ, उभौ, पृथिवीम्, च, दिवम्, य विभर्ति, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः प्रपश्यन्ति ॥४/५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—(अस्मात्=उस परमाऽऽत्मा से) आपः=जल उत्पन्न हुआ, यहाँ पर आपः (अप्) शब्द उपलक्षणविधया पाँचों भूतों का बोधक है तथा यह सूक्ष्म सृष्टि के अर्थ में है । अथ=और, अद्भ्यः=प्रथमसृष्ट आकाशाऽऽदि पञ्चतन्मात्रास्वरूप सूक्ष्मसृष्टि से, सलिलम्= स्थूलजलाऽऽदि पाँचों भूत उत्पन्न हुए, अर्थात् सूक्ष्मजलाऽऽदि पञ्चतन्मात्राओं से पृथिव्याऽऽदिस्थूलसमष्टि-व्यष्टिस्वरूप शरीर की उत्पत्ति हुई । तस्य=हिरण्यगर्भाऽऽ-ख्यकार्य ब्रह्म के स्थूलशरीररूप में परिणति को प्राप्त हुए सलिलपदवाच्यसूक्ष्मपञ्चमहाभूतों के, अन्तरिक्षे=मध्यहृदयाऽऽकाश में, उभौ=जीवाऽऽत्मा और परमाऽऽत्मा ये दोनों,

देवौ=देवता, शिश्रियाते=निवास करते हैं। तथा, विषूच्य:=उपदिशाएँ कहलाती हैं। सविषूची:=उन उपदिशाओं के सहित, आदध्रीची:=समस्त दिशाओं को, वसानौ=आच्छादित करते हुए, उभौ=जीवाऽऽत्मा तथा परमाऽऽत्मस्वरूप ये दोनों ही देव, पृथिवीं दिवं च= पृथिवीलोक तथा देवलोक का, बिभर्ति=धारण पोषण किया करते हैं। तं सनातनं भगवन्तम्=उस विशुद्ध आत्मस्वरूप, अनादि ब्रह्म का, योगिन: प्रपश्यन्ति=सम्प्रज्ञात एवम् असम्प्रज्ञातयोग को सम्पादन करने वाले ही साक्षात् कर पाने में समर्थ होते हैं ।।४/५।।

भावाऽर्थप्रभा—उस शुद्ध ब्रह्म से सर्वप्रथम अप्पदोपलक्षित आकाशाऽऽदि पञ्चसूक्ष्म तन्मात्राएँ प्रकट हुईं पुन: उस जलाऽऽदि पञ्चतन्मात्रस्वरूप सूक्ष्मसृष्टि से जलाऽऽदिस्थूल पञ्चमहाभूताऽऽत्मक कार्य ब्रह्म के शरीररूप में उत्पन्न हुआ। उस शरीर के मध्य आकाश में उपदिशाओं के सहित दिशाओं को आच्छादित करते हुए, निर्गुण ब्रह्म के प्रतिबिम्बभूत जीवाऽऽत्मा और ईश्वर ये दोनों देव वहाँ पर प्रकट होकर पृथिवी लोक और देवलोक का पोषण किया करते हैं। उस अनादिस्वरूप कारण ब्रह्म का योगीजन ही दर्शन कर पाते हैं ।।४/५।।

शां० भा०—आप इति। अस्मात् परमाऽऽत्मन आप: प्रथमं सृष्टा:। तथा चाऽऽह मनु:—"आप एव सर्जाऽऽदौ" इति। भूतपञ्चकोपलक्षणाऽर्थोऽप्छब्द:। अनेन सूक्ष्म सृष्टिरभिहिता। अथ=अनन्तरम्, अद्भ्य:=पूर्वसृष्टाभ्य: सलिलम्= भूतपञ्चकाऽऽत्मकं स्थूलदेहाऽऽदिकं सृष्टम्। तस्य=सलिलस्य देहाऽऽत्मनाऽमनाऽवस्थितस्य मध्येऽन्तरिक्षे= हृदयाऽऽकाशे उभौ=जीवपरमाऽऽत्मनौ, देवौ=द्योतनस्वभावौ, शिश्रियाते=वर्तेते। न केवलमन्तरिक्षे एव शिश्रियाते आदध्रीची: सविषूचीर्वसानौ आभिमुख्येन ध्रियमाणा वा स्थिता वा अञ्चन्तीत्यादध्रीच्य=दिश:, विषूच्य:=उपदिशो विष्वग् गमनात्, ताभि: सह वर्त्तन्त इति सविषूच्य:=प्राच्याद्या: सर्वा दिश:, वसानौ=आच्छादयन्तौ उभौ बिभर्त्ति पृथिवीं दिवञ्च। एको जीव आत्मन: स्वाभाविकचित्सदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मत्वमनवगम्य अनात्मनि=देहादौ आत्मभावमापन्न: पृथिवीं भूतभौतिकलक्षणं कर्मफलाऽनुरूपं सुखदु:खा-ऽऽत्मकं देहाऽऽदिकं बिभर्ति। अपरो दिवं द्योतनाऽऽत्मकं स्वाऽऽत्मरूपं बिभर्ति।

श्रूयते च—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इति। य: स्वाऽऽत्ममायया स्वाऽऽत्मानं प्राणाऽऽद्यनन्तभेदं कृत्वाऽन्तरमनुप्रविश्य अभिपश्यन्नास्ते तं भगवन्तं योगिन एव प्रपश्यन्ति ।।४/५।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस परमाऽऽत्मा से सर्वप्रथम "आप:" अर्थात् जल तन्मात्राओं की (=सूक्ष्म जल तन्मात्रा से उपलक्षित आकाशाऽऽदि पञ्चतन्मात्राओं की सूक्ष्म) सृष्टि हुई। भगवान् मनु जी ने भी इस विषय में कहा है कि—"सर्वप्रथम ब्रह्माऽऽत्मा ने (सूक्ष्म) जल की ही रचना की" मूल एवं मनु ग्रन्थ में निर्दिष्ट "अप्" शब्द उपलक्षणविधि से

(स्वबोधकत्वे सति स्वेतराऽर्थबोधकत्वम्=उपलक्षणत्वम् । अर्थात् जहाँ शब्द परिस्थितिवश अपने अर्थ को जनाते हुए अपने अर्थ से भिन्न अर्थ को भी जनाता हो वहाँ पर स्वाऽर्थ-पराऽर्थबोधन के कारण शब्द को उपलक्षणाऽऽत्मक माना जाता है ।) पञ्चभूताऽऽत्मक अर्थ का बोधक है । मूलग्रन्थ में उपलक्षण के रूप में ''अप्'' शब्द का प्रयोग किये जाने से, अथवा मूल में प्रयुक्त अप् शब्द से सूक्ष्मसृष्टि कही गयी है । अथ=पुनः सूक्ष्मसृष्टि के अनन्तर, अद्भ्यः=पूर्व में सृजित सूक्ष्म आकाशाऽऽदि स्वरूपपञ्चतन्मात्राओं से, सलिलम्=पञ्चभूताऽऽत्मक स्थूलशरीर आदि सृष्ट हुए । तस्य=विराट् ब्रह्म के शरीर-रूप में स्थित सलिलपदार्थ से उपलक्षित स्थूलपञ्चमहाभूतों एवं व्यष्टिजगत् के रूप में स्थित भौतिक शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों के मध्य में विद्यमान, अन्तरिक्षे=हृदयाऽऽकाश में, उभौ=जीवाऽऽत्मा एवं परमाऽऽत्मा ये दोनों, देवौ=प्रकाशशील देव, शिश्रियाते=आश्रित होकर रहा करते हैं ।

यहाँ पर यह समझना चाहिए कि—अप् और सलिल शब्द यद्यपि जल के पर्याय-वाची के रूप में प्रसिद्ध हैं, तथाऽपि यहाँ पर अप् शब्द जलोपलक्षित सूक्ष्म आकाशाऽऽदि पञ्चतन्मात्रा पञ्चमहाभूत अर्थ का, एवं सलिल शब्द सूक्ष्मपञ्च महाभूतों के कार्यस्वरूप स्थूलपञ्चभूतों, एवं उससे निर्मित जीवशरीराऽऽदि कार्यमात्र अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं ।

वे जीवाऽऽत्मा एवं परमेश्वर केवल हृदयाऽऽकाश में ही शरीराऽऽदिकों के पोषणाऽर्थ वहाँ पर नहीं रहा करते हैं किन्तु विषूचियों (=उपदिशाओं) के सहित आदध्रीचियों (=दशों दिशाओं) को भी आच्छादित किये हुए रहते हैं । (दिशाऽर्थक, एवम् उपदिशाऽर्थक ''आदध्रीची'' एवं ''विषूची'' शब्द का निर्वचनाऽऽत्मक व्याख्यान किया जा रहा है—) (आ=)आभिमुख्येन ध्रियमाणा वा, स्थिता वा अञ्चन्ति इति=आदध्रीच्यः=दिशः'' अर्थात् जो सब ओर ध्रियमाण हो, उपस्थित हो, अथवा जो सब ओर अवस्थित हुआ प्राप्त हो वह दिशा पर्याय 'आदध्रीची' शब्द से कहा जाता है । तथा सब ओर गमन करने के कारण विषूची यह उपदिशाओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । विषूची=उपदिशाओं के सहित जो रहते हैं, उन्हें सविषूच्यः=अर्थात् उपदिशाओं के सहित रहने वाले पूर्वाऽऽदिदिशाएँ कहते हैं । इस प्रकार उपदिशाओं के सहित पूर्वाऽऽदि समस्त दिशाओं को (द्वितीया वहुवचनान्त में ''आदध्रीची'' एवं उसके विशेषणीभूत ''सविषूचीः'' शब्द का प्रयोग प्रकृत में हुआ है ।) आच्छादित करते हुए वे दोनों देव पृथिवी एव द्युलोक (देवलोक) का पोषण करते हैं । उन दोनों देवों में से एक जीव तो अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्दाऽद्वितीय ब्रह्माऽऽत्मभाव को न अनुभव कर पाने के कारण शरीरेन्द्रियाऽऽदिस्वरूप अनात्म वस्तुओं में भ्रम से आत्मस्वरूपता का अनुभव करता हुआ पृथिवी का, अर्थात् भूत-भौतिकाऽऽत्मक कर्मफल के अनुरूप सुखदुःखस्वरूप भूतभौतिकाऽऽत्मक शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों

का पोषण किया करता है।

इस विषय में श्रुति भी कहती है—''दो युगलपक्षी साथ-साथ एक ही वृक्ष का अवलम्बन करके स्थित रहते हैं। उनमें से एक जीवस्वरूप पक्षी तो कर्मफल के रूप में प्राप्त स्वादिष्ट कर्मफलाऽऽत्मक पिप्पल का भक्षण करता रहता है, तथा दूसरा परमेश्वर कर्मफल के रूप में उपस्थित सुख-दु:खाऽऽदि साधनों को बिना भोग किये ही प्रकाशित हुआ करता है, अर्थात् कर्मफलों को न भोगता हुआ केवल देखता रहता है।'' इस प्रकार जो अपनी माया से अपने को प्राणाऽऽदि अनन्तभेदों वाला करके अन्त:करण के भीतर प्रविष्ट होकर, साक्षीरूप से देखता हुआ, अवस्थित रहता है, उस भगवान् का योगीजन ही दर्शन कर पाते हैं ।।४/५।।

(ज्ञानी के स्वाऽऽत्मस्थिति का वर्णन)

शां० भा०—इदानीं ज्ञानिन: स्वाऽऽत्मन्यवस्थानं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस समय आत्मज्ञानी के अपने आत्मा में रहने की स्थिति को प्रकट करते हैं—

मू०— चक्रे रथस्य तिष्ठन्तं ध्रुवस्याऽव्यय कर्मण: ।

केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि ।।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/६।।

अन्वय:—ध्रुवस्य, अव्ययकर्मण:, रथस्य, चक्रे, तिष्ठन्तम्, तम्, दिव्यम्, अजरम्, केतुमन्तम्, अश्वा:, दिवी, वहन्ति, तम्, भगवन्तम्, योगिन:, प्रपश्यन्ति ।।४/६।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—ध्रुवस्य=नित्य, अव्ययकर्मण:=स्थिरकर्म वाले, रथस्य=शरीररूपी रथ के, चक्रे=चक्र के समान चलाने वाले पूर्वजन्माऽर्जित कर्म के रहने पर, तदनुसार ही, तिष्ठन्तम्=अवस्थित रहने वाले, तम्=उस, दिव्यम्=दिव्य, अजर=वृद्धाऽवस्थाऽऽदि-जन्य विकारों से रहित, केतुमन्तम्=ध्वजाचिह्नवाले ब्रह्मवेत्ता को, अश्वा:=उनके इन्द्रियगण, दिवि=ब्रह्मलोक में, वहन्ति=पहुँचा देते हैं। तं सनातनम्=उस अविनाशी, भगवन्तम्=परमेश्वर का, योगिन:=योगी लोग ही, प्रपश्यन्ति=साक्षात्कार कर पाते हैं ।।४/६।।

शां० भा०—चक्र इति। ध्रुवस्याव्ययकर्मण: परमेश्वरस्य चेश्वरात्मनाऽवस्थितस्य रथस्य शरीरस्य त्रैलोक्यात्मनाऽवस्थितस्य चक्रे संक्रमणात्मके देहे तिष्ठन्तं केतुमंतं प्रज्ञावन्तम् अत एव दिव्यम् अप्राकृतं अजरं=जरामरणादिधर्मविवर्जितम्, दिवि द्योतनात्मके अनुदिता-नस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थिते पूर्णानन्दे ब्रह्मणि वहंत्यश्वा: इन्द्रियाणि। एतदुक्तं भवति—यद्यपीन्द्रियाणि स्वभावतो विषयेष्वेव वर्तन्ते, तथापि विज्ञानसारथिना समाकृष्यमाणानि केतुमन्तं पुरुषं दिवि वहन्ति न पराग्विषय इति। तदुक्तं कठवल्लीषु—''आत्मानं रथिनं

विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धि तु सारथिविद्धिमनः प्रग्रहमेव । इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'' इत्यादिना । यत्र परमात्मनि वहन्ति तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/६।।

भाष्याऽर्थप्रभा—ईश्वर के रूप में विद्यमान हुए नित्य एवं अमोघफलजनककर्मों को करने वाले परमेश्वर के तीनों लोकों के रूप में स्थित शरीराऽऽत्मक रथ के चक्र में= निरन्तर क्रिया करने वाले शरीर में, तिष्ठन्तं केतुमन्तम्=प्रकृष्टज्ञानवाला, अत एव दिव्य=प्राकृतिक वस्तु से सर्वथा विलक्षण एवं जरा-मरण आदि विकारों से रहित पुरुष को, उनके घोड़े अर्थात् इन्द्रियाँ द्युलोक में=प्रकाशशील देवलोक में, अर्थात् उदय एवम् अस्त से शून्य ज्ञानस्वरूप में स्थित पूर्णाऽऽनन्दस्वरूप परब्रह्म में ले जाते हैं ।

एतदुक्तं भवति...

इन ग्रन्थों के द्वारा यह बात कही गयी है कि—यद्यपि स्वाभाविकरूप से इन्द्रियाँ विषयों में ही प्रवृत्त हुआ करती हैं,तथाऽपि विज्ञानरूपी सारथि के द्वारा पूर्णरूप से (सर्वभाव से) आकर्षित होती हुई इन्द्रियाँ आत्मप्रज्ञासम्पन्न पुरुष को द्युलोक में ही ले जाती हैं । संसारसम्बन्धकारक विषयों में नहीं जाया करती हैं । इसी रहस्य को कठोपनिषद् की वल्लियों में भी—"आत्मा को रथी जानो, तथा शरीर को रथरूप में ही समझो, एवं बुद्धि को सारथि और मन को लगाम समझो । इन्द्रियों को शरीररूपी रथ के घोड़े बतलाए गये हैं, विषय उनके जानने योग्य प्रदेश कहे जाते हैं । एवम् आत्मा, इन्द्रिय तथा मन से युक्त पुरुष को ''भोक्ता'' मनीषिगण कहते हैं ।'' इत्यादिरूप से प्रकाशित किया गया है । वे इन्द्रियाँ तप के प्रभाव से इस आत्मस्वरूप पुरुष को जिस परमाऽऽत्मा में ले जाते हैं, उस सनातन परमेश्वर का योगीजन ही साक्षात्कार कर पाते हैं ।।४/६।।

(ब्रह्म की दुर्दर्शता एवं ब्रह्मदर्शन से अमरत्व की प्राप्ति का वर्णन)

शां० भा०—नाऽनेन सदृशं किञ्चिद् विद्यत इत्याह—

इस परमेश्वर के समान दूसरा कुछ भी नहीं है, इस विषय को यहाँ पर प्रकट करते हैं—

मू०— न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
न मनीषयाऽथो मनसा हृदा च स एनं विदुरनमृतास्ते भवन्ति ।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/७।।

अन्वयः—अस्य, रूपम्, सादृश्ये, न, तिष्ठति, कश्चित्, एनम्, चक्षुषा, न, पश्यति, अथः, ये मनीषया, मनसा, च, हृदा, एनम्, विदुः, ते, अमृताः, भवन्ति, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ।।४/७।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—अस्य=इस परमेश्वर का, रूपम्=रूप, सादृश्ये=किसी की समानता में, न तिष्ठति=ज्ञात नहीं होता है। कश्चिद्=कोई, एनम्=इस अद्वैतस्वरूप आत्मवस्तु को, चक्षुषा=आँख से, न पश्यति=नहीं देख सकता है। अथ:=परन्तु इसके विपरीत, ये=जो इसकी प्राप्ति के इच्छुक साधकपुरुष, मनीषया=दिव्यतासम्पन्न बुद्धि के माध्यम से, मनसा=संसारविषयकराग-द्वेषाऽऽदिमलों से रहित हुए मन से, च=और, हृदा=नैरन्तरिक भावना की प्रगाढ़ता से, एनम्=इस ब्रह्म को, विदु:=जान लेने में सफल होते हैं, ते=वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष, अमृता: भवन्ति=अविनाशी नित्यनिर्विकारस्वरूप आनन्दाऽऽत्मा के रूप में परिणत हो जाते हैं। तम्=उस, सनातनं भगवन्तम्=अनादिनिर्विकारस्वरूप-परमेश्वर का, योगिन: प्रपश्यन्ति=योगी जन ही साक्षात्कार कर पाते हैं ।।४/७।।

भावाऽर्थप्रभा—इस परमेश्वर के स्वरूप के समान किसी भी सांसारिक वस्तु का स्वरूप नहीं है कि जिससे उपमा देकर उसका ज्ञान किया वा कराया जाय। न परमेश्वर रूपवान् ही हैं कि नेत्र का विषय बन सकें, इसी प्रकार यह तत्त्व किसी भी बाह्य इन्द्रियों का विषय बनने के योग्य नहीं हैं। तथाऽपि जो साधक मुमुक्षुगण उनको कुशलबुद्धि से, निर्मल मन से, तथा धारणा, ध्यान, समाधि के द्वारा जान लेने में सफल हो जाते हैं, वे पुरुष पुन: नित्यभूत मोक्षस्वरूप हो जाते हैं। उस अनादिस्वरूप परमेश्वर का प्रत्यक्ष योगीजन ही करने में समर्थ हुआ करते हैं ।।४/७।।

शां० भा०—अस्य=परमाऽऽत्मनो रूपं न सादृश्ये तिष्ठति, नाऽन्येन सादृश्ये वर्त्तते, नाऽनेन सदृशं किञ्चिद्विद्यते इत्यर्थ:।

श्रूयते च—न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश:'' इति। अत एवोपमाद्यविषयत्वम्। तथा न च चक्षुषा पश्यति कश्चिदप्येनं सर्वाऽन्तरं परमाऽऽत्मानम्।

कथं तर्हि पश्यन्ति? मनीषया=अध्यवसायाऽऽत्मिकयाबुद्ध्या। मनसा=संकल्प-विकल्पाऽऽत्मकेन। हृदा च=हृदयेन च साधनभूतेन। हृदयं विना नाऽन्यत्र परमाऽऽत्मन उपलब्धि: सम्भवतीति मत्वा हृदा चेत्युक्तम्। अथवा न केवलं मनोबुद्धिमात्रेण, अपि तु हृदा=हृदयस्थेन च परमेश्वरेणाऽनुगृहीता: सन्तो य एनं परमाऽऽत्मानं विदु:= अयमहमस्मीति ते अमृता:=अमरधर्माणो भवन्ति।

अथवा हृदा=हृदयेन परमाऽऽत्मना। तथा च हृत्स्थे परमाऽऽत्मनि हृदयशब्दं निर्वक्ति—''स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्हृदयमिति अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति'' इति। तथा च तदधीनानामात्मसिद्धिं दर्शयति श्रुति:—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महाऽऽत्मन: ।।इति।।

एवं यं विदित्वा अमृता भवन्ति, तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/७।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस परमाऽऽत्मा का रूप किसी की समानता में सिद्ध नहीं हो पाता है। वह परमेश्वर किसी दूसरे की समानता में नहीं है। इसका भाव यह है कि इसके समान संसार में और किसी का रूप नहीं है। इस विषय में श्रुति भी कहती है—जिसका नाम "महद्यश" है उस परमाऽऽत्मा की समानता में कोई वस्तु नहीं है।" अत: यह परमाऽऽत्मा उपमाऽऽदिकों का अविषय सिद्ध होता है। तथा सर्वाऽन्तर स्वरूप इस परमाऽऽत्मा को कोई भी सांसारिक बुद्धिवाला मनुष्य नेत्र से नहीं देख सकता है।

प्रश्न—तो पुन: उसको किस प्रकार देखने वाले देखते हैं? **(उत्तर)**—मनीषया= निश्चयाऽऽत्मिका बुद्धि से, मनसा=संकल्पविकल्पाऽऽत्मक मन से, हृदा च=और उसकी उपलब्धि के साधनीभूत हृदय से। हृदय के बिना अन्य स्थलों में परमाऽऽत्मा की उपलब्धि सम्भव नहीं, ऐसा विचार कर मूल में कहा गया "हृदा च" अथवा केवल मन और बुद्धि मात्र से ही परमाऽऽत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हुआ करती है, किन्तु हृदा= हृदय में स्थित परमाऽऽत्मा के अनुग्रह से अनुगृहीत हुआ इस परमाऽऽत्मा को जो "यह परमाऽऽत्मा मैं ही हूँ" इस प्रकार से जान लेते हैं वे, अमृता:=अमरणधर्मा= निर्विकार एवम्=आनन्दाऽऽत्मक परमेश्वर के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

अथवा हृदा=हृदयस्वरूप परमाऽऽत्मा से। इस प्रकार हृदयस्थित परमाऽऽत्मा के अर्थ में श्रुति हृदय शब्द की व्याख्या इस प्रकार व्यक्त करती है—वह यह आत्मवस्तु हृदय में विद्यमान है, उसका "हृदययम्" यह बोधक शब्द सिद्ध होता है। इसी कारण से उस परमेश्वर को "हृद्ययम्" इस प्रकार कहते हैं। "हृद्ययम्' इस रहस्य को जानने वाला प्रतिदिन अर्थात् नित्यप्रति स्वर्गलोक को प्राप्त करता है (नित्य समाधिसम्पन्न हुआ परमाऽऽनन्द में मग्न हुआ रहता है)" तथा इसके अधीन ही श्रुति अपनी सिद्धि दिखलाती है—जिसकी परमेश्वर में अतिशयभक्ति है, एवं जिस प्रकार से परमेश्वर में भक्ति है उसी प्रकार सद्गुरु जी में भी अपूर्व भक्ति है, उस महाऽऽत्मा के प्रति ही उपर्युक्त परमेश्वर से सम्बन्धित गूढ रहस्यभूत अर्थ प्रकाशित हुआ करते हैं। इस प्रकार से जिस परमाऽऽत्मा को जानकर मुमुक्षुजन मोक्षलाभ किया करते हैं, उस परमाऽऽत्मा का योगीजन ही दर्शन कर पाते हैं, अन्य नहीं ।।४/७।।

(अब सांसारिक विषय में प्रवृत्ति अनर्थ प्राप्ति का हेतु है, इसका वर्णन किया जा रहा है)

शां० भा०—इदानीमिन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिरनर्थाय भवतीत्याह—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस समय इन्द्रियों की सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति संसार प्राप्ति-

स्वरूप अनर्थ के लिए ही होती है, इसको कहते हैं—

मू० — द्वादशपूगाः सरितो देवरक्षिता मध्वीशते ।
तदनुविधायिनस्तदा संचरन्ति घोरम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/८।।

अन्वयः—द्वादशपूगाः, सरितः, देवरक्षिताः, मधु, ईशते, तत्, अनुविधायिनः, तदा, घोरम्, संचरन्ति, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ।।४/८।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—द्वादशपूगाः=बारह प्रकार के इन्द्रियों का समुदाय, सरितः= संसरणशील नदियाँ, देवरक्षिताः=परमेश्वर से अनुपालित हुई, मधु=मधु के समान अपने प्रिय विषय को, ईशते=अनुभव किया करती हैं । एवम्, तत्=उस विषयाऽनुभव के, अनुविधायिनः=अनुगमन करने वाले जो पुरुष हैं, वे, तदा घोरम्=विषयाऽनुभवों के अनुधावन करने वाले विषयाऽऽसक्त, वे मनुष्य पुनः घोर दुःखमयसंसार में, संचरन्ति=डूबते उगते हुए, तत्तद् योनियों में पराधीन होकर खींचे जाते हैं । परन्तु विवेकशील जो हैं वे, योगिनः=योगी लोग पुनः, तं सनातनं भगवन्तम्=विषयों के सम्बन्ध द्वारा दुःखमय संसार से छुड़ाने वाले उस अविनाशी परमेश्वर का ही, प्रपश्यन्ति=साक्षात्कार सम्पन्न करके नित्याऽऽनन्दलक्षण मोक्षलाभ किया करते हैं ।।४/८।।

शां० भा०—द्वादशेति । ये द्वादशपूगाः=कर्मज्ञानेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, द्वादशी बुद्धिः, तेषाममनेकपुरुषाऽपेक्षयैकैकस्य पूगत्वमुच्यते । सरितः=सरणशीलाः । देवरक्षिताः= देवेन=परमाऽऽत्मना रक्षिताः । मधुवद् विषयं मधु ईशते=नियमयन्ति, असाङ्कर्येण स्वं-स्वं विषयमनुभवन्तीत्यर्थः । यदैवमनुभवन्ति, तदा तदनुविधायिनः=विषयपराः सञ्चरन्ति घोरम्=संसारम् । तस्मादिन्द्रियाणि विषयेभ्य उपसंहृत्य स्वाऽऽत्मन्येव वशं नयेदित्यर्थः । येन रक्षिता मध्वीशते तं देवं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/८।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो बारह संख्या वाले इन्द्रियों का समूह है उस समूह के अन्तर्गत क्रमशः—पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियाँ, पुनः पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बारहवीं बुद्धि आती हैं । इन इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रियाँ अनेक भोक्तपुरुषों से सम्बद्ध हैं इस कारण प्रत्येक इन्द्रियों को समूह कहा गया है । वे इन्द्रियाँ पुनः, सरितः=गतिशील एवं देवरक्षिताः= देव अर्थात् परमेश्वर से रक्षित हैं और मध्वीशते=मधु का ईशन अर्थात् मधु के समान रुचिकर अपने-अपने विषयों का नियमन करने वाले, भाव यह है कि वे इन्द्रियाँ परस्पर असांकर्यदशा का परित्याग करके, अपने-अपने विषयों को अनुभव किया करती हैं । जब वे इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को पृथक्-पृथक् रूप में अनुभव किया करती हैं, उस अवस्था में उन विषयसम्बद्ध इन्द्रियों का अनुवर्त्तन करते हुए, अर्थात्

विषयपरायण होकर प्राणी घोर संसार को प्राप्त होते हैं। अत: विषयों से इन्द्रियों को अलग करके, उन इन्द्रियों को आत्माऽभिमुख करना चाहिए। ऐसा उपर्युक्त ग्रन्थ का गूढ़ अभिप्राय सिद्ध होता है। जिस देव से रक्षित हुई इन्द्रियाँ मधु के समान विषयों का अनुभव किया करती हैं, तथा उनके पीछे-पीछे जाकर प्राणी घोर दु:ख में पड़ते हैं, उन सर्वनियामक ब्रह्म का योगी लोग ही प्रत्यक्ष किया करते हैं ।।४/८।।

शां० भा० —किञ्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तत्राऽभिधानम्—

भाष्याऽर्थप्रभा—अब पूर्वोक्त विषय में ही दृष्टान्त (उदाहरण) और दार्ष्टन्त= उस उदाहरण के आधार पर वस्तुसिद्धि का कथन किया जा रहा है—

मू०— तदर्धमासं पिबति सञ्चितं भ्रमरो मधु ।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत् ।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/९।।

अन्वयः—भ्रमर:, अर्द्धमासम्, सञ्चितम्, तत्, मधु, पिबति, ईशान:, सर्वभूतेषु, हविर्भूतम्, अकल्पयत्, योगिन:, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, प्रपश्यन्ति ।।४/९।।

अन्वयाऽर्थप्रभा— भ्रमर:=मधुकर के समान नानायोनियों में कर्मफलभोगाऽर्थ भ्रमणशीलप्राणी, अर्द्धमासम्=पूर्वजन्माऽर्जित, सञ्चितं तत्= भ्रमर के समान पूर्व जन्म में संगृहीत पुण्य-पापाऽऽख्य कर्मजनितफल को, पिबति=भोगता है। क्योंकि, ईशान:=कर्मफल-संयोजकपरमेश्वर, सर्वभूतेषु=समस्त प्राणियों के कर्मभोग्य फलों को, हविर्भूतम्=भोग करने योग्य वस्तु में, अकल्पयत्=बनाते रहते हैं। योगिन:=योगीजन, तं सनातनं भगवन्तम्= जीवकर्मफलप्रदाता उस अविनाशी ब्रह्म को, प्रपश्यन्ति=देखा करते हैं ।।४/९।।

शां० भा० —यथा मधुकरो भ्रमरोऽर्द्धमासोपार्जितं मधु अर्धमासं पिबति एवमसावपि भ्रमरो भ्रमणशीलत्वात्संसारी तद्विषयं मधु अर्द्धमाससंचितमर्द्धमासं पिबति। पूर्वजन्मसंचितं कर्म अन्यस्मिन् जन्मनि भुङ्क्ते इति यावत्।

भवेदप्यैहिकफलात्कर्मण: फलसिद्धि: कर्मानन्तरभावित्वात्; कथं पुनरामुष्मिक-फलात्कर्मण: फलसिद्धि: स्यात्, कर्मणो विनाशित्वादित्याशङ्क्याह—ईशान इति। भवेदयं दोष:, यदि केवलात्कर्मण: फलसिद्धि: स्यात्, ईशान: परमेश्वर: कृतप्रयत्नापेक्ष: सन् सर्वेषु प्राणेषु प्राणाग्निहोत्रस्येतरस्य च तत्कर्मानुसारेण हविर्भूतमन्नादिकमकल्पयन्। य: ईशान: सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयन्तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/९।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस प्रकार से मधुकर=भ्रमर आधे महीने में सञ्चित किये मधु को महीने के उत्तरार्द्ध में (महीने के उत्तराऽर्द्धभाग के १५ पन्द्रह दिनों में) पीता है, उसी

प्रकार जीवरूपी भ्रमर (=अनन्तयोनियों में भ्रमण करते रहने वाला प्राणी) अर्थात् भ्रमणशील होने के कारण संसार में रहने वाला जीव भी अपने पूर्वकृत कर्म से उपार्जित पुण्य-पाप के परिणामभूत कर्मफल के रूप में उपलब्ध सुख-दु:खसाधनीभूतवस्तु को आगे के जन्म में भोगता रहता है। अक्षराऽर्थतो भ्रमणशील होने के कारण भ्रमरस्वरूपप्राणी भी अपने पूर्वकर्म से सम्बद्ध आधे मास तक संचित किये गये मधु को आधे मास तक पीता रहता है। अर्थात् पूर्वजन्म में अर्जित कर्मों को (कर्मजनित फलों को) दूसरे जन्म में आकर भोगा करता है। यह 'तदर्धमासं पिबति संचितं भ्रमरो मधु।'' इस मूल ग्रन्थ का स्फुट अभिप्राय व्यक्त होता है।

शङ्का—जब इस लोक में ही मिलने वाले फलों के उत्पादक कर्मों से (इसी शरीर से भोगने योग्य कर्मफलों की) सिद्धि (उत्पत्ति) भी हो सकती है, क्योंकि ऐहिक कर्मफल कर्म करने के उत्तरकाल में ही उत्पन्न हुआ करती है। इसके विपरीत जिन कर्मों के फलों का भोग परलोक (दूसरे जन्म के शरीर) में करना है, उन कर्मों से फल की उत्पत्ति होना किस प्रकार सम्भव है? क्योंकि कर्मों के क्षणिक होने से (एक क्षण रहने के बाद ही विनाश स्वभाव होने से) उत्तर जन्म में उन कर्मों की सत्ता स्वयम् ही नहीं रह सकती है और कार्य-कारण का स्वरूप वहाँ निर्धारित होता है, जहाँ पर अन्वयव्यतिरेक प्रमाणाऽनुसार कारण एवं कार्याऽधिकरण एक काल एवं एक देश हो, इसके विपरीत यदि कारणों और कार्यों का भिन्न-भिन्न देश और काल हो, तो उन दोनों में कार्य-कारण भाव की सिद्धि ही न बन पाएगी। प्रकृत में कर्म के समान काल और समान देश में कर्मफल का होना तो सम्भव है, किन्तु यदि जन्माऽन्तर भावी कर्मफल को स्वीकार करेंगे तो पुन: उसका कारण कार्य के काल में उपलब्ध न होने से एकक्षण स्थायी अथवा कुछ काल तक रहने वाला कर्म हो ही नहीं सकता, कालभेद से कदाचित् घुणाऽक्षरन्याय से एकदेश में स्थिति बन भी जाय, तथाऽपि कालभेद के कारण, उन दोनों में कार्य-कारण भाव का हो पाना सम्भव नहीं और जब कार्य-कारण भाव की स्थिति ही उन दोनों में नहीं बन पाती है, तो पुन: पूर्वजन्म में सम्पादित कर्मों का फल (कार्य) जन्माऽन्तर में कैसे उपलब्ध हो सकते हैं?

इसके समाधानाऽर्थ मूल ग्रन्थ में कहा गया है—''ईशान: सर्वभूतेषु अविर्भूतमकल्पयत्'' इसका भाव यह है कि—यदि फल की सिद्धि केवल कर्म से ही होती, तो उपर्युक्त दोष का होना सम्भव था, किन्तु ईशान=परमेश्वर ने जीव के किये हुए प्रयत्न की अपेक्षा से समस्त प्राणियों में प्राणाऽग्निहोत्र तथा अन्य कर्मों के लिए, कृतकर्म के अनुसार उसके हवि:स्वरूप अन्नाऽदिकों की व्यवस्था करते हैं। जिस परमेश्वर ने सम्पूर्ण जीवों के लिए हविर्भूत अन्नाऽऽदिकों की व्यवस्था की है, उस भगवान् का योगीजन ही दर्शन कर पाते

हैं ॥४/९॥

भावाऽर्थप्रभा—जिस प्रकार भ्रमर=भौंरा आधे मास में सञ्चित किये गये मधु को शेष उत्तर के आधे मास में पीता रहता है, उसी प्रकार नाना योनियों के शरीर में भ्रमणशील जीवरूपी भ्रमर अर्धमास में सञ्चित किये हुए अपने मधु को (पूर्वजन्म में अर्जित अपने कर्मों के फलों को) उत्तरकाल के आधेमास में (उत्तर जन्म के शरीराऽऽदिकों को प्राप्त कर) भोगता है। क्योंकि परमाऽऽत्मा ने सकल भूतों में उनके हविर्भूत अन्नाऽऽदिकों के भोग की व्यवस्था कर दी है। इस प्रकार के सनातन परमेश्वर को योगीजन ही देख पाते हैं, सर्वसाधारण जन नहीं ॥४/९॥

शां०भा०—किञ्च किमेते मध्वाशिनो बम्भ्रम्यमाणाः परिवर्त्तन्त एव सर्वदा, किम्वा ज्ञानं लब्ध्वा मुक्ता भवन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस विषय में एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि—क्या जो ये भ्रमणशील मधु के भोक्ता हैं (पूर्वजन्माऽर्जित कर्मों के फलों को भोगने वाले हैं वे सर्वकाल में घूमते ही रहते हैं? अर्थात् घूमने से उसे कभी विश्राम नहीं मिलता है? या पुनः आत्मज्ञान प्राप्त करके अमर हो जाते हैं? इस प्रकार की आशङ्का होने पर उसके समाधानाऽर्थ आगे का ग्रन्थ कहते हैं—

मू०— हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपत्य ह्यपक्षकाः ।
तत्र ते पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथासुखम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/१०।।

अन्वयः—अपक्षकाः, हिरण्यपर्णम्, अश्वत्थम्, अभिपत्य, हि, तत्रैव, पक्षिणः, भूत्वा, यथासुखम्, प्रपतन्ति, योगिनः, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, प्रपश्यन्ति ।

अन्वयाऽर्थप्रभा—अपक्षकाः=आत्मज्ञानरूपी पंख से विहीन, किन्तु आत्म-कल्याण को चाहने वाले मानव, हिरण्यपर्णम्=सोने के समान चमकने वाले पत्तों से युक्त, अश्वत्थम्=वेदों से सम्बन्ध रखने वाले पीपल वृक्ष के समान, ब्राह्मणाऽऽदिशरीरों को, अभिपत्य=ग्रहण करके (प्राप्त करके) हि=निश्चित रूप से, तत्रैव=वेदविहित कार्यों के पालन करने योग्य उसी ब्राह्मणाऽऽदिशरीरों में, पक्षिणः=ज्ञान-वैराग्यस्वरूप दो पंखों से युक्त, भूत्वा=होता हुआ, यथासुखम्=अपने अभीष्ट मोक्षाऽऽत्मक सुख में, प्रपतन्ति=लीन हो जाते हैं। योगिनस्तं सनातनं भगवन्तम् प्रपश्यन्ति=योगीजन उसी अविनाशी परमेश्वर को ज्ञान द्वारा प्राप्त होते हैं ॥४/१०॥

भावाऽर्थप्रभा—ज्ञानवैराग्यस्वरूप पक्षद्वय से विहीन हुए अज्ञानीजन सकामभाव से कर्मों का सम्पादन करते हुए इस राग-द्वेषाऽऽविष्ट संसारचक्र में आवृत्त हुआ करते

हैं किन्तु इसके विपरीत जब देवाऽनुग्रहवश पूर्वजन्मीय पुण्य के कारण भ्रमणशील जीव में मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह सोने के समान चमकीले पत्तों वाले वेदों से संयुक्त ब्राह्मणाऽऽदि मोक्षोपयोगी शरीर को प्राप्त कर, वहाँ ज्ञान-वैराग्यरूपी दो पक्षों से युक्त होकर, अपने अभ्यास के बल पर अपने अभीष्ट मोक्षसुखाऽऽत्मक अविनाशी स्वरूप में लीन हो जाते हैं। योगीजन ही उस अविनाशी सुखस्वरूपपरमेश्वर का साक्षात्कार कर पाने में सफल हुआ करते हैं, अन्य नहीं ।।४/१०।।

शां० भा०—हिरण्यपर्णमिति । ये अपक्षकाः=ज्ञानपक्षरहिताः, मध्वाशिनः परिवर्त्तन्ते, ते हिरण्यगर्भमश्वत्थम्=हितं च रमणीयं चेति हिरण्यं हितं रमणीयं च पर्णं यस्य अश्वत्थस्य । तथा चाऽऽह भगवान् वासुदेवः—"छन्दांसि यस्य पर्णानि" इति । हिरण्यवर्णमश्वत्थमभिपत्य= आरुह्य=वेदसंयोगिब्राह्मणाऽऽदिदेहं प्राप्येत्यर्थः । तत्रैव=ब्राह्मणाऽऽदिदेहे पक्षिणः=ज्ञानिनो भूत्वा । तथा च **ब्राह्मणम्**—ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो ये अविद्वांसस्ते अपक्षाः, इति । प्रपतन्ति यथासुखम्=प्रयत्नं कृत्वा मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । यं ज्ञात्वा प्रपतन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/१०।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो मनुष्य अपक्षक, अर्थात् ज्ञानस्वरूपपक्ष से रहित हुए मधुभोगीजन संसारचक्र में घूमते रहते हैं, वे हिरण्यपर्णमय अश्वत्थ को, जो हित तथा रमणीय है, वह हिरण्य कहलाता है अर्थात् जिस अश्वत्थ वृक्ष के हितकारी और सुन्दर पर्ण हैं(=पत्ते हैं) जैसा कि गीता में भगवान् वासुदेव कहते हैं—"जिस वृक्ष के पत्ते वेद हैं।" इस प्रकार वे आत्मज्ञानी लोग हिरण्य (स्वर्ण के समान) विशुद्ध प्राणियों के हिताऽऽवह वेदरूपी पत्तों के सम्बन्धी जो अश्वत्थ (पीपल वृक्ष) के समान ब्राह्मणाऽऽदिकों के शरीर को प्राप्त करके, तत्रैव=उन ब्राह्मणाऽऽदिकों के शरीर में ही कोई मनुष्य पक्षिणः=आत्मज्ञानी होकर । पक्षी ज्ञानी को कहते हैं, इसको प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हैं—ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो ये अविद्वांसस्ते अपक्षाः=जो विद्वान् हैं वे ही पक्षी हैं, एवम् जो अविद्वान् जन हैं वे पक्षरहित हैं । इति । यथासुखम्=सुखपूर्वक, उड़ते रहते हैं, अर्थात् आत्मज्ञानी जन, आत्मविषयक श्रवण-मनन और नैरन्तरिक् अभ्यासाऽऽत्मक प्रयत्न से मुक्त हो जाते हैं । जिस परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करके वे ज्ञानीजन मोक्ष के निमित्त प्रयासरत होते हैं उस परमाऽऽत्मा का योगीजन ही दर्शन कर पाते हैं ।।४/१०।।

(योगनिरूपणप्रकरण)

शां० भा०—इदानीं योगं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस समय योग का दिग्दर्शन कराने के लिए अग्रिम ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हैं—

मू०— अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।

आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/ ११।।

अन्वयः—प्राणः, अपानम्, गिरति, चन्द्रमाः, प्राणम्, गिरति, आदित्यः, चन्द्रम्, गिरते, परः, आदित्यम्, गिरते, तम्, सनातनम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ।।४/ ११।।

अन्वयाऽर्थप्रभा— प्राणः=प्राणवायु, अपानम्=अपानवायु को, गिरति=अपने में उपसंहार (लीन) कर लेता है । चन्द्रमाः=चन्द्रमारूपी मन, प्राणम्=प्राण को अर्थात् समस्त इन्द्रियों के सहित प्राण वायु को, गिरति=अपने में लीन कर लेता है । आदित्यः= आदित्यस्वरूप बुद्धि, चन्द्रम्=चन्द्रदेवता वाला मन को, गिरति=अपने में उपसंहार कर लेती है । एवम्, परः=बुद्धि से परे परमेश्वर, आदित्यम्=आदित्यस्वरूप बुद्धि को, गिरति=अपने में लीन कर लेता है । तम्=बुद्धि के साक्षी उस, सनातनं भगवन्तम्= अनादिस्वरूप परमेश्वर को, योगिनः=योगी जन ही, प्रपश्यन्ति=देख पाते हैं, सभी नहीं ।।४/ ११।।

भावाऽर्थप्रभा—अपान वायु को प्राणवायु अपने में लीन कर लेता है । प्राण को चन्द्रमा=मन अपने में लीन कर लेता है, चन्द्रमा को सूर्य=बुद्धि अपने में लीन किया करता है और सूर्य (बुद्धि) परः पदवाच्य परमेश्वर में उपसंहार को प्राप्त होता है । उस सनातन परमेश्वर का योगीजन ही साक्षात्कार कर पाने में समर्थ हुआ करते हैं ।।४/ ११।।

शां० भा०—अपानमिति । अपानं गिरति प्राणः । प्राणं गिरति चन्द्रमाः=मन उपसंहरति । मनसश्चन्द्रमा अधिदैवतम्, तस्माच्चन्द्रमश्शब्देन मन उच्यते । तं चन्द्र मन आदित्यो=बुद्धिर्गिरते, बुद्धेश्चाऽधिदैवतमादित्यः । तमादित्यं=बुद्धिं गिरते परः=परंब्रह्म । एतदुक्तं भवति—समाधिवेलायामपानं प्राणे उपसंहृत्य प्राणं मनसि मनश्च बुद्धौ बुद्धिं परमाऽऽ-त्मन्युपसंहृत्यस्वाभाविकचित्सदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मनैवाऽवतिष्ठत इत्यर्थः ।।४/ ११।।

भाष्याऽर्थप्रभा—अपानवायु को प्राण अपने में उपसंहार कर लेता है, अर्थात् अपने में लीन कर लेता है । प्राण को चन्द्रमा=मन लीन किया करता है । मन का अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा है इस कारण "चन्द्रमा" शब्द से मन कहा जाता है । उस चन्द्रमा को, अर्थात् मन को आदित्य=बुद्धि ग्रहण किया करती है । क्योंकि बुद्धि का अधिदैव भगवान् सूर्य (=आदित्य) हैं उस आदित्य=बुद्धि को परः=परब्रह्म अपने में उपसंहार किया करते हैं । उपर्युक्त विचार से यह तथ्य प्रकट होता है कि समाधिकाल में अपान वायु का प्राणवायु में उपसंहार करके, तथा प्राण का मन में, एवं मन का बुद्धि में, तथा बुद्धि का परमेश्वर में उपसंहार कर योगी अपने स्वरूपभूत चित्-सत्-आनन्द,

एवम् अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप से वर्त्तमान हो जाता है। ऐसा इस श्लोक का तात्पर्याऽर्थ है ॥४/११॥

(ब्रह्म की जीवरूप से स्थिति का वर्णन),

शां० भा०—इदानीं परस्य जीवाऽऽत्मनाऽवस्थानं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अग्रिम श्लोक के माध्यम से परब्रह्म की जीवरूप से स्थिति को प्रकाशित करते हैं—

मू०— एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
तं चेत् सततमुत्क्षिपेन्न मृत्युर्नाऽमृतं भवेत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४/१२।।

अन्वयः—हंसः, सलिलात्, उच्चरन्, एकम्, पादम्, न, उत्क्षिपेत्, चेत्, तम्, सततम्, उत्क्षिपेत्, न, मृत्युः, न, अमृतम्, भवेत् ॥४/१२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—हंसः=परमेश्वर, सलिलात्=संसार सागर से, उच्चरन्=ऊपर उड़ता हुआ (भी) एकम्=एक, पादम्=पैर को, अथवा अपने एक अंश को, न=नहीं, उत्क्षिपेत्=संसारसम्बन्ध से अलग नहीं करता है। चेत्=यदि, तम्=संसारसम्बन्ध वाले उस अपने उस पाद वा अंश को भी, सततम्=हमेशा-हमेशा के लिए, उत्क्षिपेत्=संसार से पृथक् कर ले तो वैसी दशा में ब्रह्मस्वरूप जीव की, न=न तो किसी प्रकार, मृत्युः= मरण उपस्थित होगी और, न=न ही, अमृतम्=मोक्ष की ही प्राप्ति, भवेत्=होगी ॥४/१२॥

भावाऽर्थप्रभा—इस संसाररूपी जल से ऊपर-ऊपर चलते हुए परमाऽऽत्मस्वरूप हंस अपने एकपाद को संसार जल से अलग करके नहीं रखता है, यदि परमेश्वराऽऽत्मक हंस अपने उस चतुर्थांऽशपाद को संसारजलधि से सदा के लिए निकाल दे, तो न मृत्यु और न मोक्ष की अवस्था जीवाऽऽत्मस्वरूप ब्रह्म में संभव हो सकती है। उस हंसस्वरूप अविनाशी परमेश्वर का साक्षात्कार केवल योगी लोग ही कर सकते हैं ॥४/१२॥

शां० भा०—एकमिति। हन्त्यविद्यां तत्कार्यं चेति हंसः=परमाऽऽत्मा भूतभौतिक-लक्षणात् संसारात् सलिलात् उच्चरन्=ऊर्ध्वं चरन् संसाराद् बहिरेव वर्त्तमान एकम्=जीवाऽऽख्यं पादं नोत्क्षिपति=नोद्धरति=नोपसंहरति, 'रूपं रूपं प्रतिरूपोऽवतिष्ठत इत्यर्थः। श्रूयते च कठवल्लीषु—"एकस्तथा सर्वभूताऽन्तरात्मा" इति।

कस्मात् पुनरेकं पादं नोत्क्षिपतीत्यत्राऽऽह—तं जीवाऽऽख्यं पादं सततम्=सन्ततयायिनं यद्युत्क्षिपेत् स्वमायया स्वमात्मानं प्राणाऽऽद्यनन्तभेदं कृत्वा तेष्वनुप्रविश्य जीवाऽऽत्मना यदि नावतिष्ठेत्, तदा न मृत्युः=जननमरणाऽऽदिलक्षणोऽनर्थः संसारो भवेत्, संसारिणो

जीवस्याऽभावात्। तथा अमृतममृतत्त्वं मोक्षो न भवेत्, अननुप्रविष्टस्य दर्शनाऽसम्भवात्। तथा च तदर्थमेवाऽऽनुप्रवेशं दर्शयति—रूपं रूपमिति। तथा चाऽथर्वणी श्रुतिः—एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्। स चेदुत्क्षिपेत्पादं न मृत्युर्नाऽमृतं भवेद्॥" इति। "रूपं रूपं बहुधा यः करोति" इति च, यः पादरूपेण जीवाऽऽत्मना त्रिपादरूपेण चित्सदानन्दाऽद्वितीयेन ब्रह्माऽऽत्मनाऽवस्थितस्तं परमाऽऽत्मानं योगिन एव पश्यन्ति॥४/१२॥

भाष्याऽर्थप्रभा—अविद्या और उसके कार्यभूत कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रागद्वेषाऽऽदिकों का हनन करने वाला होने के कारण परमाऽऽत्मा हंस कहलाता है। वह पुनः भूतभौतिक-स्वरूप संसाराऽऽत्मक जल से ऊपर चलता हुआ, अर्थात् संसारसागर से बाहर रहता हुआ अपने जीवनामक एक पाद को उत्क्षिप्त=उद्धृत=अर्थात् उपसंहृत नहीं किया करते हैं। इसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि वह परमाऽऽत्मा रूप-रूप में प्रविष्ट होता हुआ=उन-उन वस्तुओं के रूप में आभासित होते हुए, या तत्तद् आकारों में आकारित होते हुए, उन-उन समस्त वस्तुओं के अनुरूप होकर स्थित हो रहा है। कठोपनिषद् के वल्लियों में भी ऐसा सुना जाता है कि—"इसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक अन्तरात्मा, रूप-रूप में प्रविष्ट होता हुआ, उन-उन वस्तुओं के अनुरूप में अवस्थित हो गया।"

प्रश्न—वह परमेश्वर अपने जीवसञ्ज्ञक एकपाद को संसार सागर से क्यों बाहर निकाल कर स्थित नहीं हुआ करता है? इस प्रश्न का मूल ग्रन्थ में समाधान किया जाता है—(तं सततम्, उत्क्षिपेत् चेत् (तर्हि)न मृत्युः न अमृतं भवेत्=) उस जीव नामक एक सतत=संसार सागर में सब ओर फैले हुए पाद को यदि वह परमेश्वर निकाल ले, अर्थात् अपनी मायाशक्ति से अपने (स्वरूप) को प्राणाऽऽदि अनन्तभेदों वाला करके उन सभी में अनुप्रविष्ट होकर जीवरूप से स्थित न हो, तो उस अवस्था में समस्त संसार का एवं संसारगत जीव का अभाव हो जाने के कारण न तो किसी की मृत्यु, अर्थात् जन्म-मरणाऽऽदि स्वरूप संसाराऽऽत्मक अनर्थ की ही स्वरूप सत्ता हो सकती है और न अमृत=अमरत्वस्वरूप मोक्ष की ही स्वरूपस्थिति हो सकती है। क्योंकि जो किसी दुःखमय क्लेशकारक वस्तु में प्रविष्ट नहीं होता, उस व्यक्ति का उस क्लेशजनक कारागार से निवृत्ति होते भी लोक में नहीं देखी जाती है।

इस प्रकार से उस बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था के लिए ही "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" यह श्रुति संसार के समस्त वस्तुओं में परमेश्वर का अनुप्रवेश प्रदर्शित करती है। अथर्ववेद से सम्बद्ध श्रुति भी इसी मूल ग्रन्थ से सम्बन्धित अभिप्राय को व्यक्त किया करती है—"जल से ऊपर चलता हुआ यह हंस अपना एक पाद उससे बाहर नहीं निकालता है। यदि वह उस पाद को वहाँ से निकाल ले तो न मृत्यु की स्वरूप सत्ता हो और न मोक्ष की सत्ता हो सकती है। इसी प्रकार "जो एक ही रूप को अनेक प्रकार

से व्यक्त कर लेता है।" यह श्रुति भी इसी मूल के विषय को स्फुट रूप में प्रकाशित किया करती है। इस प्रकार जो परमेश्वर अपने एक पादाऽऽत्मक जीवभाव से, तथा तीन पादरूप सच्चिदानन्दाऽद्वितीयाऽऽत्मक ब्रह्म भाव से स्थित है, उस परमेश्वर का योगी जन ही दर्शन किया करते हैं।।४/१२।।

शां० भा०—केन तर्ह्युपाधिना परः पादात्मना अवतिष्ठत? इत्याशङ्क्य परस्यैव लिङ्गोपाधिकं जीवाऽऽत्मानं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—तो पुनः वह परमाऽऽत्मा किस किस उपाधि के द्वारा जीवाऽऽत्मक पादरूप से इस संसार में विद्यमान है? इस प्रकार की आशङ्का करके उस परमाऽऽत्मा के ही लिङ्गशरीरोपाधिक जीवस्वरूपता को अग्रिम श्लोक में व्यक्त करते हैं—

मू०— अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तराऽऽत्मा लिङ्गस्य योगेन सन् याति नित्यम्।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं पश्यन्ति मूढा न विराजमानम्।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४/१३।।

अन्वयः—अन्तरात्मा, पुरुषः, लिङ्गस्य, योगेन, नित्यम्, अङ्गुष्ठमात्रः, सन्, याति, मूढाः, ईड्यम्, अनुकल्पम्, विराजमानम्, तम्, ईशम्, न, पश्यन्ति, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति।।४/१३।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—अन्तराऽऽत्मा=अन्तर्यामी, पुरुषः=पूर्ण परमाऽऽत्मा, लिङ्गस्य= पञ्चमहाप्राण मनोबुद्धि एवं दश प्रकार के ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के समुदायाऽऽत्मक लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर के, योगेन=सम्बन्ध से, नित्यम्=निरन्तर, अङ्गुष्ठमात्रः सन्=अँगूठे मात्र के परिमाण वाला होता हुआ, याति=जन्म-मरणाऽऽत्मक इस संसार सागर को प्राप्त करता रहता है, (एवं) मूढाः=आत्म-अनात्म वस्तुओं के विवेक सम्पादन में असमर्थ जन, ईड्यम्=सबके वन्दनीय, अनुकल्पम्=सर्ववस्तुप्रविष्ट होकर जीवाऽऽत्मभाव से उन-उन स्वरूप में परिणत होने वाले, विराजमानम्=प्रकाशवान्, तम्=उस, ईशम्=सर्वनियन्त्रक को, न पश्यन्ति=अनुभव नहीं कर पाते हैं। तं सनातनं भगवन्तम्=उस आदि-अन्त शून्य परमेश्वर को, योगिनः प्रपश्यन्ति=योगी जन ही प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर पाते हैं।।४/१३।।

भावाऽर्थप्रभा—वह सर्वाऽन्तर्यामी परमेश्वर लिङ्गशरीर के सम्बन्ध से अँगूठे मात्र परिमाण से युक्त होता हुआ, जन्ममरणाऽऽत्मक जगत्प्रवाह को प्राप्त करता रहता है। उस स्वप्रकाश सर्वेश्वर सबके वन्दनीय और अपने को संसार के सब उपाधियों में परिवर्तित करने वाले अनादि अनन्त अविनाशी पुरुष को विवेकशून्य मनुष्य अनुभव नहीं कर पाते हैं। उस सनातन परमेश्वर को योगीजन ही तात्त्विकरूप से अनुभव कर पाने में

समर्थ हुआ करते हैं ।।४/१३।।

शां० भा०—अंगुष्ठमात्र इति । स एव सच्चिदानन्दाऽद्वितीयः अन्तराऽऽत्मा= सर्वभूताऽन्तराऽऽत्मा पुरुषः=पूर्ण परमाऽऽत्मा लिङ्गयोगेन=अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणपरिच्छिन्नः संयाति= संसरति नित्यम् । कस्मात् पुनः कारणाद् लिङ्गयोगेनाङ्गुष्ठमात्रः संसरति? तत्राऽऽह—यो लिङ्गस्य योगेनाऽङ्गुष्ठमात्रः संसरति तमीशम्=सर्वस्येशितारम् ईड्यम्=स्तुत्यम् अनुकल्पम्= सर्वमनुप्रविश्याऽऽत्मना अनुकल्पयतीत्यनुकल्पम्, आद्यम्=आदौ भवम्, विराजमानं यस्मान्मूढाः=अविवेकिनः=देह द्वयाऽभिमानिनो न पश्यन्ति, तस्मादात्मनो ब्रह्मभावाऽनवगमात् संसरति । यमात्मानम् अपश्यन्तः संसरन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/१३।।

भाष्याऽर्थप्रभा—वही सच्चिदाऽऽनन्दाऽद्वितीय अन्तराऽऽत्मा=सर्वभूतों के हृदय में निवास करने वाले, पुरुष=पूर्ण परमेश्वर लिङ्गदेह के सम्बन्ध से अङ्गुष्ठमात्र के परिमाण (माप) से परिच्छिन्न (=युक्त) होता हुआ (सन्=) सर्वकाल में चलता रहता है, अर्थात् जन्म-मरणाऽऽत्मक चक्र में सदा आवृत्त होते रहता है ।

प्रश्न—पुनः वह परमाऽऽत्मा किस कारण से लिङ्गशरीर का अवलम्बन करते हुए, अर्थात् लिङ्गशरीराऽऽत्मक उपाधिसम्बन्ध से जन्ममरणाऽऽत्मक संसार को प्राप्त हुआ करता है? **समाधान**—इस विषय में कहते हैं कि—जो सूक्ष्मशरीर के सम्बन्धाऽऽत्मक योग से अङ्गुष्ठमात्र परिमाण में परिणत हुआ जीव संसार को प्राप्त हुआ करता है, उस ईश=चेतनाऽचेतनाऽऽत्मक समस्त जागतिक वस्तुओं के नियन्त्रक, ईड्य=सबके स्तुति योग्य और अनुकल्प=सर्व वस्तुओं में अनुप्रविष्ट होकर जीवरूप से स्वयं को तत्तत् पदार्थों के अनुरूप बन जाने वाले, आद्य=सर्व जागतिक प्रपञ्च के आदिभूत तथा अत्यन्त प्रकाशवान् परमाऽऽत्मतत्त्व को, मूढ=शरीराऽभिमानी, अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में आत्मतादात्म्य का अभिमान रखने वाले पुरुष नहीं देखते हैं, इसी कारण से अपने ब्रह्मभाव का ज्ञान न हो पाने के कारण ये अविवेकी जन संसार को प्राप्त होते रहते हैं । जिस परमाऽऽत्मतत्त्व को न देखने के कारण वे मूढपुरुष संसार को ही पुनः-पुनः प्राप्त हुआ करते हैं उस आत्मतत्त्व को योगिजन ही देख पाते हैं ।।४/१३।।

(इन्द्रियाँ एवम् इन्द्रियों से सम्बद्ध विषयों की अनर्थहेतुता का वर्णन)

शां० भा०—इदानीमिन्द्रियाणां च विषयाणां चाऽनर्थहेतुत्वं दर्शयति—

आगे के श्लोक से इन्द्रियों और इन्द्रियविषयों में, कर्तृत्व-भोक्तृत्वाऽऽदिस्वरूप अनर्थों की प्राप्तिहेतुता दिखलाते हैं—

मू०— गूहन्ति सर्पा इव गह्वरेषु क्षयं नीत्वा स्वेन-वृत्तेन मर्त्यान् ।
ते विप्रमुह्यन्ति जना विमूढास्तैर्दत्ता भोगा मोहयन्ते भवाय ।।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/१४।।

अन्वयः—सर्पाः, इव, स्वेन, वृत्तेन, मर्त्यान्, क्षयम्, नीत्वा, गह्वरेषु, गूहन्ति, ते, विमूढाः, जनाः, विप्रमुह्यन्ति, तैः, दत्ताः, भोगाः, भवाय, मोहयन्ते, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ।।४/१४।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—सर्पाः=सर्पों के, इव=सदृश, इन्द्रियगण, स्वेन वृत्तेन=अपने-अपने विषय के माध्यम से, मर्त्यान्=मनुष्यों को, क्षयं नीत्वा=नाश करके, गह्वरेषु=स्व-स्व निवासस्थान स्वरूप गोलक में, गूहन्ति=छिप जाया करते हैं। ते विमूढाः=विषय विष के सम्बन्ध से ग्रसे हुए, जना=विषयाऽऽसक्तप्राणी, विप्रमुह्यन्ति=मूर्च्छाऽवस्था के समान वे मूढजन अपने आत्मस्वरूपविषयक स्मृति से शून्य हो जाते हैं। तैः=उन इन्द्रियों के द्वारा, दत्ताः भोगाः=प्रदर्शित किये गये भोग, भवाय=जन्म-मरणाऽऽत्मक संसार के लिए, मोहयन्ते=मोहित किया करते हैं। तं सनातनं भगवन्तम्=उस अनादिस्वरूप, भगवन्तम्= परमात्मा को, योगिनः=योगी लोग ही, प्रपश्यन्ति=देख पाते हैं।

शां० भा०—गूहन्तीति। यथा सर्पा गह्वरेभ्यो निष्क्रम्य स्वेन-वृत्तेन=विषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति= स्वाऽऽत्मानं प्रच्छादयन्ति, एवम् इन्द्रियसर्पाः श्रोत्राऽऽदिषु शयानाः श्रोत्राऽऽदिभ्यो निर्गत्य स्वेन वृत्तेन=विषयप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति=स्वाऽऽत्मान प्रच्छादयन्ति, ते विप्रमुह्यन्ति=विषयविषाऽभिभूता विशेषेण मुह्यन्ति व्यतिरिक्तं न किञ्चिज्जानन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तः" इति। तैः=इन्द्रियसर्पैर्दत्ता भोगाः=विषकल्पाः विषयाः मर्त्यान् मोहयन्ते=पुनः पुनर्मोहहेतवो भवन्ति। यदिदं विषयैर्विमोहनम्, तद्भवाय=गर्भजन्मजरामरणसंसाराय भवति। मनवद्य-मनुकल्पमाद्यम् अदृष्ट्वा विषयविषाऽन्धा मुह्यन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/१४।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस प्रकार सर्पगण अपने-अपने बिलों से निकल कर स्व-स्व विषप्रदानरूप व्यापारों के द्वारा मनुष्याऽऽदि प्राणियों को नष्ट करके अपने शरीर को पुनः बिलों में छिपा लिया करते हैं। इसी प्रकार सर्पबिल के तुल्य श्रोत्राऽऽदिगोलकों में सर्प के समान विषतुल्य विनाशकारी विषयों के प्रदायक ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ रूपी सर्प उन श्रोत्रादिस्वरूप स्व-स्वगोलकों से निकल कर विषयविषप्रदानाऽऽत्मक अपने व्यापारों से मनुष्याऽऽदि प्राणियों को नष्ट करके श्रोत्राऽऽदिगोलकरूपी अपने-अपने गह्वरों (बिलों) में अपने स्वरूप को छिपा लेते हैं। जिसके परिणामरूप विषयविषदग्ध मनुष्याऽऽदि प्राणियाँ विषयरूपी विष से आक्रान्त होते हुए विशेषरूप से (अधिकाऽधिकरूप से) अज्ञानरूपी मूर्च्छाऽवस्था को प्राप्त हो जाया करते हैं, अर्थात् विषयविषविद्ध हो जाने के कारण मनुष्याऽऽदिकों को विषयाऽऽतिरिक्त किसी अन्य का ज्ञान (आत्मस्वरूप का स्मरणाऽऽत्मक ज्ञान) सर्वथा जाता रहता है, जिससे विषयविषमग्न व्यक्ति विषयविष से

व्यतिरिक्त को जान नहीं पाते हैं। इस विषय में श्रुति भी कहती है कि—"जिस प्रकार अपनी प्रिया से पूर्णतया आलिङ्गित हुआ मनुष्य शरीरगत व्रणघर्षणजनितदुःख तक का भी अनुभव नहीं कर पाता है। इत्यादि।

उन इन्द्रियरूपी सर्पों के द्वारा अर्पित किये गये विषयाऽऽत्मकभोग अर्थात् विष के समान विनाशकारी विषय मनुष्यों को व्यामोहित कर देते हैं=वे इन्द्रियाँ पुनः पुनः मनुष्यों के विषय भ्रम को उत्पन्न करने में=विषयों में प्रियताबुद्धि को उत्पन्न करने में कारण हुआ करते हैं। जो यह विषयों से मोहित होना=तादात्म्यबुद्धिपूर्वक विषयों में ही आनन्द का अनुसन्धान कराते रहना, अथवा तादात्म्यग्रहणपूर्वक विषयों की वैकारिक धर्मों को भ्रम से अपने आत्मस्वरूप में ही अनुभव करते रहना है, या पुनः शरीरेन्द्रिय प्रभृति अनात्मभूतविषयों में तादात्म्यभाव का उदय होना रूप व्यामोह है, वही विषय व्यामोह, जन्म के लिए होता है, अर्थात् गर्भवास-जन्म-वृद्धावस्था, एवं मरणाऽऽत्मक संसार की, उत्पत्ति के लिए होता है। जिस निर्मल और उपाधि के अनुरूप हो जाने वाले आदिपुरुष परमाऽऽत्मा को अपने तादात्म्य के रूप में अनुभव न कर पाने के कारण मनुष्याऽऽदि प्राणी विषयरूपी विष से अन्धे होकर, अज्ञान समुद्र में डूब जाते हैं, उस परमेश्वर को अपने से अभिन्न रूप में योगीजन ही अनुभव कर पाते हैं ॥४/१४॥

(अनात्मज्ञ की निन्दा का वर्णन)

शां० भा०—सम्मतिमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—आत्माऽनुभव से विहीन पुरुष इस संसार में कैसा होता है?, इस विषय में अपनी सम्मति को भगवान् सनत्सुजात जी इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

मू०— नाऽऽत्मानमात्मस्थमवैति मूढः संसारकूपे परिवर्त्तते यः ।

त्यक्त्वाऽऽत्मरूपं विषयांश्च भुङ्क्ते स वै जनो गर्दभ एव साक्षात् ।।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/१५।।

अन्वयः—मूढः, आत्मस्थम्, आत्मानम्, न, अवैति, (अत एव) संसारकूपे, परिवर्त्तते, यः, जनः, आत्मरूपम्, त्यक्त्वा, च, विषयान् भुङ्क्ते, वै, सः, जनः, साक्षात्, गर्दभः एव। तम्, सनातनं भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ॥४/१५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—मूढः=आत्म-अनात्मविषयकविवेकज्ञान से विहीन मनुष्य, आत्मस्थम्, आत्मानम्=अन्तःकरण में विराजमान आत्मवस्तु को "वही सर्वाऽन्तर्यामी आत्मा मैं हूँ।" इस रूप से, न अवैति=अनुभव नहीं कर पाता है (इसी कारण तो वैसा मूढ प्राणी) संसारकूपे=संसाररूपी कूप में, परिवर्त्तते=कुत्ता-बिल्ली, सूकर आदि निकृष्ट

योनियों में पुन: पुन: चक्कर लगाता रहता है। अर्थात् तामसयोनियों को प्राप्त होता रहता है। य: (मूढ: जन:)=जो विषयपरायण मूर्ख मनुष्य, आत्मरूपम्=शरीरेन्द्रियाऽऽदिस्वरूप सकलदोषाऽऽधायक मलसम्बन्ध से विनिर्मुक्त, विशुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन का, त्यक्त्वा= परित्याग करके, विषयान् भुङ्क्ते=विषयों को ही अपने स्वरूप में चिन्तन करता रहता है, वै=निश्चित रूप से, स: जन:=वैसा विवेकशून्य मनुष्य, साक्षात् गर्दभ: एव=साक्षात् गधा ही है, वहाँ ऐसा ही समझना चाहिए। तं सनातनं भगवन्तम्=उस अनादिस्वरूप सर्वाऽन्तर्यामी परमाऽऽत्मा को, योगिन: प्रपश्यन्ति=योगीजन ही अपने आत्मस्वरूप में अनुभव किया करते हैं ॥४/१५॥

भावाऽर्थप्रभा—जो इस संसाररूपी कूप में विवेकशून्यता के कारण प्रगाढ अज्ञानाऽऽच्छन्न शूकर-कूकर आदि योनियों में भटकता रहता है, वह मूढ मनुष्य अपने अन्त:करण में विद्यमान आत्मतत्त्व को नहीं जान पाता है। न जान पाने के कारण ही जो मनुष्य आत्मस्वरूप के चिन्तन से विमुख होकर अनात्मभूत विषयों का सेवन करता हुआ, उसी में लीन रहता है, वह मनुष्य के आकार में होता हुआ भी, प्रगाढतमसाच्छन्न होने के कारण "यह साक्षात् गधा ही है" वहाँ ऐसा अनुभव करना चाहिए। उस अनादिसिद्ध भगवान् का अपने आत्मा के रूप में योगीजन ही अनुभव कर पाते हैं ॥४/१५॥

शां० भा०—नाऽऽत्मानमिति। मूढ:=आत्माऽनात्मविवेकशून्य: पुमान् आत्मस्थम्= आत्मनि तिष्ठन्तं न जानाति स एवाऽहमिति, अत: कारणात् संसारकूपे=संसार एव कूपस्तस्मिन् परिवर्त्तते=श्वशूकराऽऽदियोनिं प्राप्नोति, अपरोक्षाऽऽत्मचैतन्यं देहाऽऽदिदोषरहितं सर्वाऽवभाषकं येन सूर्यस्तपति स एव तत् स्वरूपं परित्यज्य अनित्यान् विषयान् भोगान् भुङ्क्ते, स जनो न, तर्हि किम्? साक्षाद् गर्दभ एव। एवंविधं पूर्वोक्तमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥४/१५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—मूढ=जो आत्माऽनात्मा के विवेकज्ञान से रहित पुरुष होता है वह, आत्मस्थ= अन्त:करण में विराजमान सर्वाऽन्तर्यामी स्वरूप आत्मवस्तु को, "वही सर्वाऽन्तर्यामी-परमाऽऽत्मा मैं हूँ।" इस प्रकार से अपने आत्मवस्तु का अनुभव नहीं कर सका है, इसी कारण से विवेकज्ञान से रहित वह मनुष्य संसारकूप में=संसार रूपी कूप में निरन्तर घूमता रहता है, अर्थात् कुत्ता, सूकर आदि अज्ञानप्रगाढयोनियों को प्राप्त होता रहता है। शरीरेन्द्रियाऽऽदि दोष से रहित, समस्त जागतिक वस्तु का प्रकाशक, अपरोक्षस्वरूप आत्मचैतन्य, जिससे सूर्य तपता है, वही उस आत्मतत्त्व का स्वरूप है। उस आत्मवस्तु का परित्याग करके (उसका पूर्वोक्त रूप से चिन्तन-मनन न करके) जो मूढ मनुष्य अनित्यविषयों को भोगता रहता है, वह मनुष्याऽऽकार में होने पर भी मनुष्य नहीं है। **प्रश्न**—तो पुन: मनुष्य से भिन्न वह क्या है? **समाधान**—मनुष्याऽऽकार में वह

साक्षात् गधा ही है ऐसा जानना चाहिए। जिस आत्मतत्त्व के ज्ञान से मोक्ष एवम् अज्ञान से शूकर-कूकराऽऽदि के रूप में संसारपञ्जर में अवरोध होता है, इस प्रकार के पूर्वोक्त आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव तो योगी लोग ही कर पाते हैं। अतः योगाऽभ्यास का सम्पादन करना चाहिए ।।४/१५।।

(आत्मा के महत्त्व का प्रदर्शन)

शां० भा०—ज्ञानिनां मोक्षस्वरूपमाह—

भा० प्र०—आत्मज्ञानियों के मोक्षस्वरूप को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

मू०— असाधना वाऽपि ससाधना वा समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु।
समानमेतदमृतस्येतरस्य युक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४/१६।।

अन्वयः—असाधनाः, वाऽपि, ससाधनाः, वा, एतत्, समानम्, दृश्यते, तथा, अमृतस्य, इतरस्य, एतत्, समानम्, तत्र, युक्ताः, मध्यः, उत्सम्, समायुः, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ।।४/१६।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—असाधनाः=जो मोक्षोपयोगी शम-दमाऽऽदिसाधनों से रहित हैं वाऽपि=या पुनः, ससाधनाः=शम-दमाऽऽदिसाधन सम्पन्न हैं, वा=किन्तु, मानुषेषु=सभी प्रकार के मनुष्यों में, एतत्=यह परमाऽऽत्मतत्त्व, समानम्=समानरूप से ही, दृश्यते=व्याप्त हुआ रहता है। (तथा=उसी प्रकार) अमृतस्य=मोक्ष के विषय में (एवम्) इतरस्य=संसार विषय में भी, एतत्=यह ब्रह्म, समानम्=तुल्य भाव से ही स्थित है। किन्तु, तत्र= उन दोनों के मध्य, युक्ताः=साधनसम्पन्नमनुष्य ही, मध्वः=ब्रह्मरस के, उत्सम्=सर्वश्रेष्ठमाधुर्य को, समायुः=प्राप्त किया करते हैं। तं सनातनं भगवन्तम्=उस अनादि सिद्ध परमेश्वर को, योगिनः प्रपश्यन्ति=योगीजन अपने आत्मस्वरूप में अनुभव कर पाते हैं (सर्वसाधारण नहीं) ।।४/१६।।

भावाऽर्थप्रभा—जो मनुष्य मोक्षप्राप्ति के साधनों से विहीन हैं, अथवा जो मनुष्य उन साधनों से युक्त हैं, उन दोनों ही प्रकार के मनुष्यों में, यह आत्मस्वरूप समान रूप से व्याप्त हुआ विराजमान है। यह आत्मतत्त्व अमरत्व स्वरूप मोक्ष, एवं उससे भिन्न संसार के लिए भी समान हुआ करता है। किन्तु इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में जो साधन सम्पन्न हैं वे ब्रह्मरस के सर्वोत्कृष्ट मधुरता को प्राप्त किया करते हैं। उस अनादि स्वरूप परमेश्वर का योगी लोग ही अपने आत्मरूप में अनुभव कर पाते हैं ।।४/१६।।

शां० भां०—असाधना वेति। ये असाधनाः शमदमादिसाधनरहिताः ये च

शमदमादिसाधनयुक्ता: ससाधना: तेषु समानं साधारणमात्मस्वरूपं दृश्यते मानुषेषु । तथा समानममृतस्य=मोक्षस्य इतरस्य=संसारस्य सति चासति च तेषां मध्ये ये युक्ता:= शमदमादिसाधनयुक्ता:, ते तस्मिन् विष्णो: परमे पदे मध्वो मधुन उत्सं समापु: पूर्णानन्द ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थ: । यमुत्सं सम्पूर्णानन्दं युक्ता: प्राप्नुवन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/१६।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो मनुष्य असाधन=शम-दमआदि मोक्षप्रापकसाधनों से रहित हैं, तथा जो शम-दमाऽऽदिसाधनों से सम्पन्न हैं, उन दोनों ही प्रकार के मानवों द्वारा आत्मस्वरूप सत् तत्त्व समान=तुल्यरूप से ही देखा जाता है । तथा मोक्षाऽऽत्मक अमृत एवं तद्भिन्नसंसार इन दोनों के भी होने और न होने में वह आत्मतत्त्व समान भाव से ही रहा करता है, किन्तु इन मनुष्यों के मध्य में जो मनुष्य युक्ता:=शम-दमाऽऽदि साधनों से युक्त हैं, वे साधनसम्पन्न मनुष्य उस भगवान् विष्णु के परमपद में मधु का झरना प्राप्त किया करते हैं । अर्थात् वे पूर्णाऽऽनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त किया करते हैं । ब्रह्म के जिस पूर्णाऽऽनन्द को, साधनसम्पन्न पुरुष ही प्राप्त कर पाते हैं । इस प्रकार के पूर्णाऽऽनन्दस्वरूप ब्रह्म को, योगी लोग ही आत्मरूप में साक्षात् करते हैं ।।४/१६।।

शां० भा० —किञ्च—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस ब्रह्म के विषय में और भी ज्ञातव्य तथ्यों का प्रकाश किया जा रहा है—

मू०— उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति तदाहुतं चाहुतमग्निहोत्रम् ।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते ।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/१७।।

अन्वय:—विद्यया, उभौ, लोकौ, व्याप्य, याति, तदा, अहुतम्, अग्निहोत्रम्, आहुतम्, (तथा) ते, लघुताम्, मा, आदधीत, यत्, नाम, प्रज्ञानम्, स्यात्, धीरा:, लभन्ते, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिन:, प्रपश्यन्ति ।।४/१७।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—विद्यया=ब्रह्मविषयिणी अन्त:करण की वृत्ति से, उभौ लोकौ=इह (वर्त्तमान शरीर रूप) लोक और पर (=दूसरे योनि के शरीराऽऽत्मक) लोक भेद से भिन्न, इन दोनों लोकों को व्याप्य=सर्वाऽऽत्मभाव की भावना से व्याप्त करके, याति=पूर्णाऽऽ-नन्दस्वरूप ब्रह्म प्राप्त होता है । अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अपने ब्रह्मज्ञान के द्वारा इस लोक और परलोक को व्याप्त करके, पुन: प्रारब्ध भोग के समाप्तिपर्यन्त तक स्थित रहता है । तदा=उस जीवनमुक्त की दशा में, अहुतम्=न सम्पादन किया हुआ, अग्निहोत्रम्=अग्निहोत्र आदि याग कर्म भी, आहुतम्=किया हुआ हो जाता है । (तथा=इसी प्रकार) ते=आपकी ब्रह्मविषयिणी अखण्डाकारबुद्धिवृत्ति भी तुझमें, लघुताम्=मर्त्यभाव=संसारस्वरूपता को,

मा-आदधीत=उत्पन्न न करे। (जिस समय ब्रह्मविद्या से व्याप्त होने के कारण परमाऽऽत्मा को अपने आत्मा के रूप में प्राप्त होने वाले पुरुष का) प्रज्ञानम् (इति)="प्रज्ञान" यह, नाम, स्यात्=हुआ करता है। अर्थात् ब्रह्मविद्याऽऽत्मिका चित्तवृत्ति से सम्पन्न हुआ पुरुष प्रज्ञानाऽपरपर्याय ब्रह्मस्वरूप में परिणत हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह ब्रह्मज्ञानी सशरीर रहते हुए भी, जीवन्मुक्त स्वरूप में अभिषिक्त हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले सब नहीं होते हैं, किन्तु धीराः लभन्ते=जो संसार से पराङ्मुख हुआ भ्रमर के समान तत्त्वाऽनुसन्धान में अपेक्षित साधनतत्त्व का निश्चय कर, दृढ़ता के साथ, निष्कम्प भाव से उसका उपयोग करने में पूर्ण सक्षम होते हैं, केवल वे ही प्रज्ञानाऽऽत्मक ब्रह्म को, अपने आत्मरूप से अनुभव कर पाने में सफल होते हैं। तं सनातनं भगवन्तम्= उस अनादि स्वरूप परमाऽऽत्मा को, योगिनः प्रपश्यन्ति=योगी लोग ही अनुभव कर पाते हैं।।४/१७।।

भावाऽर्थप्रभा—आत्मविवेकसम्पन्नपुरुष ब्रह्मविद्या के माध्यम से इस वर्त्तमान शरीर से सम्बन्धित लोक एवं परलोक अर्थात् आगामी जन्म में गृहीत शरीर से सम्बन्धित लोक को सर्वाऽऽत्मभाव से प्राप्त करके, उस अवस्था में जाकर पुनः आनन्दमग्न हो जाता है। उस दशा को प्राप्त हुए पुरुष के द्वारा यदि अग्निहोत्राऽऽदिकर्म किया हुआ नहीं भी होता है, तथाऽपि उस अकृतकर्म को भी उसके द्वारा किया हुआ ही समझा जाना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी के समस्त कर्मों का फल ब्रह्मज्ञान के रूप में अभिव्यक्त हुआ करता है इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर ब्रह्मज्ञ के अकृत अग्निहोत्राऽऽदिकर्मों को भी कृतकर्म कहा गया है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त होता हुआ भी, अपने प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न हुए फलों को भोगता हुआ भी, ब्रह्माऽऽत्मना स्थित हुआ, अनर्थकारक कर्तृत्व भोक्तृत्वमूलक राग-द्वेषाऽऽदि स्वरूप दोषों से विनिर्मुक्त होकर, अनासक्त भाव से लोकयात्रा का निर्वाह किया करता है। इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करके भी हे धृतराष्ट्र! तुझमें सांसारिक भावना का उदय न हो, एवं ब्रह्मविद्योपदेश के माध्यम से आप में श्रवण-मननाऽऽदिपूर्वक ब्रह्माऽऽत्मज्ञान प्रकट हो, जिसे धीरमनुष्य ही प्राप्त कर पाने में सफल होते हैं। उस सनातन ब्रह्माऽऽत्मा को केवल योगी लोग ही अपने स्वरूप में अनुभव कर पाते हैं।।४/१७।।

शां० भा०—उभाविति। उभौ लोकौ इह लोकपरलोकौ विद्यया=ब्रह्माऽऽत्मविषयया व्याप्य याति तत् पूर्णाऽऽनन्दं ब्रह्म। यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति, तस्मादहुतं चाऽग्निहोत्रम् अनेनाऽऽत्मज्ञानेन आहुतमाभिमुख्येन हुतं भवति। सर्वमग्निहोत्राऽऽदिकं कर्मफलं चाऽनेनैव सम्पादितं भवतीत्यर्थः। यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति, यस्मादहुतं चाऽग्निहोत्रं हुतं भवति, तस्मान्मा ते=तव ब्राह्मी=ब्रह्मविषया विद्या लघुताम्=मर्त्यभावं

कर्मवद् आदधीत न करोतु, अपि तु प्रज्ञानं तमसः परं परमाऽऽत्मानम् आत्मत्वेन सम्पादयतु। यदा ब्रह्मविद्याव्यापृतस्य परमाऽऽत्मानमात्मत्वेनाऽवगच्छतः प्रज्ञानमिति नाम स्यात्, ब्रह्मेति नाम भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"प्रज्ञानं ब्रह्म" इति। तत् प्रज्ञानं ब्रह्म धीराः=धीमन्तो लभन्ते, तं योगिन एव पश्यन्ति ॥४/१७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—उभौ लोकौ=इस लोक एवं परलोक के भेद से भिन्न इन दोनों लोकों को, ब्रह्माऽऽत्मविषयिणीविद्या से व्याप्त करके जो प्राप्त करता है, वह पूर्णाऽऽनन्द ब्रह्म होता है। अथवा शरीर-इन्द्रिय एवं सांसारिक विषयस्वरूप इहलोक या अनात्मलोक, तथा ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप परलोक को "यह सब मैं ही हूँ" इस आकार वाली ब्रह्मविषयिणी अन्तःकरण की वृत्ति से व्याप्य=व्याप्त करके अर्थात् प्राकाश्यरूप ब्रह्म वस्तु को जानकर, याति=प्रारब्ध कर्म से आरब्ध शरीरेन्द्रियों, एवं तद्‌हेतुक भोगों को भोगते हुए, प्रारब्धकर्म के समाप्तिपर्यन्त वह इस भोगलोक में संचरण करता रहता है। (शरीरेन्द्रियों में, एवं पूर्व कर्म से उपस्थापित भोग्य वस्तुओं में विचरण करता रहता है।) जिस कारण से वह जीवन्मुक्त मनुष्य आत्म-अनात्मभूत इन दोनों लोकों को ब्रह्मविद्या से व्याप्त करके, अर्थात् आत्मवस्तु और अनात्मवस्तुओं में ब्रह्माऽऽत्मविषयक अखण्डाऽऽकार-वृत्तिद्वारा सर्वत्र ब्रह्माऽऽत्माऽनुभूति वाला हुआ करता है, इसलिए सर्वत्र आत्मज्ञान सम्पादन द्वारा विना हवन किया हुआ अग्निहोत्र आदि कर्म भी सम्यक् रूप से हवन किया हुआ ही पर्यवसन्न होता है। अर्थात् अग्निहोत्र आदि निखिल कर्मों का फल ब्रह्मबोध की प्राप्ति से ही सुलभ हो जाता है, क्योंकि यह जीवन्मुक्त अनात्म-आत्मस्वरूप दोनों लोकों को ब्रह्मविद्या से व्याप्त करके यावज्जीवन प्रारब्धकर्माऽनुसार ऐहिक यात्रा को पूर्ण किया करता है और जिस कारण से इस ब्रह्मज्ञानी के द्वारा बिना हवन किया हुआ अग्निहोत्र आदि हुत हो जाता है, अतः तेरी ब्रह्मविषयिणी विद्या, कर्म के समान तुझमें लघुता को, अर्थात् मर्त्यभाव उत्पन्न न करे, किन्तु वह आत्मविद्या प्रज्ञान=अज्ञान से परे (अतीत) परमाऽऽत्मा को अपनी आत्मवस्तु के रूप में सम्पादित करावे। जिस समय ब्रह्मविद्या से व्याप्त हुआ अतएव उस दशा में परमाऽऽत्मा को आत्मस्वरूप से प्राप्त करने वाले पुरुष का "प्रज्ञान" यह नाम हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मविद्या के द्वारा जब पुरुष परमेश्वर को अपने आत्मस्वरूप में साक्षात् कर लेता है, तो उस समय उस जीवन्मुक्त पुरुष का प्रज्ञानाऽपरपर्याय ब्रह्म नाम हो जाता है=वह ब्रह्मस्वरूप में ही पर्यवसित हो जाता है, जैसा कि इस विषय में श्रुति कहती है—"प्रज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्" प्रज्ञान=सर्वोत्तम ज्ञान ही=आत्मस्वरूपज्ञान ही ब्रह्म का स्वरूप है, इसको जानो। एवं उस प्रज्ञान नामक ब्रह्म को धीर=बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करते हैं, एवं आत्मवस्तु को अविनाशी ब्रह्म के रूप में योगीजन ही प्रत्यक्ष कर पाते हैं ॥४/१७॥

शां० भा०—किञ्च—

भाष्याऽर्थप्रभा—ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्मज्ञान की महत्ता, उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त भी इस प्रकार है—

मू०— एवं रूपो महानात्मा पावकं पुरुषो गिरन् ।

यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहात्मा न रिष्यते ।।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/१८।।

अन्वयः—एवंरूपः, महान् आत्मा, पावकम्, गिरन्, वै, तम्, पुरुषम्, वेद, तस्य, इह, न, रिष्यते, तं, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः प्रपश्यन्ति ।।४/१८।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—(यः) एवंरूपम्=जो इस प्रकार प्रज्ञानाऽऽत्मक एक रस ब्रह्म के रूप में ही स्थिति को प्राप्त हो जाता है, (सः) महान् आत्मा वह महान् आत्मा ब्रह्मस्वरूप में ही परिणत हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपता में परिवर्तित हुआ ब्रह्मज्ञ परमाऽऽत्मा, पावकम्=कर्मफलभोक्ता जीव को, गिरन्=अपने स्वरूप में लीन करता हुआ, वै=निश्चित रूप से, तं पुरुषम्=उस पुरुष को, वेद=अपने आत्मा के रूप में साक्षात् कर लेता है। तस्य=प्रज्ञानस्वरूप परमाऽऽत्मा को अपनी आत्मा के रूप में प्राप्त करने वाले उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष का, इह=इसी वर्त्तमान शरीर में स्थित हुआ आत्मा, न रिष्यते=मृत्यु के उपरान्त इस शरीर से परशरीर में प्रवेश करने के लिए गमनरूपी विनाश नहीं होता है। अर्थात् कर्म का फल जिस प्रकार अनित्य हुआ करता है उसी प्रकार आत्मज्ञान का फल अनित्य नहीं होता है। जिस ब्रह्माऽऽत्मस्वरूप के ज्ञान से ब्रह्मज्ञानी का आत्मा विनष्ट नहीं होता है, तं सनातनं भगवन्तम्=उस अनादिस्वरूप परमेश्वर को, योगिनः प्रपश्यन्ति=योगी जन ही प्रत्यक्ष कर पाते हैं। सर्वसाधारण मनुष्य नहीं ।।४/१८।।

भावाऽर्थप्रभा—जो पुरुष ब्रह्माऽऽत्मज्ञानरूप परब्रह्म को अपने आत्मवस्तु के रूप में अनुभव कर लेता है वह पुरुष महान्=ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता अपने जीवभाव को अपने ब्रह्मस्वरूप में ही लीन कर लेता है, एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मस्वरूप में परिणत हो जाता है। निश्चय ही जो मनुष्य प्रज्ञानस्वरूप परमाऽऽत्मा को अपने आत्मा के रूप में "अहमेव ब्रह्म अस्मि" इस प्रकार प्रत्यक्ष करता है, उसकी आत्मा इस शरीर में नाशभाव को प्राप्त नहीं होता है। उस अनादिस्वरूप परमाऽऽत्मा को योगीजन ही देख पाते हैं ।।४/१८।।

शां० भा०—एवमिति। य एवंरूपः प्रज्ञानैकरसो ब्रह्मस्वरूपः सन्नास्ते, स आत्मा महान् सम्पद्यते=ब्रह्मैव सम्पद्यत इत्यर्थः। पावकम्=अग्निम्=सर्वोपसंहृतिरूपं कारणं सकारणं कार्यं गिरन्=स्वाऽऽत्मन्युपसंहरन् यो वै तं पुरुषम्=ज्ञानैकरसं पुरुषम्=पूर्णम्=पुरिशयं

वेद=अयमहमस्मीति साक्षाज्जानाति, तस्य प्रज्ञानरूपं परमाऽऽत्मानम् आत्मत्वेन अवगच्छतः, इह=अस्मिन्नेव देहे आत्मा न रिष्यते=न विनश्यति । विदुष उत्क्रान्तेरसम्भवात्, उत्क्रान्ति-निमित्तत्वाद्विनाशस्य । तथा च श्रुतिः प्रश्नपूर्वकमुत्क्रान्त्यभावं दर्शयति—"उदस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति आहो नेति-नेति होवाच याज्ञ्यवल्क्यः, अत्रैव समवलीयन्ते न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति य एवं वेद" इति । यं विदित्वा न रिष्यति तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/१८।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो मनुष्य इस प्रकार=प्रज्ञानैकरस ब्रह्मस्वरूप हुआ स्थित होता है, वह मनुष्य शरीराऽवच्छिन्न आत्मा महान्=ब्रह्मस्वरूप में परिणत हुआ सम्पन्न होता है । अर्थात् केवल ब्रह्मरूप में ही परिणत होकर विराजमान होता है । पावक=अग्नि=समस्त वस्तुओं के उपसंहाराऽऽत्मककारण, अर्थात् कारणस्वरूप अविद्या के सहित कार्यस्वरूप जो जीव उस सकार्य जीवस्वरूप कार्य को, गिरन्=ब्रह्माऽऽत्मा अपने आत्मस्वरूप में उपसंहार (लीन) करते हुए, जो मनुष्य निश्चित रूप से उस महान् पुरुष को=ज्ञानैकरसस्वरूप पूर्णपुरुष अर्थात् शरीर में विद्यमान हुए उस ब्रह्माऽऽत्मा को "यह=ब्रह्म मैं हूँ" इस प्रकार साक्षात् रूप से जानता है, प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा को अपने आत्मा से अभिन्नरूप में जानने वाले उस पुरुष का आत्मा, इसी शरीर में विनाशभाव को प्राप्त नहीं हुआ करता है, क्योंकि ज्ञानी का उत्क्रमण=लोकाऽन्तर्गमन नहीं हुआ करता है । यतः आत्मा का नाश शरीर से उत्क्रमण होने के कारण ही होता है । श्रुति भी प्रश्नपूर्वक ज्ञानी के उत्क्रमणाऽभाव को दर्शाती हुई कुछ इसी प्रकार कहती है—इस ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण करते हैं? अथवा नहीं? महर्षि याज्ञ्यवल्क्य ने उत्तर दिया—नहीं, वे प्राणोपाधिक जीवाऽऽत्मा इस सर्वव्यापक परमेश्वर में यहीं लीन हो जाते हैं, ज्ञानी के प्राण=प्राणोपाधिक जीव उत्क्रमण नहीं करते हैं । जो इस प्रकार जानता है वह ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्मतत्त्व में लीन हो जाया करता है ।" जिस परमेश्वर को जानकर आत्मा का उत्क्रमणाऽऽत्मक विनाश नहीं होता है, उस आदिपुरुष परमाऽऽत्मा को योगिजन ही देखने में सफल होते हैं ।।४/१८।।

शां० भा०—यस्मात् तद्विज्ञानादेव नाऽऽत्मनो विनाशः—

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस कारण से ब्रह्माऽऽत्मविज्ञान से ही आत्मा का विनाश नहीं होता है । इस विषय में आगे का ग्रन्थ दृढता सम्पादनाऽर्थ कहा जा रहा है—

मू०— तस्मात् सदा सत्कृतः स्यान्न मृत्युरमृतं कुतः ।
सत्यानृते सत्यसमाऽनुबन्धिनी सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/१९।।

अन्वयः—तस्मात्, सदा, सत्कृतः, स्यात्, न, मृत्युः, कुतः, अमृतम्, सत्याऽनृते, सत्यसमाऽनुबन्धिनी,च, सतः, योनिः, च, असतः, एक एव ॥४/१९॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तस्मात्=इस कारण से, सदा=सर्वदा, सत्कृतः=सत्कार परायण, स्यात्=हुआ तो, न मृत्युः=मृत्यु नहीं हो सकेगी, कुतः=पुनः कहाँ से, अमृतम्=अमरत्व की अपेक्षा रह सकती है?, जिस कारण सत्यानृते=सत्य एवं असत्य ये दोनों, सत्य-समनुबन्धिनी=सत्य स्वरूप ब्रह्म के आश्रित हैं, च=और, सतः=सत्य का, योनिः=कारण, च=और, असतः=असत् का भी कारण, एक एव=एक ही ब्रह्म हुआ करता है। तम्=सर्वकारणीभूत, सनातनं भगवन्तम्=उस अनादि परमेश्वर को, योगिनः (एव) प्रपश्यन्ति=योगी जन ही देख पाते हैं ॥४/१९॥

भावाऽर्थप्रभा—इस कारण से हमेशा सत्स्वरूप सत्कृत होकर रहना चाहिए, जब पारमार्थिक रूप से मृत्यु नहीं है, तो पुनः अमरत्व (मोक्ष) की स्वरूपस्थिति कैसे निर्धारित हो सकती है? सत्य और असत्य ये दोनों समानरूप से सत्यस्वरूप ब्रह्म के आश्रित हैं, क्योंकि सत्य एवं असत्य इन दोनों का मूल कारण एक ब्रह्म ही है। सत्य एवम् असत्य ये दोनों जिसके अधीन हुआ करते हैं। उस सनातन परमेश्वर को योगिजन ही देख पाते हैं ॥४/१९॥

शां० भा०—तस्मादिति। सदा=सर्वदा=अहर्निशं सत्कृतः स्यात्=सच्चिदानन्दाऽद्वितीयब्रह्माऽऽत्मत्वेनाऽभिमन्येत यः, स सदा सत्कृतो भवति। तस्य न मृत्युः=जननमरण लक्षणः संसारो न भवेत्। अमृतं कुतः? मृत्युसापेक्षत्वादमृतत्वस्य तदभावे कुतः प्रसक्तिः। तथा च श्रुतिः—"मृत्युर्नाऽस्त्यमृतं कुतः" इति।

सत्याऽनृते च वर्तेते सत्यसमाऽनुबन्धिनी परमाऽर्थसत्यमेकमधिष्ठानमनुबध्य वर्त्तेते रज्ज्वामिव सर्पः। कथमेतदवगम्यते—सत्याऽनृते सत्यसमाऽनुबन्धिनीति? तत्राऽऽह—सतश्च लौकिकस्य योनिः=कारणम्, असतश्च व्यावहारिकस्य रजताऽऽदेः, एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म यस्मात् प्रवदन्ति, तस्मात् सत्याऽनृते स्वकारणभूतसत्यसमाऽनुबन्धिनीति। यदात्मतत्त्वज्ञानाऽऽत्मकारणान्मृत्योर्विनाशः, यमनुबध्य सत्याऽनृते वर्त्तेते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥४/१९॥

भाष्याऽर्थप्रभा—सदा=सर्वकाल में=रात-दिन निरन्तर सत्कृत हुआ रहना चाहिए, इसका भाव यह है कि—जो अपने आपको हमेशा सच्चिदानन्दाऽद्वितीय ब्रह्मरूप से अभिन्न समझता है वह सदा सत्कृत हुआ रहता है। इस प्रकार जो सर्वदा सत्कृत होकर ही रहा करता है, उस ब्रह्माऽऽत्माऽनुभवी को मृत्युस्वरूप जन्म-मरणाऽऽदिस्वरूप संसार की प्राप्ति नहीं होती है। अर्थात् अमरतालक्षणमोक्ष उसी के स्वरूप में उपलब्ध होता है, जो अपने स्वरूप को "मैं ही ब्रह्म हूँ।" इस प्रकार के ज्ञानाऽभ्यास से सर्वदा समन्वित

होता है। क्योंकि अमृत मृत्यु सापेक्ष होता है और जब प्राणी के लिए मृत्यु ही न हो तो पुनः मृत्युरहित प्राणी का अमरत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? अर्थात् मृत्यु के अभाव में अमृतत्व की सत्ता ही नहीं हो सकती है। इस विषय में श्रुति भी कहती है— "मृत्युर्नाऽस्त्यमृतं कुतः?"=यदि जन्म-मरणाऽऽत्मक संसाररूपी मृत्यु ही इस लोक में नहीं हो, तो पुनः जन्म-मरणाऽऽदि स्वरूप मृत्यु के सम्बन्ध का अभावाऽऽत्मक मोक्ष कैसा हो सकता था? अर्थात् मृत्यु के अभाव में तदभावस्वरूप मोक्ष का स्वरूप भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

सत्य और असत्य ये दोनों तो सत्यसमाऽनुबन्धी हैं, अर्थात् एक ही पारमार्थिक-सत्यस्वरूप अधिष्ठान का आश्रयण करके वर्त्तमान रहा करते हैं, अर्थात् सत्यस्वरूप परमाऽऽत्मा में ही सत्य और असत्य ये दोनों अपने-अपने स्वरूपस्थिति को प्राप्त करके विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार एक रस्सी में भ्रमज्ञानजन्य मिथ्याभूत सर्प की और प्रमाज्ञानविषयीभूत सर्प के अभाव की स्वरूपसत्ता पूर्वोत्तरकाल में उपलब्ध होती है। **प्रश्न**—यह बात किस प्रकार जानी जाती है कि—सत्य और असत्य ये दोनों एक ही अधिष्ठानाऽऽत्मक सत्य में रहा करते हैं? इस विषय में कहते हैं कि—जिस कारण से सत् अर्थात् स्वर्ण आदि से निर्मित कर्णाभूषणाऽऽदिस्वरूप लौकिकवस्तुओं का कारणीभूत रजतपिण्ड स्वर्णपिण्डाऽऽदि और असत्=रजतपिण्ड-स्वर्णपिण्डाऽऽदिकों से बनाए गये स्वर्णकुण्डल रजतकुण्डल आदि व्यावहारिक पदार्थों का कारण एकमात्र अद्वितीयब्रह्म को ही जिस कारण से ज्ञानीजन कहते हें। इसलिए सत्य और असत्य (व्यावहारिक जगत् के कारण और कार्य) ये दोनों अपने पारमार्थिक कारणीभूत सत्यब्रह्म के साथ समानरूप से बँधे होते हैं। जिस आत्मतत्त्वविषयक ज्ञान के कारण मृत्यु का विनाश हो जाता है, तथा जिसके आश्रित हुए सत्य और अनृत ये दोनों रहा करते हैं, उसे योगिजन ही अपने आत्मा के रूप में अनुभव कर पाते हैं ॥४/१९॥

(आत्मवस्तु के सर्वकारणत्व का वर्णन)

मू०— अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदये निविष्टः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥४/२०॥

अन्वयः—असौ, अङ्गुष्ठमात्रः, अन्तरात्मा, पुरुषः, हृदये, निविष्टः, न, दृश्यते, च, सः, दिवारात्रम्, अतन्द्रितः, तम्, मत्वा, कविः, प्रसन्नः, आस्ते ॥४/२०॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—असौ अङ्गुष्ठमात्रः=वह अँगूठे के मात्र परिमाण वाला, अन्तरात्मा पुरुषः=अन्तर्यामी पुरुष, हृदये निविष्टः=हृदय में निवास करता हुआ भी, न दृश्यते=रूपाऽऽदिशून्य होने के कारण दिखते नहीं, च=और, अजः=जन्माऽऽदिरहित हुआ भी,

चरः=जगत्स्वरूप है, च=और, सः=साधकपुरुष, दिवारात्रम्=दिन रात, अतन्द्रितः= सावधानी के साथ, तम्=उस अन्तर्यामी को, मत्वा=अन्नमयाऽऽदि पाँच कोशों से व्यतिरिक्त रूप में निश्चय करके, कविः=तत्त्वदर्शी, प्रसन्नः= कृतकृत्य, आस्ते=हो जाता है ।।४/२०।।

भावाऽर्थप्रभा—वह अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला अन्तर्यामी परमेश्वर सबके हृदय के मध्य स्थित होता हुआ भी रूपाऽऽदि धर्मों से रहित होने के कारण प्राणिमात्र के दर्शन का अविषय होता है। सूक्ष्मदर्शी विद्वान् सर्वकाल में सावधान होकर उस पञ्चकोशाऽऽतीत परमाऽऽत्मा का अपने आत्मस्वरूप में अनुभव करके कृतकृत्य हो जाता है ।।४/२०।।

शां० भा०—अङ्गुष्ठमात्र इति। आकाशाऽऽदिदेहान्तं जगत् सृष्ट्वा हृदये निविष्टः अजः चरः=चराऽचराऽऽत्मा सन् न दृश्यते स्वेनाऽऽत्मना सच्चिदानन्दाऽद्वितीयेन। तम् अहोरात्रम् अतन्द्रितो भूत्वा अन्नाऽऽदिकोशपञ्चकेभ्यो निष्क्रम्य सर्वाऽन्तरात्मानं मत्त्वा कविरास्ते प्रसन्नः=कृताऽर्थः सन्नित्यर्थः ।।४/२०।।

भाष्याऽर्थप्रथा—आकाश से लेकर स्थूलशरीर तक समस्त जगत् की सृष्टि करके, उन सब सृष्ट वस्तुओं के हृदय में प्रविष्ट हुआ वह परमाऽऽत्मा अजन्मा पुरुष चराऽचर का स्वरूप होने से, अपने सच्चिदानन्द अद्वितीय स्वरूप से साधारण प्राणियों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन पाता है। उस परमेश्वर को सूक्ष्मतत्त्वदर्शी समस्तकाल में शान्त रहकर आत्मतत्त्व के उपाधिभूत अन्नमयाऽऽदि पाँचों कोशों से अपनी चिन्तनशक्ति द्वारा पृथक् करके सर्वप्राणी के अन्तरात्मा को अपने आत्मा के रूप में निश्चय करके, आत्मचिन्तकविद्वान् प्रसन्न अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है ।।४/२०।।

शां० भा०—ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वमाह—

भाष्याऽर्थप्रभा—आगे के दो मन्त्रों से ब्रह्म के जगत् उपादानकारणत्वपक्ष को कहा जाता है—

मू०- तस्माच्च वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रलयस्तथा।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्माच्च प्राण आगतः ।।४/२१।।
तत्प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद्यशः।
भूतानि यज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र च ।।४/२२।।

अन्वयः—तस्मात्, वायुः, आयातः, तस्मात्, अग्निः, च, सोमः, च, तस्मात्, च, प्राणः, आगतः, च, तथा, तस्मिन्, प्रलयः (आयातः) ।।४/२१।।

तत्, प्रतिष्ठा, तद्, अमृतम्, तद्, ब्रह्म, (तत्) लोकाः, तद्, यशः, तस्मात्,

भूतानि, यज्ञिरे, तत्र च प्रलयम्, यान्ति ॥४/२२॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—तस्मात्=उस ब्रह्म से, वायुः=वायु, आकाश, अग्नि, जल एवं पृथिवी ये पाँचों भूत, आयातः=उत्पन्न हुए हैं। उसी ब्रह्म से, अग्निः च, सोमः च= अग्नि भोक्ता पुरुष और सोम=भोज्यपदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तस्मात् च प्राणः आगतः=उसी ब्रह्म से पुनः प्राण=शरीर एवम् इन्द्रियों का समुदाय उत्पन्न हुआ है। च=और, तथा= जिस प्रकार ये वस्तुएँ उस ब्रह्म से प्रकट हुए थे, उसी प्रकार, तस्मिन्=सर्वोपादानभूत उस ब्रह्म में, प्रलयः (आयातः)=विलीनभाव को प्राप्त (हुए) होते हैं ॥४/२१॥

तत्=सर्वकारणीभूत वह ब्रह्म, (सम्पूर्ण संसार की) प्रतिष्ठा=आश्रय है। तद्=वह ब्रह्म, अमृतम्=सबके मोक्ष का स्वरूप है, तद् ब्रह्म=वह परमाऽऽत्मा सर्वकार्य का कारण है, कार्य-कारण में अभिन्न भाव होने के कारण ही ब्रह्म, लोकाः=कार्याऽऽत्मक समस्त लोक भी है। तद् यशः=वही ब्रह्म यशस्वियों का यश है, तस्मात् भूतानि यज्ञिरे=उसी ब्रह्म से समस्त स्थूलसूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं। तत्र च प्रलयं यान्ति=और उसी ब्रह्म में समस्त कार्य जगत् का लय हुआ करता है ॥४/२२॥

भावाऽर्थप्रभा—उस पूर्ण परमाऽऽत्मा से ही आकाशाऽऽदि सूक्ष्म एवं स्थूल पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। उसी से अग्नि=भोक्ता पुरुष और सोम=भोग्य वस्तु, तथा प्राण=शरीर-इन्द्रियों का समुदाय (अर्थात् भोग्य-भोक्तारूप में स्थूल जगत्) उत्पन्न हुआ करता है। तथा उत्पन्न हुए समस्त जगत् का पुनः उसी सर्वकारण में लय हुआ करता है ॥४/२१॥

परमाऽऽत्मा जातमात्र के आधार हैं, वे ही सबके मोक्ष स्वरूप हैं, वे ही समस्त जगत् के पालक रूप से आश्रय हैं। वे ही ब्रह्म (सर्वकारण) हैं और वे ही यशस्वियों के यश हैं, उन्हीं से समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। एवम् अन्त में समस्त जगत् स्वरूप कार्य का उसी में लय हो जाता है ॥४/२२॥

शां० भा०—तस्माच्चेति द्वाभ्याम्। श्लोकौ स्पष्टौ।

भाष्याऽर्थप्रभा—'तस्मात् च'' इत्यादि रूप में दो श्लोकों में ब्रह्म के जगत् उपादानत्व को प्रकाशित किया गया है, किन्तु दोनों श्लोकों के पुनः स्पष्ट अर्थ होने से इस पर भाष्य व्याख्यान आचार्य द्वारा छोड़ दिये गये हैं ॥४/२१-२२॥

शां० भा०—सर्वमिदं ब्रह्मणः सकाशादुद्भूतं तत्रैव लीयते इत्युक्तं तदेव विवृणोति—

भाष्याऽर्थप्रभा—''यह समस्त जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और उसी में लीन हो जाता है''—इस तथ्य को प्रकाशित किया गया, अब उसी कहे हुए संक्षिप्त कथन

का व्याख्यान द्वारा विस्तार किया जा रहा है—

मू०— उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च दिशश्च शुक्लं भुवनं बिभर्ति ।
तस्माद्दिशः सरितश्च श्रवन्ति तस्मात् समुद्रा विहिता महान्तः ।।४/२३।।

अन्वयः—शुक्लः, उभौ, देवौ, च, पृथिवीम्, च, दिवम्, दिशः, च, भुवनम्, विभर्ति, तस्मात्, दिशः, च, सरितः, श्रवन्ति, तस्मात्, महान्तः, समुद्राः, विहिताः ।।४/२३।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—शुक्लम्=विशुद्ध ब्रह्म ही, उभौ देवौ=जीव और ईश्वर नामक इन दोनों देवों को, च=और, पृथिवीं च दिवम्=पृथिवी आरैर दिव्लोक को, दिशः च भुवनम्=दिशाओं और चौदहों भुवनें को, बिभर्ति=बना करके धारण और पोषण किया करते हैं। तस्मात्=उसी शुद्ध ब्रह्म से, दिशः=उपदिशाएँ, च=और, सरितः स्रवन्ति=नदियाँ प्रवाहित होती हैं। तस्मात्=उसी से, महान्तः समुद्राः=विशाल आकार वाले समुद्र, वाहिताः=उत्पन्न हुए हैं ।।४/२३।।

भावाऽर्थप्रभा—वह विशुद्ध परमाऽऽत्मा ही, जीव और ईश्वर इन दोनों देवों को, पृथिवी को, स्वर्ग को, दिशाओं को, एवं समस्त भुवन को, धारण करके पुष्ट किया करते हैं। इसी ब्रह्म से दिशाएँ एवं नदियाँ प्रवाहित हुआ करती हैं, एवं इसी ब्रह्म से महान् समुद्र उत्पन्न हुए हैं ।।४/२३।।

शां० भा०—उभाविति। देवौ=जीवेश्वरौ शुक्लम्=ब्रह्मकर्तृ बिभर्ति। तस्माद्=ब्रह्मणः सकाशाद् दिश उत्पद्यन्ते "एतस्यैवाऽक्षरस्य प्रकाशने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति श्रुतेरर्थः प्रतिपादितः ।।४/२३।।

भाष्याऽर्थप्रभा—शुक्ल=विशुद्धब्रह्मस्वरूप कर्ता जीव और ईश्वर इन दोनों देवों को धारण करता है। उस शुक्ल ब्रह्म से ही दिशाएँ उत्पन्न होती हैं। 'हे गार्गि! इस अविनाशी अक्षर के शासन में ही सूर्य और चन्द्रमा आकाश में स्थिर होकर विद्यमान हैं।" इस श्रुति के अर्थ को ही उपर्युक्त श्लोक से प्रदर्शित किया गया है ।।४/२३।।

(ब्रह्म की अनन्तता का वर्णन)

शां० भा०—इदानीं ब्रह्मणोऽनन्तत्वं कथयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—अग्रिम श्लोक से ब्रह्म की अनन्तस्वरूपता को कहने जा रहे हैं—

मू०— यः सहस्रं सहस्राणां पक्षानाहृत्य सम्पतेत् ।
नान्तं गच्छेत् कारणस्य यद्यपि स्यान्मनोजवः ।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४/२४।।

अन्वयः—यः, सहस्राणाम्, सहस्रम्, आहृत्य, सम्पतेत्, कारणस्य, अन्तम्, न, गच्छेत्, यद्यपि, मनोजवः, स्यात्, तम्, सनातनम्, भगवन्तम्, योगिनः, प्रपश्यन्ति ।।४/२४।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—यः=जो कोई भी व्यक्ति, सहस्राणां सहस्रम्=हजार का हजार गुणा=दश लाख पंखों, अथवा अनन्त पंखों को, आहृत्य=बना करके अर्थात् धारण करके, सम्पतेत्=दूर-दूर तक उड़कर शीघ्रता के साथ चले, तथाऽपि वह अनन्त पंखों वाला पुरुष, कारणस्य=सृष्टि के परम कारणस्वरूप ब्रह्म का, अन्तं न गच्छेत्=पार नहीं प्राप्त कर सकता है । यद्यपि=चाहे वह, मनोजवः स्यात्=मन की वेग से चलने वाला ही क्यों न हो । तं सनातनं भगवन्तम्=उस अनादि परमेश्वर को योगी लोग ही प्रत्यक्ष कर पाते हैं ।।४/२४।।

भावाऽर्थप्रभा—जो व्यक्ति चाहे दश लाख, अथवा अनन्त पंखों को धारण करके उड़े और यदि वह मन के समान शीघ्राऽतिशीघ्र वेगयुक्त गति वाला भी हो, तथाऽपि सर्वकारण कारणीभूत परमाऽऽत्मा का अन्त नहीं पा सकता है । उस अपरिमित स्वरूप वाले भगवान् का योगी जन ही साक्षात् कर पाते हैं ।।४/२४।।

शां० भा०—य इति । यः=पुरुषः सहस्राणां सहस्रं पक्षान् आहृत्य=आत्मनः पक्षान् कृत्वा, सम्पतेत् अनेकशः कोटिकल्पमपि पुरुषो नाऽन्तं गच्छेत् सर्वकारणस्य= परमाऽऽत्मनः, यद्यप्यसौ मनोजवः स्यात्, तथाऽपि तस्याऽन्तं न गच्छेत् । यस्मादन्तं न गच्छेत् तस्मादनन्तः=परमाऽऽत्मेत्यर्थः । योऽनन्तः=परमाऽऽत्मा तं योगिन एव पश्यन्ति ।।४/२४।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो व्यक्ति दश लाख, वा दश करोड़, या पुनः अपने स्वरूप में अनन्त पक्षों (पंखों) को एक साथ धारण करके, अथवा अनन्त पंखों को अपने शरीर में बना करके अनेक प्रकार से करोड़ों कल्प पर्यन्त भी उड़ता रहे, उसके उपरान्त भी वह सबसके कारणीभूत परमाऽऽत्मा के अन्त का पार नहीं पा सकता, इस प्रकार का व्यक्ति गरुड आदि वेगशाली पक्षी की गति को कौन पूछे, किन्तु मन के समान सर्वविलक्षण वेगवान् भी हो, तो पर भी उस परमेश्वर का अन्त पार नहीं सकता है । यतः कोई भी महान् से महान् व्यक्ति भी उसका पार पा नहीं सकता, अतः परमेश्वर के स्वरूप की अनन्तता पर्यवसित होती है । जो अनन्तस्वरूप परमाऽऽत्मा है, उसको योगी लोग ही अनुभव कर पाने में सक्षम हैं, अन्य नहीं ।।४/२४।।

शां० भा०—किञ्च—

भाष्याऽर्थप्रभा—इसके अतिरिक्त और भी इस विषय में कहने योग्य यह है—

मू०— अदर्शने तिष्ठतिरूपमस्य पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः ।।
हीनो मनीषी मनसाऽभिपश्येद् य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।४/२५।।

अन्वयः—अस्य, रूपम्, अदर्शने, तिष्ठति, च, सुसमिद्धसत्त्वाः, एनम्, पश्यन्ति, हीनः, मनीषी, मनसा, अभिपश्येत्, च, यः, एनम्, विदुः, ते, अमृताः भवन्ति ॥४/२५॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—अस्य=इस परमेश्वर का, रूपम्=स्वरूप, अदर्शने तिष्ठति=समस्त प्रमाणों से ग्रहण होने के सर्वथा अयोग्यता की कोटि में, (तिष्ठति)=अवस्थित है, च=किन्तु, सुसमिद्धसत्त्वाः=यज्ञाऽऽदि कर्मों से एवं परमेश्वरीय उपासना से सम्पन्न हुए निर्मल अन्तःकरण वाले ही, एनम्=इस परमेश्वर को, पश्यन्ति=देख पाने में योग्य होते हैं। अतः, हीनः=समस्त ईश्वर दर्शन के प्रतिबन्धकीभूत मलों से रहित, तथा, मनीषी=सभी इन्द्रियों के साथ-साथ मन को अपने अधीन कर पाने में कुशल योगी, मनसा=निर्मल मन से, अभिपश्येत्=सुलभता के साथ प्रत्यक्ष अनुभव कर पाने में समर्थ हो सकता है, च=और, यः=जो, एनम्=इस ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व को, विदु=प्राप्त कर लेते हैं, ते=वे, अमृताः भवन्ति=आत्म लोक में लीन हो जाते हैं।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस परमाऽऽत्मा का स्वरूप सकल प्रमाणों के व्यापार का अविषय है, अर्थात् किसी भी प्रत्यक्षाऽऽदि प्रमाणों से वह जानने के योग्य नहीं है, किन्तु जिनका अन्तःकरण सर्वभाव से निर्मल हो गया है, वे ही इस परमेश्वर का अनुभव कर पाते हैं। अतः जो राग-द्वेषाऽऽदि दोषों से सर्वथा विनिर्मुक्त है, वैसा बुद्धिमान् पुरुष ही इस परमेश्वर को विशुद्ध मन के द्वारा देख सकता है। जो इस तत्त्व को जान लेते हैं वे मृत्यु को पार कर अमर हो जाते हैं ॥४/२५॥

शां० भा०—अदर्शने इति। अदर्शने=दर्शनाऽयोग्यविषये तिष्ठति रूपमस्य=परमाऽऽत्मनः। तथा श्रुतिः "न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य" इति। पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः=सुष्ठु समिद्धम्=सम्यग्दीप्तं सत्त्वम्=अन्तःकरणं यज्ञाऽऽदिभिर्विमलीकरण-संस्कारेण येषां ते सुसमिद्धसत्त्वाः। यस्मादेवम्, तस्माद्धीनो=रागद्वेषाऽऽदिमलरहितो विशुद्धसत्त्वो मनीषी मनसाऽभिपश्येत्। य एनम्=परमाऽऽत्मानं विदुरहमस्मीति अमृताः=अमरधर्माणस्ते भवन्ति ॥४/२५॥

भाष्याऽर्थप्रभा—इस परमेश्वर का स्वरूप अदर्शने=दर्शनविषय बनने के सर्वथा अयोग्य हुआ स्थित है। इस विषय को प्रकाशित करने वाली श्रुति भी कहती है—"इस परमाऽऽत्मा का स्वरूप दृष्टि के=प्रमाणमात्र के अधिकार में नहीं वर्त्तमान होता है।" तथाऽपि इस ब्रह्म को सम्यक् प्रकार से शुद्ध अन्तःकरण वाले देख पाते हैं। यद्यपि यह दर्शन के (सर्वप्रमाण विषय के)अयोग्य होकर स्थित है, तथाऽपि इस परमाऽऽत्मतत्त्व का प्रात्यक्षिक अनुभव निर्मल अन्तःकरण वाले करते ही हैं। वे दर्शन करने वाले कौन हो सकते हैं? इसके उत्तर में ही "सुसमिद्धसत्त्वाः" कहा गया है, जिसका तात्पर्यार्थ होगा—

अन्त:करण की शुद्धि करने वाले यज्ञाऽऽदि संस्कारों से निजके सत्त्व=अन्त:करण पूर्णरूप से समिद्ध=दीप्त, वा प्रज्वलित हुआ करते हैं, वे विशुद्धसत्त्व नाम से कहे जाते हैं।

जिस कारण से विशुद्धअन्त:करण ही ब्रह्माऽऽत्म प्रत्यक्ष करने में सक्षम होता है, इसीलिए हीन=राग-द्वेषाऽऽदि स्वरूपमलों से रहित विशुद्धचित्त, बुद्धिमान पुरुष निर्मल मन के माध्यम से इस परमेश्वर को देख पाने में सफल हुआ करता है। अत: जो इस परमाऽऽत्मा को "यह ब्रह्म मैं हूँ।" इस प्रकार से जानते हैं, वे अमृत=अविनाशी स्वरूप में परिणत हो जाते हैं ।।४/२५।।

(आत्मज्ञ की नि:शोकता का वर्णन)

मू०— इमं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।

अन्यत्राऽन्यत्र युक्तषु स किं शोचेत् ततः परम् ।।४/२६।।

अन्वय:—य:, अन्यत्राऽन्यत्र, युक्तेषु, सर्वभूतेषु, इमम्, आत्मानम्, अनुपश्यति तत:, परम्, किं शोचेत् ।।४/२६।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—य:=जो पुरुष, अन्यत्राऽन्यत्र=शरीर-इन्द्रियाऽऽदिकों से, युक्तेषु=युक्त, सर्वभूतेषु=सभी शरीरधर्मी प्राणियों में, इमम्=अहंकार के द्वारा ज्ञात होने वाले इस, आत्मानम्=परमेश्वर का, अनुपश्यति=अनुभव किया करता है। तत:परम्=उस परमाऽऽत्माऽनुभव से आगे उससे भी उत्कृष्ट, किम्=किस वस्तु की, शोचेत्=चिन्ता कर सकता है? अर्थात् किसी भी अन्य वस्तु की नहीं ।।४/२६।।

भावाऽर्थप्रभा—शरीरेन्द्रियाऽऽदि स्वरूप अन्य-अन्य वस्तुओं में अभिमान रखने वाले समस्त जीवों में अनुस्यूत जो इस परमेश्वर को अनुगत (व्याप्त हुआ)देखा करता है। उसकी ऐसी दृष्टि होने के उपरान्त वैसा पुरुष पुन: किस अन्य उत्कृष्ट वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा कर सकता है? अर्थात् किसी की भी नहीं ।।४/२६।।

शां० भा०—इममिति। इमम्=सर्वाऽन्तरं सर्वभूतेषु=सर्वप्राणिषु आत्मानं योऽनुपश्यति, अन्यत्राऽन्यत्र देहेन्द्रियाऽऽदियुक्तेषु=शरीराऽऽद्याभिमानिषु, स किं शोचेत् तत: परं सर्वभूतेषु स्वाऽऽत्मानं पश्यन् तत: परं किमर्थमनुशोचति सर्वभूतस्थमात्मानमनुपश्यन् कृताऽर्थत्वान्नाऽनुशोचतीत्यर्थ:। तथा च श्रुति:—'तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:।" इति ।।४/२७।।

भाष्याऽर्थप्रभा—जो सम्पूर्णभूतों में अर्थात् समस्तप्राणियों में इस आत्मतत्त्व को देखता है। किस प्रकार के प्राणियों में ब्रह्ममयदृष्टि करता है?—इस पर कहा गया—

अन्यत्राऽन्यत्र=शरीरेन्द्रियाऽऽदिकों से युक्त हुए प्राणियों में अपने आत्मस्वरूपता का अनुभव करते हुए, अर्थात् विनाशशील शरीराऽऽदिकों में अविनाशी आत्मा को देखते हुए, शोकनिवारक आत्मा का सर्वत्र प्रात्यक्षिक अनुभव होने पर भी शोक किस कारण से आत्मद्रष्टा करेगा? इसका भाव यह है कि—आमतत्त्व को सर्वप्राणियों में अनुभव करने से कृताऽर्थ हो जाने के कारण वह आत्मद्रष्टा पुनः अनुशोकाऽऽत्मक पश्चात्ताप नहीं किया करता है। ऐसी ही बात श्रुति भी कहती है—उस अवस्था में सबमें अद्वैताऽऽत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष करने वाले पुरुष को क्या शोक अथवा मोह हो सकता है ॥४/२६॥

(आत्मज्ञपुरुष की आप्तकामता का वर्णन)

शां० भा०—तदेवाऽऽह—

भाष्याऽर्थप्रभा—आत्मज्ञपुरुष की पूर्ववर्णित आप्तकामता के ही स्पष्टीकरण के लिए आगे का श्लोक कहते हैं—

मू०— यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके।

एवं सर्वेषु भूतेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४/२७।।

अन्वयः—यथा, सर्वतः, सम्प्लुतोदके, महति, उदपाने, एवम्, सर्वेषु, भूतेषु, विजानतः, ब्राह्मणस्य ॥४/२७॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—यथा=जिस प्रकार जल पीने की इच्छा वाला पुरुष, सर्वतः= सर्वप्रकार से, सम्प्लुतोदके=जल से परिपूर्ण,महति=विशाल, उदपाने=जलाशय में जाकर अपनी प्यास की निवृत्ति भर जलों से ही प्रयोजन रखता है। जलाऽऽशय के समस्त जल को प्राप्त करने की इच्छा से जलाऽऽशय के साथ सम्बन्ध नहीं किया करता है। एवम्=इसी प्रकार, सर्वेषु भूतेषु=सभी प्राणियों में स्थित आत्मवस्तु को, विजानतः= दर्शन करने वाले, ब्राह्मणस्य=ब्रह्मज्ञानी को आत्मव्यतिरिक्त किसी से प्रयोजन नहीं रह जाता है ॥४/२७॥

भावाऽर्थप्रभा—जिस प्रकार सर्व ओर से जलपरिपूर्ण महान् जलाऽऽशय के प्राप्त होने पर भी जलपान एवं स्नान आदि से व्यतिरिक्त जलाशय के पृथक् अन्य जलों से आकांक्षा नहीं हुआ करती, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में आत्माऽनुभव करने वाले ब्रह्माऽऽत्मज्ञानी पुरुष को आत्मव्यतिरिक्त सांसारिक पदार्थों से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है ॥४/२७॥

शां० भा०—यथेति। यथा सर्वतः सम्प्लुतोदके महत्युदपाने कृतकृत्यस्य पुंसोऽल्पे उदपानेऽर्थो नाऽस्ति, एवं सर्वेषु भूतेषु आत्मानं विजानतो ब्राह्मणस्य किञ्चिदपि प्रयोजनं

न विद्यत इत्यर्थः। आत्मदर्शनेनैव कृताऽर्थत्वादिति भावः। तथा चाऽऽह भगवान् वासुदेवः— न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः'' इति ॥४/२७॥

भाष्याऽर्थप्रभा—जिस प्रकार सर्वप्रकार से भरे हुए विशाल जलाशय के रहने पर उस जलाशय से स्नान-पानाऽऽदि द्वारा कृतकृत्य हुए पुरुष का पुनः क्षुद्र जलाशयों से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में अखण्ड आत्मा का अनुभव करने वाले ब्रह्मज्ञानी का आत्मवस्तु से व्यतिरिक्त सांसारिक वस्तुओं से कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता है। क्योंकि आत्मज्ञानी आत्मदर्शन से ही कृताऽर्थ हो जाता है। ऐसा इसका भाव है। गीताजी में भगवान् कृष्ण जी भी इस विषय में अपना निश्चय कुछ इसी प्रकार व्यक्त किया करते हैं—समस्त प्राणियों में इस ब्रह्मज्ञानी के प्रयोजन का आधारस्वरूप कुछ भी शेष नहीं रह जाता है ॥४/२७॥

(स्वानुभव का प्रदर्शन)

शां० भा०—इदानीमुक्ताऽर्थस्य द्रढिम्ने वामदेवाऽऽदिवत् स्वाऽनुभवं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—आगे के श्लोक से उपयुक्ताऽर्थ की दृढता के लिए ऋषिवाम-देवाऽऽदि के समान अपने अनुभव को प्रदर्शित करते हैं—

मू०— अहमेवाऽस्मि वो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः।
आत्माऽहमस्य सर्वस्य यच्च नाऽस्ति यदस्ति च ॥४/२८॥

अन्वयः—अहम्, एव, वः, माता, अस्मि, पिता, (अपि, अस्मि) पुनः, पुत्रः, अस्मि, अस्य, सर्वस्य, आत्मा, अहम्, (अस्मि,) यत्, च, नाऽस्ति यत्, च, अस्ति, (तस्य, अहम्, एव, आत्माऽस्मि) ॥४/२८॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—हे धृतराष्ट्र! अहम् एव वः माता अस्मि=मैं ही तुम्हारी जन्मदात्री माता हूँ, पिता (अपि अहमेव अस्मि)=और पिता भी मैं ही हूँ, (अधिक क्या कहूँ) अस्य सर्वस्य=इस सम्पूर्ण चराऽचर जगत् का भी, आत्मा अहम्=कारणीभूत आत्मा मैं ही हूँ। यत् च नाऽस्ति, यत् च अस्ति (तस्य अहमेव आत्मा अस्मि)=इस संसार में जो कुछ वर्त्तमान में है और भविष्य में उत्पन्न होने वाला होने से वर्त्तमान में नहीं है वह सब भी मैं आत्मा ही हूँ ॥४/२८॥

भावाऽर्थप्रभा—हे धृतराष्ट्र! मैं ही तुम्हारा माता एवं पिता हूँ और मैं ही दुर्योधनाऽऽदि के रूप में तुम्हारा पुत्र भी हूँ। इस जगत् में जो कुछ विद्यमान है, अथवा जो कुछ अनुपलब्ध है इस सबका मैं ही आत्मा हूँ ॥४/२८॥

शां० भा०—अहमिति। हे धृतराष्ट्र! अहमेवाऽस्ति वः=युष्माकं माता=जनयित्री, पिता अपि अहमेव। युष्माकं पुत्रो=दुर्योधनाऽदिरहमस्मि। किं बहुना आत्मा अहमस्मि,

सर्वस्य प्राणिजातस्य यच्च नाऽस्ति यदस्ति च तस्याऽहमेवाऽऽत्मा ।।४/२८।।

भाष्याऽर्थप्रभा—हे धृतराष्ट्र! मैं ही तुम्हारी जन्म देने वाली माता और मैं ही पिता हूँ। तथा तुम्हारा पुत्र=दुर्योधन आदि भी मैं ही हूँ। अधिक क्या कहूँ। सम्पूर्णप्राणिसमुदाय का मैं ही आत्मा हूँ=जो कुछ है और जो कुछ नहीं है उन सबका मैं ही आत्मा हूँ ।।४/२८।।

शां० भा०—एवं यतावदाधिभौतिकं पित्रादिकं दर्शितम्। अथेदानीमाधिदैविकं पित्रादिभावं दर्शयति—

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार यहाँ तक के ग्रन्थ से आधिभौतिक पिता आदि दिखलाया गया, अब यहाँ से आधिदैविक पिता आदि को दिखलाते हैं—

मू० — पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत! ।

ममैव यूयमात्मस्थान मे यूयं न चाऽप्यहम् ।।४/२९।।

अन्वयः—भारत! स्थविरः, पितामहः, च, पिता, पुत्रः, मम, एव, यूयम्, आत्मस्थाः, न, मे, यूयम्, च, नाऽपि, अहम् ।।४/२९।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—भारत!=हे राजन्! मैं ही स्थविरः=वृद्ध, पितामहः= पितामह, च=और, पिता=चराऽचर का पिता, तथा पुत्रः=सबका पुत्र हूँ। मम=मेरे, एव=ही, यूयम्=तुम लोग, आत्मस्थाः=आत्मा में रहने वाले हो, परन्तु वास्तविक रूप में, न=न तो, मे=मेरे, यूयम्=तुम लोग हो, च=और, नाऽपि=न ही, अहम्=मैं ही तुम लोगों में हूँ ।।४/२९।।

भावाऽर्थप्रभा—हे भारत! मैं ही वृद्ध पितामह, पिता एवं पुत्र भी हूँ। तुम सभी लोग मेरे ही आत्मस्वरूप में विद्यमान हो, तथा पारमार्थिक रूप से न तुम मेरे में हो और न मैं तुम लोगों में ही हूँ ।।४/२९।।

शां० भा०—पितामहोऽस्मि स्थविरो=वृद्धः,इन्द्राऽऽदेः पितामहोऽस्मि अनादिसिद्धः परमाऽऽत्मा सोऽप्यहमेव। यः पिता इन्द्राऽऽदेर्हिरण्यगर्भः सोऽप्यहमेव। तथा ममैव यूयम् आत्मस्थाः। एवं यूयं सर्वे परमाऽर्थतो न मे आत्मनि व्यवस्थिताः, न चाऽप्यहं युष्मासु स्थितः। तथा चाऽऽह भगवान्—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" इति ।।४/२९।।

भाष्याऽर्थप्रभा—मैं स्थविर=वृद्ध पितामह हूँ, अर्थात् इन्द्र आदि देवताओं का भी पितामह जो अनादिसिद्धपरमाऽऽत्मा, वह भी मैं ही हूँ। तथा जो इन्द्राऽऽदि देवों के पिता हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी हैं वह भी मैं ही हूँ। तुम सब मेरे स्वरूप में विराजमान हो, एवं तुम सभी लोग वास्तविकरूप से मेरे स्वरूप में न रहने वाले भी हो, तथा न मैं ही वास्तविक रूप से तुम लोगों में हूँ। "सब भूत मेरे स्वरूप में ही आश्रित हैं।" इत्यादि

गीताशास्त्र इसी ओर संकेत करते हैं ।।४/२९।।

शां० भा०—यद्यपि न ममाऽऽत्मनि यूयं व्यवस्थिताः, न चाऽप्यहं युष्मासु स्थितः, तथाऽपि—

भाष्याऽर्थप्रभा—यद्यपि मेरे आत्मस्वरूप में तुम लोग विराजमान नहीं हो और न मैं ही तुम लोगों में रहता हूँ, तो पर भी—

मू०— आत्मैव स्थानं मम जन्म चाऽऽत्मा ओत-प्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ।।४/३०।।

अन्वयः—मम, स्थानम्, एव, आत्मा, च, जन्म, आत्मा, अहम्, ओतप्रोतः, अजरप्रतिष्ठः, अहम्, दिवारात्रम्, अतन्द्रितः, अजः, चरः, मा, विज्ञाय, कविः, प्रसन्नः, आस्ते ।।४/३०।।

अन्वयाऽर्थप्रभा—मम=मेरा, स्थानम्=आश्रय=अधिष्ठान, आत्मा एव=आत्मा ही है, च=और, जन्म=मेरी उत्पत्ति का कारण भी, आत्मा=आत्मा ही है । अहम्=मैं, ओत-प्रोतः=चराऽचर जगत् में व्याप्त हूँ, अजरप्रतिष्ठः=स्वस्वरूप से च्युत न होने वाला स्वरूप ही मेरा अधिष्ठान है । अर्थात् जरा आदि विकारों से शून्य मेरा स्वरूप है, अहम्=मैं, दिवारात्रम्=दिनरात, अतन्द्रितः=चैतन्यस्वरूप होकर, अजः=अजन्मा हूँ, अजन्मा होते हुए भी चरः=गतिमान हूँ, मा=मुझको, विज्ञाय=जानकर ही, कविः=क्रान्तदर्शी विद्वान् लोग, प्रसन्नः=कृतकृत्य हुआ, आस्ते=सर्वदा के लिए स्थिर हो जाता है ।।४/३०।।

भावाऽर्थप्रभा—सनत्कुमार जी कहते हैं कि हे भगतवंशीय राजन्! आत्मा ही मेरी निवासभूमि है और आत्मा ही मेरा उत्पत्ति स्थान है, मैं जरा-मरण रहित अपनी महिमा में ही स्थित रहता हूँ । मैं ही अजन्मा चराऽचर स्वरूप हूँ, तथा दिन रात चैतन्य स्वरूप में स्थित होकर विराजमान रहने वाला हूँ । मुझ आत्मस्वरूप को जानकर आत्मज्ञपुरुष परमाऽऽनन्द में तल्लीन हो जाता है ।।४/३०।।

शां० भा०—आत्मैवेति । यद्यपि न ममाऽऽत्मनि यूयं व्यवस्थिताः, न चाऽप्यहं युष्मासु स्थितः, तथाऽपि आत्मैव स्थानम्=आत्मैवाऽऽश्रयः, जन्म चाऽऽत्मा=अस्य देवाऽऽत्मनः सर्वमुत्पन्नम् । तथा च श्रुतिः—"आत्मन एवेदं सर्वम्" इति । ओतप्रोतोऽहमेव=ओत-प्रोतरूपेण व्यवस्थितः जगदात्मा=युष्माकं जनयिता अजरप्रतिष्ठो=अजरे=जरामरणवर्जिते स्वे महिम्नि तिष्ठामीत्यजरप्रतिष्ठः । तथा च श्रुतिः—"स भगवः कस्मिंप्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति ।।४/३०।।

भाष्याऽर्थप्रभा—आत्मवस्तु ही मेरा स्थान=आश्रय है और आत्मवस्तु ही

जन्मस्थान है। क्योंकि इस आत्मा से ही सबकी उत्पत्ति हुई है। जैसा कि—"आत्मा से ही सब कुछ हुआ है।" इस प्रकार से श्रुति कहती है। मैं ही चराऽचर में ओत-प्रोत अर्थात् व्याप्त हुआ वर्त्तमान हूँ, (ओत-प्रोत रूप से अर्थात् कपड़े में व्याप्त सूते के समान सर्वत्र मैं ही अपने स्वरूप में स्थित हुआ जगदात्मस्वरूप हूँ। तुम सभी का उत्पादक, अजरप्रतिष्ठ=अजर=जरा मरण शून्य अपने स्वरूप में विराजमान हूँ, इस कारण से अजर में प्रतिष्ठित हूँ। इस विषय में श्रुति भी कहती है कि—भगवन्! वह आत्मवस्तु किसमें प्रतिष्ठित है? अपनी महिमा में ॥४/३०॥

मू०— अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुः ॥४/३१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-सनत्सुजातसंवादे श्रीसनत्सुजातीये चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अन्वयः—अणोः, अणीयान्, सुमनाः, सर्वभूतेषु, अवस्थितः, एवम्, सर्वभूतानाम्, पुष्करे, निहितम्, पितरम्, विदुः ॥४/३१॥

अन्वयाऽर्थप्रभा—अणोः=सूक्ष्म से (भी), अणीयान्=अत्यन्त सूक्ष्म, सुमनाः=राग-द्वेष एवं मोहाऽऽदि दोषों से शून्य हुआ शुद्ध मन से ग्राह्य, सर्वभूतेषु=सब प्राणियों में, अवस्थितः=स्थित हूँ, एवम्=इस प्रकार, सर्वभूतानाम्=सब प्राणियों के, पुष्करे=हृदयकमल के मध्य में, निहितम्=स्थित, पितरम्=सर्वरक्षक को, विदुः=ब्रह्मविद् लोग आत्मभाव से ही साक्षात्कार करते हैं ॥४/३१॥

भावाऽर्थप्रभा—वही परमात्मस्वरूप मैं सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मन वाला हूँ, अर्थात् राग-द्वेष, शोक-मोहादि धर्मों से रहित हूँ। मैं ही निर्गुण एवं सगुण रूप हूँ। मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय कमल में विराजमान हूँ। केवल मैं ही इस प्रकार का अनुभव आत्मविषय में नहीं करने जा रहा हूँ, प्रत्युत सभी ऋषिगण, समस्त प्राणियों के हृदय कमल के मध्य स्थित सबके रक्षक परमात्मा को इसी प्रकार जानते हैं। इस प्रकार आत्मस्थ परब्रह्म को पाकर साधक कृतकृत्य हो जाता है ॥४/३१॥

शां० भा०—अणोः=सूक्ष्मादणीयान्=सूक्ष्मतरः सुमनाः=शोभनं= रागद्वेषमात्सर्य-शोकमोहादिधर्मवर्जितं केवलं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्माकारं मनो यस्य स सुमनाः सर्वभूतेषु= सर्वेषु प्राणिषु हृदयकमलमध्ये अहमेवावस्थितः सर्वभूतात्मतया।

भाष्याऽर्थप्रभा—अणु-सूक्ष्म से भी अणीयान्-सूक्ष्मतर, सुमना-जिसका मन शोभन यानी राग, द्वेष,, मद, मात्सर्य, शोक और मोहादि धर्मों से रहित केवल

सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूप से स्थित है, उसे सुमना कहते हैं तथा सर्वभूत-समस्त प्राणियों के हृदयकमल में मैं ही सर्वभूतान्तर्यामीरूप से स्थित हूँ।

शां० भा०—एवं तावत्स्वानुभवो दर्शितः, इदानीं न केवलमस्मदनुभव एवात्र प्रमाणम्, अन्येऽप्येवमेवावगच्छन्तीत्याह-पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुरिति। येऽन्ये सनकसनन्दनसनातनवामदेवादयो ब्रह्मविदस्तेऽपि पितरं सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां पिता जनयिता यः परमेश्वरस्तं पुष्करे हृत्पुण्डरीकमध्ये निहितं विदुः, परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्तीत्यर्थः।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस प्रकार अपना अनुभव तो दिखा दिया। अब ''पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुः'' इस वाक्य से यह बतलाते हैं कि इस विषय में केवल मेरा अनुभव ही प्रमाण नहीं है, अपि तु दूसरे भी ऐसा ही अनुभव करते हैं, अर्थात् सनक, सनन्दन, सनातन, एवं वामदेव आदि जो दूसरे ब्रह्मवेत्ता हैं, वे भी जो समस्त प्राणियों का पिता-उत्पत्तिकर्ता परमात्मा है, उसे पुष्कर यानी हृदयकमल के भीतर छिपा हुआ ही जानते हैं। अर्थात् वे परमात्मा का आत्मभाव से ही साक्षात्कार करते हैं।

शां० भा०—तथा च श्रुतिस्तेषानुभवं दर्शयति— ''तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च'' इति बृहदारण्यके। ''एतत्साम गायन्नास्ते'' इति तैत्तिरीयके सामगानेन स्वानुभवो दर्शितः, आत्मनः कृतार्थत्वद्योतनार्थम्। तथा छान्दोग्येऽपि 'तद्धास्य विजज्ञौ' इति तलवकारे च ''अहमन्नम्'' इत्यादिना विदुषः स्वानुभवो दर्शितः।

भावाऽर्थप्रभा—इसी प्रकार श्रुति भी उनका अनुभव प्रदर्शित करती है। बृहदारण्यक में कहा है—'उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर ऋषि वामदेव ने कहा—''मैं मनु था और सूर्य भी मैं ही हूँ। तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में 'इस साम का गान करता हुआ विराजमान हुआ करता है।'' इसे श्रुति से सामगान द्वारा अपना कृतार्थत्व प्रदर्शित करने के लिए अपना अनुभव दिखलाया है। तथा छान्दोग्य में भी 'उसने इसे जान लिया' इस श्रुति से तलवकार (केन) में ''मैं अन्न हूँ'' इत्यादि श्रुति से भी विद्वान् का अनुभव दिखलाया गया है।

शां० भा०—तत्रैते श्लोका भवन्ति—

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावमीशमात्मना।

भावयन् षडिन्द्रियाणि संनियम्य निश्चलः॥

अस्ति वस्तु चिद्घनं जगत्प्रसूतिकारणम्।

न नश्वरं तदुद्भवं जगत्तमोनुदं च यत्।

तत्पदैकवाचकं सदामृतं निरञ्जनम् ।
चित्तवृत्तिदृक् सुखं तदस्म्यहं तदस्म्यहम् ।।

।। इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ श्रीसनत्सुजातीयभाष्ये
चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

भाष्याऽर्थप्रभा—इस विषय में ये श्लोक भी हैं—

'नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ईश्वर का आत्मस्वरू५ से चिन्तन करता हुआ, छहों इन्द्रियों (मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों) का निग्रह कर निश्चल भाव से (ऐसा चिन्तन करे—) जगत् की उत्पत्ति की कारणभूत कोई चिद्घन वस्तु है । उससे उत्पन्न हुआ जो नाशवान् जगत् है, वह अज्ञान की निवृत्ति करने वाला नहीं है । जिसका एकमात्र 'तत्' पद ही वाचक है और जो सुख सत्स्वरूप अमृत, निर्मल एवं चित्तवृत्तियों का साक्षी है, ''वही मैं हूँ'' वही मैं हूँ'' इत्यादि ।

।। इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-
सनत्कुमारसम्बादे श्रीसनत्सुजातीये श्रीपरिब्राजकाऽऽचार्य
श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य श्रीशङ्करभगवतः कृतस्य
श्रीसनत्सुजातीयभाष्यस्य व्याकरणन्यायसांख्ययोगपूर्वोत्तरमीमांसाचार्येण
मैथिलपण्डितेन पाठकोपाधिना श्रीचित्तनारायणेन
कृतयोः अन्वयाऽर्थप्रभाभावाऽर्थप्रभानामकयोः व्याख्ययोः
चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

सनत्सुजातीयश्लोकानुक्रमणिका

	अ.	श्लो.
अ		
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो	४	१३
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो	४	२०
अणोरणीयान्सुमनाः	४	३१
अदर्शने तिष्ठति	४	२५
अधर्मविदुषो मूढाः	१	४०
अनाढ्या मानुषे वित्ते	१	३६
अन्तवन्तः क्षत्रिय ते	३	१८
अपानं गिरति प्राणः	४	११
अभिजानामि ब्राह्मणम्	२	४५
अभिध्या वै प्रथमं	१	११
अमन्यमानः क्षत्रिय	१	१५
अमृत्युः कर्मणा केचित्	१	३
अर्हते याचमानाय	२	२६
अवारणीयं तमसः	३	२३
अश्रान्तः स्यादनादाता	१	३४
असाधना वापि ससाधना	४	१६
असिद्धिः पापकृत्यं च	२	२३
अस्मिंल्लोके तपस्तप्ते	२	१०
अस्मिंल्लोके विजयन्तीह	३	६
अहमेवास्मि वो माता	४	२८
आ		
आकाङ्क्षार्थस्य संयोगात्	३	१७
आख्यानपञ्चमैर्वेदैः	२	३५
आचार्ययो नमिह	३	५
आचार्याय प्रियं कुर्यात्	३	१२
आचार्येणात्मकृतं	३	११

	अ.	श्लो.
आत्मैव स्थानं मम	४	३०
आद्यां विद्यां वदसि	३	३
आपोऽथाद्भ्यः सलिलं	४	५
आभाति शुक्लमिव	३	१९
आस्यादेष निःसरते	१	७
इ		
इन्द्रियेभ्यश्च पंचभ्यः	२	३४
इमं यः सर्वभूतेषु	४	२६
उ		
उभे सत्ये क्षत्रियाद्य	१	४
उभौ च देवौ पृथिवीं	४	२३
उभौ लोकौ विद्यया	४	१७
ऋ		
ऋचो यजूंष्यधी रते यः	२	३
ए		
एकं पादं नोत्क्षिपति	४	१२
एकवेदस्य चाज्ञानात्	२	३७
एकैकमेते राजेन्द्र	२	१७
एतेन ब्रह्मचर्येण	३	१५
एतेनैव सगन्धर्वाः	३	१६
एवं दोषा दमस्योक्ताः	२	२९
एवं मृत्युं जायमानं	१	१६
एवंरूपो महानात्मा	४	१८
एवं ह्यविद्वान् परियाति	१	१८
क		
कथं समृद्धमत्यर्थं	२	११

	अ.	श्लो.
कर्मोदये कर्मफला०	१	९
कल्मषं तपसो ब्रूहि	२	१४
कस्यैष मौन: कतरन्नु	२	१
कामत्यागश्च राजेन्द्र	२	२७
कामानुसारी पुरुष:	१	१३
कालेन पादं लभते	३	१३
कोऽसौ नियुक्ते तमजं	१	१९
को ह्येवमन्तरात्मानं	१	२३
क्रोध: कामो लोभमोहौ	२	१६
क्रोधादयो द्वादश	२	१५
ग		
गत्वोभयं कर्मणा भुज्यते	१	२४
गूहन्ति सर्पा इव	४	१४
च		
चक्रे रथस्य तिष्ठन्तं	४	६
छ		
छन्दांसि नाम द्विपदां	२	४१
ज		
ज्ञानं च सत्यं च दम:	२	१९
ज्ञानादयो द्वादश	३	१४
ज्ञानादिषु स्थितोऽप्येवं	२	५१
ज्ञानेन चात्मानमुपैति	२	९
त		
ततो राजा धृतराष्ट्रो	१	१
तत्प्रतिष्ठा तदमृतं	४	२२
तदर्थमुक्तं तप एत०	२	८
तदर्धमासं पिबति	४	९
तदेतदह्ना संस्थितं	३	२४
तद्वै महामोहनमिन्द्रिया०	१	१०
तपोमूलमिदं सर्वं	२	१३
तस्माच्च वायुरायात:	४	२१
तस्मात्सदा सत्कृत:	४	१९
तस्मिंस्थितो वाऽप्युभयं	१	२३
तस्य सम्यक् समाचारम्	१	२७
तस्यैव नामादिविशेष०	२	७
तूष्णींभूत उपासीत	२	४७
ते मोहितास्तद्वशे	१	८
द		
दमोऽष्टादश दोष:स्यात्	२	२१
देहोऽप्रकाशो भूतानां	१	१४
दोषैरेतैर्वियुक्तं तु	२	३२
दोषो महानत्र विभेद०	१	२०
द्वादश पुगा: सरितो	४	८
द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति	१	४३
द्विवेदाश्चैकवेदाश्च	२	३६
न		
नचेद्वेदा वेदविद	२	६
न च्छंदांसि वृजिनात्	२	५
न तारकासु न च	३	२१
न वेदानां वेदिता	२	४२
न वै मानं च मौनं च	१	४१
न सादृश्ये तिष्ठति	४	७
नामाति शुक्लमिव	३	२०
नास्य पर्येषणं गच्छेत्	२	४६
नात्मानमात्मस्थ०	४	१५
नित्यमज्ञातचर्या मे	१	३१
निवृत्तेनैव दोषेण	२	३१
निष्कल्मषं तपस्त्वेतत्	२	१२

	अ.	श्लो.
नैतद्ब्रह्म त्वरमाणेन	३	२
नैनं सामान्यृचो वापि	२	४
नैवर्क्षु तन्न यजु:षु	३	२२
प		
पितामहोऽस्मि स्थविर:	४	२९
पूर्णात्पूर्णमुद्धरन्ति	४	३
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां	२	५०
प्रमादाद्वा असुरा:	१	५
ब		
ब्रह्मचर्येण या विद्या	३	४
म		
मदोऽष्टादशदोष: स्यात्	२	२४
मौनाद्धि मुनिर्भवति	२	४८
य		
य: सहस्रं सहस्राणाम्	४	२४
य एनं वेद तत्सत्यं	२	३८
यतो न वेदा मनसा	२	२
यत्तच्छुक्रं महज्ज्योति:	४	१
यत्र मन्येत भूयिष्ठं	१	२८
यत्राकथयमानस्य	१	२९
यथाऽऽकाशेऽवकाशो	४	४
यथा नित्यं गुरौ वृत्ति:	३	१०
यथोदपाने महति	४	२७
यदेतदद्धा भगवान्	१	२१
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र	२	३३
यमं त्वेके मृत्युमतो	१	६
यमप्रयतमानं तु	१	३८
यस्त्वेतेभ्योऽप्रवसेत्	२	२०
यस्माद्धर्मानाचरन्तीह	१	२२
यानेवाहुरिज्यया साधु	१	१७
यामांशभागस्य तथाहि	२	४४
ये यथा वांतमश्नन्ति	१	३५
येषां धर्मे न च स्पर्धा	१	२६
येषां धर्मेषु विस्पर्धा	१	२५
योऽन्यथासन्तमात्मानम्	१	३३
योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्	१	१२
यो वाऽकथयमानस्य	१	३०
यो वेद वेदान् स च	२	४३
ल		
लोकद्वेषोऽभिमानश्च	२	२२
लोकस्वभाववृत्तिर्हि	१	३९
व		
विद्याद्बहुपठन्तं तं	२	४०
श		
शरीरमेतौ कुरुत:	३	७
शिष्यवृत्तिक्रमेणैव	३	९
शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति	४	२
श्रीर्हि मानार्थसंवासात्	१	४२
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्याग:	२	२५
स		
संभोगसंविद्विषमेध०	२	१८
स आवृणोत्यमृतं	३	८
सत्यं ध्यानं समाधानं	२	२८
सत्यात्प्रच्यवमानानां	२	३९
सत्यात्मा भव राजेन्द्र	२	३०
सनत्सुजात यदिदं	१	२
सनत्सुजात यदि मां	३	१
सर्वान् स्विष्टकृतो देवान्	१	३७
सर्वार्थानां व्याकरणात्	२	४९
ह		
हिरण्यपर्णमश्वत्थम्	४	१०

**

अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

अद्वैतसिद्धिः । मधुसूदनसरस्वती । व्यासपतिकृत 'न्यायामृत' एवं स्वामी योगीन्द्रानन्द सरस्वतीकृत 'अद्वैतसिद्धि' व्याख्या सहित

आत्मतत्त्वविवेकः । उदयनाचार्यकृत । संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । केदारनाथ त्रिपाठी

खण्डनखण्डखाद्यम् । श्रीहर्ष । आनन्दपूर्णमुनीन्द्र विरचित 'खण्डनफक्किका' संस्कृत एवं 'खण्डनपञ्जिका' हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—स्वामी योगीन्द्रा-नन्दसरस्वती

तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) । श्री चित्सुखाचार्यकृत । 'नयनप्रसादिनी' संस्कृत एवं स्वामी योगीन्द्रानन्दसरस्वतीकृत सटिप्पण भाषानुवाद सहित

तत्त्वमुक्ताकलापः । श्रीमद्वेदान्तदेशिक । 'सर्वार्थसिद्धि' संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार—आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी

नैषकर्म्यसिद्धिः । सुरेश्वराचार्य विरचित । म.म.श्री ज्ञानोत्तममिश्रकृत 'चन्द्रिका' संस्कृत व्याख्या एवं सी.ए. जेकबकृत नोट्स सहित

ब्रह्ममीमांसासूत्रम् । शाङ्करभाष्यानुकूल कौण्डिन्न्यायनवृत्ति तथा हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार—श्री शिवराजाचार्य कौण्डिन्न्यायन

ब्रह्मसूत्रम् । वाचस्पतिमिश्रकृत 'भामती', 'शाङ्करभाष्य' एवं स्वामी योगीन्द्रा-नन्दसरस्वतीकृत हिन्दी व्याख्या सहित । 1-2 भाग

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् । 'ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार—स्वामी हनुमानदास षट्‌शास्त्री

श्रीमद्भगवद्भक्तिरसायनम् । मधुसूदन सरस्वती विरचित । स्वोपज्ञ टीका, अनुवाद एवं विवृत्ति सहित । अनुवादक—पं. जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

शतदूषणी । श्रीमद्वेदान्तदेशिक । चण्डमारुतकृत संस्कृत व्याख्या एवं आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी व्याख्या सहित

संक्षेपशारीरकम् । सर्वज्ञात्ममुनि । स्वामी रामानन्दकृत 'भावदीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित। सम्पादक—स्वामी योगीन्द्रानन्द सरस्वती

सिद्धान्तलेशसंग्रहः । अप्पयदीक्षित । सम्पादक—जीवानन्द विद्यासागर

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

चौखम्बा इण्डोवेस्टर्न पब्लिशर्स
वाराणसी

mail : cvbhawan@yahoo.co.in

www.indowesternpublishers.com

ISBN : 978-93-85098-62-8 [PB]